ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

एम.ए. समाजशास्त्र पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.एस.-015

द्वितीय सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : 06

पाठ्यचर्या का शीर्षक : भारतीय समाज

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय) म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. शैलजा दुबे
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभु जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 – डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 2 - डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 3 - डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 4 – डॉ. प्रतिमा गोंड

खंड - 2
इकाई 1- डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 2- डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 3- डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 4- डॉ. प्रतिमा गोंड

खंड - 3
इकाई 1 – श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 2 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 3 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय

खंड - 4
इकाई 1- श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 2 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 3 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 4 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव, दू.शि. निदेशालय

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा ठाकरे
टंकण/फार्मेटिंग/इंडिटींग
दू.शि. निदेशालय

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट, दू.शि. निदेशालय

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर, दू.शि. निदेशालय

पाठ्यचर्या कोड : एमएएस- 06

पाठ्यचर्या का नाम : भारतीय समाज

क्रेडिट्स : 04 क्रेडिट

शिक्षण उद्देश्य :

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी –

- भारतीय समाज की ग्रामीण एवं शहरी सामाजिक संरचना से विद्यार्थी परिचित होंगे।
- भारतीय विवाह, परिवार एवं नातेदारी व्यवस्था से विद्यार्थी परिचित होंगे। इनके प्रकारों को भी विद्यार्थी समझ सकेंगे।
- भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं प्रकार्य को विद्यार्थी समझ सकेंगे।
- जाति एवं वर्ग की अवधारणा को विद्यार्थी समझ सकेंगे।
- भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों से विद्यार्थी परिचित होंगे।
- विभिन्न भारतीय सामाजिक संगठनों से विद्यार्थी परिचित होंगे। इन संगठनों के उद्देश्य एवं कार्यपद्धति को विद्यार्थी समझ सकेंगे एवं इनमें अंतर भी स्पष्ट कर सकेंगे।

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2. सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

भारतीय समाज

खण्ड (1) सामाजिक संरचना

इकाई : 1 वर्ण व्यवस्था

इकाई : 2 आश्रम व्यवस्था : विशेषताएं एवं प्रकार

इकाई : 3 ग्रामीण सामाजिक संरचना

इकाई : 4 नगरीय सामाजिक संरचना

खण्ड (2) परिवार, विवाह एवं नातेदारी

इकाई : 1 संयुक्त परिवार : परिभाषा, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान

इकाई : 2 हिंदू विवाह : अर्थ, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान

इकाई : 3 मुस्लिम विवाह : अर्थ, भेद एवं विवाह विच्छेद

इकाई : 4 नातेदारी : अवधारणा, व्यवस्था एवं आयाम

खण्ड (3) जाति एवं समुदाय

इकाई : 1 जाति : अवधारणा, विशेषताएं एवं सिद्धांत

इकाई : 2 जाति : निरंतरता एवं परिवर्तन

इकाई : 3 अनुसूचित जाति, पिछडी जाति एवं अल्पसंख्यक समूह

खण्ड (4) भारत में सामाजिक संगठन

इकाई : 1 हिंदू सामाजिक संगठन : आवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई : 2 मुस्लिम सामाजिक संगठन : आवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई : 3 सिक्ख एवं पारसी सामाजिक संगठन : आवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई : 4 बौद्ध एवं जैन सामाजिक संगठन : आवधारणा एवं विशेषताएं

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 – सामाजिक संरचना**	
	इकाई -1 वर्ण व्यवस्था	4-18
	इकाई -2 आश्रम व्यवस्था : विशेषताएं एवं प्रकार	19-32
	इकाई -3 ग्रामीण सामाजिक संरचना	33-48
	इकाई -4 नगरीय सामाजिक संरचना	49-63
2	**खंड - 2 - परिवार, विवाह एवं नातेदारी**	
	इकाई -1 संयुक्त परिवार : परिभाषा, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान	64-80
	इकाई -2 हिंदू विवाह : अर्थ, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान	81-101
	इकाई -3 मुस्लिम विवाह : अर्थ, भेद एवं विवाह विच्छेद	102-120
	इकाई -4 नातेदारी : अवधारणा, व्यवस्था एवं आयाम	121-134
3	**खंड - 3 – जाति एवं समुदाय**	
	इकाई -1 जाति : अवधारणा, विशेषताएं एवं सिद्धांत	135-148
	इकाई -2 जाति : निरंतरता एवं परिवर्तन	149-159
	इकाई -3 अनुसूचित जाति, पिछडी जाति एवं अल्पसंख्यक समूह	160-176
4	**खंड - 4 – भारत में सामाजिक संगठन**	
	इकाई -1 हिंदू सामाजिक संगठन : अवधारणा एवं विशेषताएं	177-198
	इकाई -2 मुस्लिम सामाजिक संगठन : अवधारणा एवं विशेषताएं	199-209
	इकाई -3 सिक्ख एवं पारसी सामाजिक संगठन : अवधारणा एवं विशेषताएं	210-223
	इकाई -4 बौद्ध एवं जैन सामाजिक संगठन : अवधारणा एवं विशेषताएं	224-233

खंड 01- सामाजिक संरचना

इकाई-1 वर्ण व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

1.1.1 उद्देश्य

1.1.2 प्रस्तावना

1.1.3 वर्ण व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा

1.1.4 वर्ण व्यवस्था की विशेषताएं

1.1.5 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति सिद्धांत

1.1.6 वर्ण व्यवस्था के आधार

1.1.7 वर्ण धर्म या वर्णों के कर्तव्य एवं प्रकार

1.1.8 वर्ण व्यवस्था: भूमिका एवं महत्व

1.1.9 वर्ण व्यवस्था के दोष

1.1.10 वर्ण व्यवस्था के स्थायित्व के कारण

1.1.11 वर्ण, वर्ग एवं जाति में भेद

1.1.12 बोध प्रश्न

1.1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी ग्रंथ

1.1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थीगण का निम्नांकित विषयों पर ज्ञानवर्धन होगा-

1 वर्ण व्यवस्था की संपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी।

2 विद्यार्थी वर्ण व्यवस्था के गुण व दोष को समझने में सक्षम हो पाएंगे।

3 वर्ण व्यवस्था को संरक्षित करने वाली प्रमुख विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त होगा।

4 वर्ण व्यवस्था किस प्रकार अस्तित्व में आया, इस विषय पर एक समझ विकसित होगी।

5 हिंदू सामाजिक व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था सदियों तक अस्तित्व में क्यों बनी रही, इसके विषय में भी जानकारी मिलेगी।

6 वर्ण व्यवस्था के महत्व एवं उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के विषय में ज्ञानवर्धन होगा।

7 विद्यार्थी इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात वर्ण, वर्ग एवं जाति के मध्य भेद को समझ पाएंगे।

8 निश्चित रूप से यह इकाई प्राचीन हिंदू सामाजिक व्यवस्था की संपूर्ण पहलुओं को समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

1.1.2 प्रस्तावना

व्यक्ति और समाज अतः संबंधित है यही कारण है कि प्राचीन काल से व्यक्ति व समाज के अंतर्संबंधों का प्रतिपादन करते आए हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने व्यक्ति और समाज के अस्तित्व की व्याख्या संघर्ष और योग्यतम की, जीत के संदर्भ में किया है। इन विद्वानों ने समाज में व्यक्ति के अस्तित्व के लिए संघर्ष को महत्वपूर्ण माना है जबकि भारतीय विद्वानों के विचार कुछ विभिन्न प्रकार के हैं। इन विद्वानों ने समस्त नीति को स्वीकार कर सामाजिक प्रगति व विकास के लिए व्यक्ति व समाज के अंतर संबंधों पर जोर दिया है। व्यक्ति व समाज के मध्य सामंजस्य स्थापना के उद्देश्य से भारतीय मनीषियों ने वर्ण व्यवस्था के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। विद्वानों ने सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन करके एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें समाज व्यक्ति दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण था इसके अलावा मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों को ध्यान में रखकर ही सामाजिक स्तरीकरण किए योजना बनाई गई जिसके अंतर्गत समाज को कार्यात्मक दृष्टि से चार भागों में बाटा गया। यह चार वर्ग ही चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के नाम से जाने जाते हैं।

भारतीय सामाजिक संगठन के मौलिक तत्व के रूप में वर्ण व्यवस्था का विशेष महत्व पाया जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियों अर्थात गुणों को ध्यान में रखकर ही समाज में उसका स्थान व कार्य निश्चित किए गए थे। यहां सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति व समाज दोनों को समान महत्व दिया गया है। यदि यह कहा जाए की वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक संगठन के हिंदू सिद्धांत की आधारशिला के रूप में कार्य करती है तो इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं होगी।

1.1.3 वर्ण व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा

कई लोग वर्ण और जाति को एक समान अर्थ में लेते हैं परंतु वास्तव में यह दोनों पृथक अवधारणाएं हैं। शाब्दिक की दृष्टि से एक शब्द के तीन संबंधित अर्थ हो सकते हैं –

(1) वरण या चुनाव करना

(2) रंग

(3) वृत्ति के अनुरूप

इसमें पहले अर्थ को लोग विशेष महत्व देते हैं। वर्ण शब्द की उत्पत्ति "वृ"(वृत्त- वर्णन) धातु से मानी गई है जिसका अर्थ है वर्णन या चुनाव करना। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने लिए जिस व्यवसाय का चुनाव करता है उसी के अनुसार उसको वर्ण का निर्धारण होता था। इसका तात्पर्य है कि वर्ण इन लोगों का समूह है जिनका व्यवसाय समान है। वर्ण शब्द का दूसरा अर्थ रंग से लगाया जाता है सबसे पहले ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग रंग अर्थात काले रंग की जनता के लिए किया गया था तथा प्रारम्भ में आर्य और दास इन दो वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। **घूरिए के अनुसार** आर्यों ने यहां के आदिवासियों को पराजित कर उन्हें दास दस्यु का नाम दिया और उनके तथा अपने बीच अंतर प्रकट करने के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंगभेद से है।" **पी.वी. काणे के अनुसार-** प्रारंभ में गौर वर्ण का उपयोग ब्राह्मणों के लिए एवं कृष्ण वर्ण दासों के लिए किया जाता था। बाद में वर्ण शब्द का उपयोग गुण

व कर्म के आधार पर बने हुए चार बड़े वर्गों के लिए किया जाने लगा। सेनार्ट ने भी इसी बात को माना है। वर्ण शब्द का तीसरा अर्थ वृत्ति से संबंधित है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों की मानसिक एवं व्यवहार संबंधी विशेषताएं एक समान हो अर्थात जिन व्यक्तियों का समभाव एक जैसा या समान हो उन्हीं से मिलकर एक वर्ण बनता है।

वर्ण के अर्थ के संदर्भ में माना जाता है कि जिन व्यक्तियों के गुण व कर्म समान हैं वह सभी एक वर्ण के हैं। भगवत गीता में श्री कृष्ण जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि पातुवर्ण मया सृष्ट गुण कर्म विभागश:" अर्थात मैंने ही गुण व कर्म के आधार पर चारों विभाग की रचना की है। उपयुक्त कथन से स्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति में गुण तथा कर्म पर आधारित है तथा जिसके अंतर्गत समाज का चारों वर्णों के रूप में कार्यात्मक विभाजन हुआ है। यहां गुण तथा कर्म का तात्पर्य व्यक्ति के स्वभाव एवं सामाजिक दायित्व से है। समाज में विभिन्न कार्यों को ठीक प्रकार से चलाने के उद्देश्य से व्यक्ति की स्वभाविक प्रवृतियों या उनके स्वभाव को ध्यान में रखते हुए उन्हें विभिन्न समूहों अर्थात चार वर्गों में बांटा गया था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने वर्ण धर्म का पालन करती है अर्थात अपने दायित्वों को निभाते हुए सामाजिक उन्नति में योग देते थे करते हुए अर्थात अपने दायित्वों को निभाते हुए सामाजिक उन्नति में योग देते थे।

वर्ण की परिभाषा:- विभिन्न विद्वानों द्वारा वर्णन की दी हुई परिभाषा इस प्रकार है-

सेनार्ट:- वर्ण शब्द का उपयोग आर्यों ने ऋग्वेद में आर्य तथा दांसों में भेद करने के लिए किया था।

(सेनार्ट, क्राफ्ट इन इंडिया, पेज 153)

हट्टन:- चार वर्णों के साथ चार रंग संबंधित है ब्राह्मणों के साथ श्वेत, क्षत्रियों के साथ रक्त वैश्यों के साथ पति तथा शूद्रों के साथ कृष्ण ।

(हट्टन, कास्ट इन इंडिया, पेज 64)

सत्यमित दुबे:- वर्ण का अर्थ है जो तृप्त हो जिसका वर्णन किया जाए अर्थात जो स्वभाव के अनुसार नकल वृत्ति के द्वारा व्यवस्थित हो। वर्ण का यह पक्ष अपनी रूचि और इच्छा के अनुकूल पेशों के चुनाव पर बल देता है। इसका अर्थ वर्ण के सामाजिक नियंत्रण के पक्ष से है जो दूसरों को धर्म से परित या नियंत्रित करें, जो स्वकर्तव्य के लिए वर्णित, प्रेरित अथवा प्राप्त पुरुषों द्वारा निर्देशित हो। तीसरे अर्थ के अनुसार इसके द्वारा लक्षण, अधिकार, कर्तव्य और वृद्धि का वर्णन किया जाए और अंतिम अर्थ रंग से संबंधित होता है।

(सत्यमित दुबे, मनु की सामाजिक व्यवस्था, 1964 पेज 44)

डॉ. घूरिए :- वर्ण का अर्थ रंग है और इस भाव में ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द आर्यों का दासों के क्रमशः गोरे और काले रंगों में भेद करने के लिए प्रयोग किया गया था। वर्ण शब्द में रंग की भावना इतनी दृढ़ थी कि कालांतर में चार वर्ण व्यवस्थित रूप में बने तो चारों वर्णों के लिए पृथक पृथक चार रंग निर्धारित कर दिए गए थे।

(जी. एस. घूरिए, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पेज 46)

1.1.4 - वर्ण व्यवस्था की विशेषताएं

(1) सामाजिक स्तरीकरण:- प्रत्येक समाज में स्तरीकरण की कोई न कोई व्यवस्था होती है जिसके आधार भी अलग-अलग होते हैं वर्ण व्यवस्था की परंपरागत भारतीय समाज में स्तरीकरण का एक प्रकार है। इसके दो प्रमुख आधार हैं-

(a) सैद्धांतिक: वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत कर्म पर आधारित है। भारतीय दर्शन इस सिद्धांत पर आधारित एवं प्रमाणित है कि-

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा,जो जस करहिं सो तस फल चाखा"

अर्थात इस कर्म प्रधान ब्रह्मांड की यही रीति है जो जैसे कार्य करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(b) व्यवहारिक:- वर्ण व्यवस्था का व्यवहारिक स्वरुप यह है कि इसका आधार जन्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समकालीन भारत में जन्म पर आधारित स्तरीकरण की प्रतिनिधि हैं तथा इसमें कर्म का कोई स्थान नहीं है।

(2) अधिकार एवं कर्तव्य का समन्वय:- वर्ण व्यवस्था समाज में व्यक्तियों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की निश्चित व्यवस्था करती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अधिकार एवं कर्तव्य उसके जीवंत उदाहरण है। प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित कार्य अपना तथा उन कार्यों के बदले में अधिकार प्रदान करना ही वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य है।

(3) आध्यात्मिक विकास:- भारतीय संस्कृति का आधार ही अध्यात्मवाद है। यही कारण है कि वर्ण व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है तथा स्वधर्म पालन को महत्व प्रदान किया गया है। मानव के आध्यात्मिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है व्यक्तित्व वाद को समूहवाद में समाहित कर देना। प्रत्येक व्यक्ति व धर्म का पालन करते हुए अपने कर्तव्यों की पुष्टि करता है। इससे उसे संतोष मिलता है। आत्मसंतोष की भावना का विकास ही आध्यात्मिक विकास का पहला चरण है।

(4) अनुलोम विवाह को महत्व:- वर्ण व्यवस्था के माध्यम से अनुलोम विवाह को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया था। इस व्यवस्था के द्वारा ऊंचे कुल का व्यक्ति निम्न कुल की कन्या से विवाह कर सकता था।

(5) वंशानुगत व्यवसाय:- यह समाज की वह व्यवस्था थी जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यता इच्छा और रूचि के अनुसार व्यवसायों का चुनाव करता था। अतः समाज में कोई संघर्ष की भावना नहीं मिलती थी।

(6) गुणात्मक प्रेरणा:- वर्ण व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यों को संपादित करने की प्रेरणा प्रदान करती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अच्छे कार्यों को करने की ओर प्रेरित होता है।

(7) समाज का संतुलित विकास:- इस व्यवस्था में व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार अपने व्यवसाय का चुनाव करता था जिससे वृत्ति संबंधी समाज में कोई असामंजस्य की स्थिति नहीं आती थी तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती थी जिसके कारण समाज का वांछनीय विकास होता था।

(8) सामाजिक नियंत्रण के रूप में:- इस व्यवस्था में सबके कर्तव्य निर्धारित होते थे जिनके कारण कोई भी असमंजस व संघर्ष की स्थिति नहीं आती थी। इसलिए कहा जा सकता है कि यह प्राचीन हिंदू सामाजिक व्यवस्था में नियंत्रण के रूप में कार्य करता था।

(9) कर्म आधारित व्यवसाय:- वर्ण व्यवस्था को कर्म व्यवस्था भी माना जा सकता है क्योंकि यह व्यवस्था व्यक्ति के कार्यों एवं उत्तरदायित्व को परिभाषित करने के साथ-साथ उसे पूर्ण करने की प्रेरणा भी देता है।

1.1.5 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत

विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति निम्न प्रकार हुई है इनसे संबंधित विचारों में अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है। एक ओर यह विचार वेदों की रिचाओं, उपनिषदों, गीता और पौराणिक गाथाओं के आधर पर स्पष्ट किए जाते हैं तो दूसरी ओर दर्शन के आधार पर। इसकी विवेचना आधुनिक विद्वानों द्वारा भी की गई है। कुछ विचारों के आधार पर वर्ण की उत्पत्ति को निम्नलिखित रुप से स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार अथवा परंपरागत सिद्धांत:- ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के द्वारा वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस सूक्त के अनुसार एक विराट स्वरूप है जिसके मुख से ब्रह्मा, बाहों से क्षत्रिय उदर अथवा जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई है। वैदिक युग में वर्णभेद के विषय में प्रसिद्ध विद्वान और वेद आलोचक डॉक्टर कीत के अनुसार मयूर जिमनर,वेवर जैसे विद्वान मानते हैं कि ऋग्वैदिक युग में किसी प्रकार का कोई जाति भेद नहीं था किंतु आधुनिक काल में जैल्यर-पूवर्ग का मानना है कि उस समय जाति-भेद था। एक दृष्टि से देखने पर सत्य ही ऋग्वेद में जाति भेद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से होने के कारण उनका कार्य बोलना अर्थात लोगों को शिक्षित करना था। क्षत्रियों की उत्पत्ति भुजाओं के कारण इनका कार्य शासन संचालन व वस्त्र धारण कर समाज की रक्षा था। जंघाओ से वैश्य की उत्पत्ति के कारण इनका कार्य व्यापार वह पशु पालन था तथा शूद्रों की उत्पत्ति पैरों के कारण इनका कार्य सब की सेवा करना तथा समाज के धार को वाहन करना था जिस प्रकार पैर शरीर के भार का वाहन करता है।

(2) उपनिषदों का सिद्धांत अथवा उपयोगितावादी सिद्धांत:- उत्तर वैदिक काल में लिखे गए उपनिषदों में वृहदारण्यक एवं छांदोग्य से वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में कुछ जानकारी मिलती है। वृहदारण्यक के अनुसार ब्रह्मा ने प्रारंभ में मात्र ब्राह्मणों को जन्म दिया। ब्राह्मण सभी कार्य पूर्ण नहीं कर सके अतः समाज कल्याण के लिए ब्रह्मा ने क्षत्रिय देवताओं (जैसे इंद्र, वरुण,सोम भारुत) की सृष्टि की जिससे क्षत्रिय उत्पन्न हुए। फिर भी सृष्टि का कार्य सही ढंग से नहीं हो सका जिसके कारण ब्रह्मा ने वैश्य देवता (बसु आदित्य रूद्र) की रचना की जिससे वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ। इसी उपयोगितावादी दृष्टि के तहत शुद्र देवता कुशान व शूद्रवर्ण की उत्पत्ति हुई जिससे दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। श्रम तो सामाजिक आवश्यकता या उपयोगिता के आधार पर अलग अलग समय पर अलग-अलग वर्ण की उत्पत्ति है और दूसरा विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का आधार उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएं थी। छांदोग्य उपनिषद में वर्ण तथा पुनर्जन्म के बीच घनिष्ठ संबंध बताया गया है। व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में जिस प्रकार का कार्य करता है था उसमें से वैसा ही गुण अर्थात स्वभावगत विशेषताएं आ जाती थी। इसी कर्म व गुण के आधार पर उसे एक अगले जन्म में एक विशेष प्रकार की सदस्यता प्राप्त होती थी।

(3) महाभारत के अनुसार अथवा रंग का सिद्धांत:- महाभारत में अनेक स्थानों पर वर्ण व्यवस्था का उल्लेख है। शांति पर्व में महर्षि भृगु ने अपने शिष्य भारद्वाज को उपदेश देते हुए कहा कि प्रारंभ में मात्र एक ही वर्ण ब्राह्मण था कालांतर में यह एक वर्ण चार वर्णों में विभाजित हो गया। सफेद (श्वेत) रंग ब्राह्मणों की, क्षत्रियों का लोहित(लाल), व्यक्तियों का वैश्यों का पीत (पीला) व शूद्रों का श्याम (काला) रंग(वर्ण) है। रंगों के आधार पर वर्णों के विभाजन की कठिनाई का समाधान करते हुए भृगु ऋषि कहते हैं कि रंग वास्तव में वर्ण विभाजन का आधार नहीं है बल्कि गुण व कर्म ही है। वास्तव में जो ब्राह्मण शांत व ज्ञानी थे। वह ब्राह्मण हुए जो क्रोधी व अभिमानी थे वह क्षत्रिय हुए। जो ब्राह्मण अपने धर्म के प्रति उदासीन होकर व्यापार व पशु पालन करने लगे वो वैश्य और जिनमें तामस, लोभ, असत्य, वह हिंसा गुण था वह शूद्र कहे जाने लगे। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण वर्ण श्वेत रंग पवित्रता का सूचक है। क्षत्रियों का लाल रंग क्रोध का वैश्य का पीला रंग रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण को स्पष्ट करता है जबकि शूद्रों का काला रंग तमोगुण यानी अपवित्रता का सूचक है।

(4) मनुस्मृति के अनुसार:- मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्ण का वर्णन है। जहां तक मनुस्मृतिकार का वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में विचार है कि यह महाभारत जैसा ही है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र क्रमशः ब्रह्मा के मुख बाहु जंघा और पैरों से उत्पन्न हुए हैं। मनुस्मृति की मौलिक विशेषता यह है कि इसमें कर्म की महत्ता को स्वीकार किया गया है।

1.1.6 वर्ण व्यवस्था के आधार

वर्ण व्यवस्था के आधार के संबंध में मूल प्रश्न यह है कि यह जन्म पर आधारित थी अथवा गुण व कर्म पर या फिर रंग या व्यवसाय पर। वर्ण व्यवस्था के आधार में संदर्भ में विभिन्न विद्वानों के मत निम्न है-

(1) **मनोवैज्ञानिक :-** वर्ण व्यवस्था का आधार मानव समाज में पाई जाने वाली चार प्रकार की मनोवृत्तियां है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार समाज अथवा वर्ग की प्रवृत्तियां नहीं वल्कि मानव की चार प्रवृत्तियां है। आत्मा के जीवन मात्र में जाने वाली चार दिशाएं हैं। आर्य संस्कृति के समाजशास्त्रियों ने सांख्य के मनोविज्ञान की तीन तत्वों सिद्धांत को लेकर समाज का विभाजन सात्विक, राजसिक, राजसिक - तामसिक और तामसिक इन चार वर्णों में किया था। इन्हीं चार प्रवृतियों को आधार मानकर समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में विभाजन किया गया था। मानव समाज की प्रवृतियों का उसकी स्वाभाविक दिशायों का यह वर्गीकरण निम्न है-

(अ) सात्विक प्रवृत्ति:- सात्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति जिसकी जीवन के प्रति आध्यात्मिक आस्था है, ब्राह्मण है।

(आ) सतोगुण और रजोगुण:- का सम्मिश्र क्षत्रिय प्रवृत्ति है। इसमें सतोगुण के साथ रजोगुण की भी प्रधानता है।

(इ) रजोगुण और तमोगुण:- मिलकर वैश्य प्रवृत्ति बनते हैं इसमें रजोगुण की अपेक्षा तमोगुण प्रधान है।

(ई) तामसिक प्रवृत्तियों:- तामसिक प्रवृति को शूद्र प्रवृत्ति कहा गया है।

(2) डॉ. के एम पणिक्कर के अनुसार- वर्ण सदस्यता का आधार कर्म था न की जन्म। वर्ण व्यवस्था का संबंध जन्म अथवा रक्त से नहीं है। इसका आधार मनुष्य का कार्य था। इसके अलावा वर्ण व्यवस्था प्रगतिशील है जबकि जाति व्यवस्था नहीं। वर्ण व्यवस्था के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्यों का संपादन नहीं करता था तो उसका वर्ण परिवर्तित हो जाता था। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था कर्म सिद्धांत के अधिक निकट है। प्राचीन ग्रंथों से यह प्रमाणित होता है कि ब्राम्हण धर्म कार्यों के संपादन और अध्ययन के अतिरिक्त औषधि शास्त्र, शस्त्र निर्माण और प्रशासन संबंधी कार्यों में भी लगे हुए थे। वैदिक साहित्य में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह कहा जा सके कि लोगों को जन्म के आधार पर व्यवसाय अनिवार्य था।

(3) डॉ.मोटवानी:- आधुनिक युग में भारतीय सामाजिक संगठन के मुख्य व्याख्याकर्ता डॉक्टर मोटवानी ने वर्ण व्यवस्था को समाजशास्त्रीय की परिभाषा में समूहों का समाजशास्त्र के रूप में परिभाषित किया है। इन के अनुसार" वैदिक ऋषि यों ने यह अनुभव कर लिया था कि सामान को बारंबार स्वयं आध्यात्मिक विप्लव से बचने का सबसे अच्छा और निश्चित तरीका यह था कि समाज की सभी सदस्यों को बिल्कुल स्पष्ट कार्य और सुविधाओं अथवा पुरस्कार के आधार पर अलग-अलग समूहों में विभाजित कर दिया जाए। इस विभाजन में निम्न चार वर्ण थे-

(1) पहला वर्ण ब्राह्मण समूहों का था यह गुरू व अध्यापक हुआ करते थे और इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई थी।

(2) दूसरा समूह क्षत्रियों का था। एक क्रियाशील व्यक्ति थे यह प्रजाति के रक्षक थे योद्धा व कानून निर्माता थे।

(3) तीसरा प्रमुख वैश्य का होता था। यह व्यवसायी हुआ करते थे और समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

(4) चौथा व अंतिम समुह शुद्रों का था। समाज में अन्य वर्णों की सेवा करना इनका मुख्य कार्य था।

(4) महात्मा गांधी के अनुसार:- वर्ण का अर्थ रंग व व्यवसाय दोनों से ही लिया गया है। वे वर्ण को वंशानुक्रम का नियम मानते हैं। उनका मत है कि एक व्यक्ति को अपने पिता से रंग एवं व्यवसाय दोनों ही वंशानुक्रम में प्राप्त होता है। अतः वर्ण का आधार जन्म है।

(5) बसंत कुमार चट्टोपाध्याय के अनुसार:- वर्ण का आधार जन्म है। यदि कर्म जीवन का आधार होता तो द्रोणाचार्य ब्राह्मण ना होकर क्षत्रिय होते क्योंकि वह कर्म से क्षत्रिय थे वह जन्म से ब्राह्मण थे।

(6) सत्यमित दुबे के अनुसार:- चारों वर्णों के निर्माण की पृष्ठभूमि तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी।

(अ) पठन पाठन धार्मिक तथा बौद्धिक पूर्ति

(आ) सामाजिक व्यवसाय का संचालन एवं उसकी रक्षा

(इ) आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति

(ई) अन्य वर्णों की सेवा

आधुनिक युग में समाजशास्त्र के सामने मौलिक प्रश्न यह है कि समाज के विभिन्न धरातल किस प्रकार बन जाते हैं। समाज में किस प्रकार उच्च और निम्न श्रेणियों का निर्माण होता है इसकी व्याख्या परेटो ने अपने उदविकास और अवशेषों में, बेबर ने धर्म और अर्थव्यवस्था में, डेविस ने मानव समाज तथा पारसन्स ने "सामाजिक क्रिया की संरचना" आदि सिद्धांतों में व्यक्त किया है।

यहां हमें यह बात भली-भांति समझ लेनी चाहिए कि वर्ण व्यवस्था कोई वर्ण व्यवस्था नहीं है पूर्णता मानव रचित व्यवस्था है। विभिन्न तत्वों के आधार पर यह कहना उचित होगा कि यह व्यवस्था ना तो पूर्ण तथा गुण व कर्म पर आधारित थी और ना ही पूर्ण तथा जन्म पर। प्रारंभ में इस व्यवस्था का आधार पुण्य कर्म था लेकिन धीरे-धीरे जन्म का महत्व बढ़ने लगा तथा समय के साथ-साथ अनुवांशिक होते गए।

1.1.7 वर्ण धर्म या वर्णों के कर्तव्य एवं प्रकार

भारतीय विद्वानों ने वर्ण धर्म या विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है भारतवर्ष में वर्ण धर्म या विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों को प्रमुख रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) सामान्य धर्म:- सामान्य धर्म चारों वर्णों के व्यक्तियों के लिए था इसके अंतर्गत निम्नांकित कर्तव्य बतलाए गए हैं- जैसे- प्राणियों को हानि न पहुंचाना, सत्य की निरंतर खोज करना, अधिकारपूर्वक दूसरे की वस्तु न लेना, चरित्र एवं जीवन की पवित्रता बनाए रखना, इंद्रियों पर नियंत्रण करना और आत्म संयम, क्षमा, ईमानदारी, दान इत्यादि सद्गुणों का पालन करना इत्यादि।

(2) विशेष धर्म:- सामान्य धर्म सभी वर्ण के लिए सामान्य रूप से होते हैं इन सामान्य धर्मों के अतिरिक्त अलग-अलग वर्ण के के लिए कुछ विशिष्ट धर्मों का निर्धारण किया गया है। इन्हें ही वर्ण धर्म या वर्ण कर्तव्य कहा जाता है।

वर्ण के प्रकार:- वर्ण के चार प्रकार है

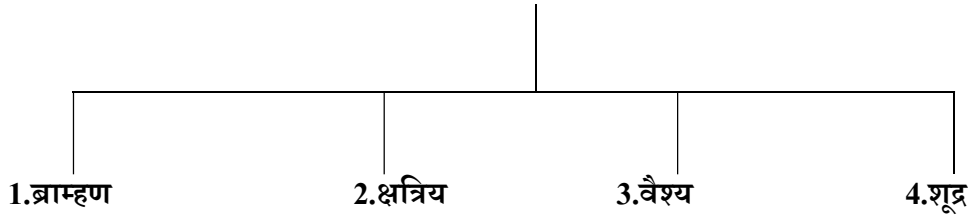

विभिन्न वर्ण के व्यक्तियों के लिए जिस धर्म का निर्धारण किया गया है उसका विवरण निम्नलिखित है-

(1) ब्राह्मण वर्ण या ब्राह्मण धर्म:- ब्राह्मणों का सबसे महत्वपूर्ण धर्म या कर्तव्य इंद्रियों पर संयम रखना था इसके अतिरिक्त जैसा की गीता की अंग्रांकित श्लोक से स्पष्ट होता है- अंतःकरण की शुद्धि, इंद्रियों का दमन, पवित्रता धर्म के लिए कष्ट सहना, क्षमावान होना, ज्ञान का संचय करना

तथा परम तत्व (सत्य) का अनुभव करना ब्राह्मण का परम कर्तव्य है अध्ययन मनुस्मृति के एक श्लोक के अनुसार-

"क्षमो दमस्तप: शौर्य शांतिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानभासितसयम ब्रम्हाकर्म स्वभावजम।। **गीता (18-42)"**

मनुस्मृति में ब्राह्मणों के धर्म संबंधी विवेचना में कुछ विरोधाभास भी पाया जाता है। एक स्थान पर ब्राह्मणों के धर्म में दान लेना वह देना भी है वहीं दूसरे स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मणों के लिए दान लेना वर्जित है क्योंकि इससे ब्राह्मणों के तेज का हास होता है। इसके अतिरिक्त शांत भाव, सरल मन, धर्म के प्रति निष्ठावान होना व पवित्रता का भाव रखना ब्राह्मण धर्म है। ब्राम्हण गुण के अंतर्गत ज्ञान, क्षमा, आस्तिकता, संयम, असंग्रही सदाचारी व न्यायप्रियता इत्यादि। मनु का यह भी कथन है कि यदि इन धर्मों में ब्राह्मण जीविका उपार्जित न कर सके तब आपदा धर्म के रूप में वह क्षत्रिय धर्म से भी जीविका अर्जित कर सकता है क्योंकि यही वर्ण उसके सबसे निकट है।

(2) क्षत्रिय धर्म या कर्तव्य:- मनुस्मृति के अनुसार क्षत्रियों का धर्म प्रजा की रक्षा करना, दान देना भीस्य विषय भोग से दूर रहना, अध्ययन करना तथा अपनी शक्ति का अच्छा उपयोग करना है। जिस्म का कथन है कि जो क्षत्रिय बिना घायल हुए ही अर्थात बिना युद्ध किए युद्धभूमि से लौट आता है उसकी क्षत्रिय धर्म के अनुसार प्रशंसा नहीं की जा सकती। क्षत्रिय अथवा राजा का धर्म प्रजा में भी अपने धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न करना तथा उसे सदकार्यों में लगाना है, गीता में क्षत्रियों के निम्न सात गुणों का उल्लेख मिलता है

"शौर्य तेजो धृतिदार्क्ष्यम युद्धे चाष्यपलायनम।,दानमीश्वरभावश्च क्षात्रम कर्म स्वभावजम।।"

गीता(18/43)

अर्थात शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और निस्वार्थ भाव से प्रजा की सेवा व रक्षा करना क्षत्रियों का प्रभावित धर्म है। इन सभी धर्मों में शूरवीरता सर्वप्रमुख है और इसी आधार पर प्रतीकात्मक रूप से क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से बताई गई है।

(3) वैश्यों के धर्म या कर्तव्य:- महाभारत में कहा गया है कि दान देना, अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा पवित्रता पूर्वक धन संग्रह करना वैश्य धर्म है। वैश्य उद्योग में रहकर पिता के समान ही पशुओं का पालन करें क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने पशुओं का भार वैश्यों को पशु ही सौपा है। मनुस्मृति में वैश्यों के सातकर्तव्य बताए गए है।

"पशुना रक्षणम दानभिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पय कुसिंद च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।" **गीता (1/90)**

अर्थात पशुओं की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना तथा कृषि करना वैश्य का प्रमुख धर्म है। गीता में कृष्ण गोपाल तथा व्यापार वैश्य धर्म बतलाया गया है।

(4) शूद्र धर्म व कर्तव्य:- मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का एक मात्र धर्म अपने से उच्च तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना है। शूद्रों को धन संग्रह या उच्च वर्ण का व्यवसाय नहीं करना चाहिए इनके लिए अध्ययन व अध्यापन यज्ञ करना व करवाना सब वर्जित था।

1.1.8 वर्ण व्यवस्था: भूमिका एवं महत्व

उपनिषदों महाभारत एवं इंद्रियों में वर्ण व्यवस्था का जो वर्णन है उसके अनुसार वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत समाज का मनोवैज्ञानिक आधार पर कार्यात्मक विभाजन किया गया था। इस व्यवस्था में सभी वर्णों के लोगों को अपने दायित्वों को निभाने की अपूर्व प्रेरणा प्रदान की है तथा यह विश्वास दिलाया कि जो वर्ण धर्म के अनुरूप कार्य करेगा उसे अगले जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त होगी। विभिन्न क्षेत्रों में इस व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व इस प्रकार है-

(1) कर्तव्य पालन की प्रेरणा:- इस व्यवस्था में वर्ण धर्म के पालन पर जोर देकर लोगों को अपने कर्तव्य पर आगे बढ़ते रहने को सदैव प्रेरित किया है। लोगों को एक दूसरे की कार्यों में हस्तक्षेप करने से रोका गया है और बताया गया है कि अपने वर्ण धर्म के अनुसार कार्य करते रहने पर व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है। यह एक अच्छी प्रेरणा थी जिसने प्राचीन समय में व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देने को प्रोत्साहित किया है।

(2) श्रम विभाजन व विशेषीकरण:- इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने पिता के परंपरागत पेसो को अपनाना होता है इसका कारण यह है कि प्रत्येक का एक निश्चित वर्ण धर्म है जिस के अनुरुप कार्य करना होता था। इस व्यवस्था में ना केवल सभी कार्यों को ठीक प्रकार से संपन्न होने की और बल्कि समाज को विशेषीकरण का पूरा लाभ दिलाने की ओर ध्यान भी दिया गया था। जन्म से बालक अपने परिवारिक पर्यावरण में अपने पिता के व्यवसाय को सीखने की ओर प्रवृत्त रहता है। इसके लिए उसे कहीं विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही प्रकार का कार्य करते रहने से समाज को विशेषीकरण का भी पूरा पूरा लाभ मिला है। यही कारण है कि ज्ञान विज्ञान कला और संस्कृति के क्षेत्र में प्राचीन से काफी आगे रहा है।

(3) लचीली व्यवस्था:- इस व्यवस्था ने नियंत्रित गतिशीलता के आधार पर सामाजिक प्रगति में योग दिया। इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्म के आधार पर एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की छूट दी गई है। व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी उच्च वर्ण का सदस्य बन सकता है। कई उदाहरणों से यह वक्त भी है।

(4) सामाजिक संघर्षों से मुक्ति:- इन व्यवस्था में सभी अपने वर्ण धर्म का पालन करते थे तथा प्रत्येक को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसी विशेष सामाजिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने की आवश्यकता नहीं रही। जहां प्रतियोगिता अधिक होती थी वहां इसकी अनियंत्रित हो जाने पर सामाजिक संघर्षों की संभावना भी बढ़ जाती है। वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक संरचना में प्रत्येक की सामाजिक स्थिति निर्धारित कर समाज को सामाजिक संघर्षों से बचने में अपूर्व योग दिया है।

(5) समानता की नीति पर आधारित:- इसके अंतर्गत विभिन्न वर्णों के कार्य अलग-अलग होते व्यवस्था में सभी वर्णों को स्थान महत्व था। प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व प्रदान किया गया था। यद्यपि इस व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न वर्णों में रूप में समाज का कार्यात्मक

विभाजन तो हुआ है परंतु सभी वर्णों को एक दूसरे के समान माना गया था मात्र चौथा वर्ण शूद्र वर्ण को छोड़कर।

(6) कर्तव्यों के प्रति जागरूकता:- वर्ण व्यवस्था के द्वारा जो व्यक्ति अपने कार्य का संपादन नहीं करते थे उनका वर्ण परिवर्तित हो जाता था। वर्ण व्यवस्था द्वारा व्यक्ति ने अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूकता पैदा करना है इसका उद्देश्य था।

(7) स्व धर्म का विकास:- डॉ मोटवानी वर्ण व्यवस्था के महत्व का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि अध्यापकों योद्धाओं व्यापारियों और सेवक मनुष्यों का यह चार वर्णों में विभाजन मनोविज्ञान नीतिशास्त्र प्राणी शास्त्र और अर्थशास्त्र पर आधारित है। वर्ण व्यवस्था को इस प्रकार से संयोजित किया गया था कि व्यक्ति मूल प्रवृतियों के अनुसार कार्यों का वर्णन करें तथा सामाजिक समायोजन हुआ जागरूकता के माध्यम से अपने धर्म कर्तव्यों का पालन करें।

(8) शक्ति का विकेंद्रीकरण:- जिसके द्वारा सामाजिक स्तरीकरण के पश्चात भी समाज में शक्ति संतुलन को बनाए रखा। यह निश्चित तथ्य है कि ज्ञान, प्रशासन व संपत्ति ऐसी तीन महत्वपूर्ण प्रक्रिया है कि एक ही व्यक्ति अथवा वर्ण के पास इनका साथ साथ वंचित होना अन्य वर्णों के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। वर्ण विभाजन व वर्ण धर्म के द्वारा इस संभावना को सदैव के लिए समाप्त कर दिया गया। इस रूप में वर्ण व्यवस्था शक्ति के विकेंद्रीकरण का एक सुंदर प्रयास कहा जा सकता है।

1.1.9 वर्ण व्यवस्था के दोष

भारतीय मनीषियों ने समाजिक संस्तरण की जिस व्यवस्था का निर्माण किया था उसे वर्ण व्यवस्था के नाम से जाना जाता है। वर्ण व्यवस्था अपने प्रकार की अनोखी व्यवस्था थी तथा इसका निर्माण सामाजिक संघर्षों को समाप्त करने और समाज के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर किया गया था। तत्कालीन भारतीय सामाजिक जीवन में भले ही वर्ण व्यवस्था अनेक लाभ रहे हो किंतु आज की बदलती हुई परिस्थितियों के संदर्भ में जब वर्ण व्यवस्था को जानने का प्रयास किया गया है तो यह पता चलता है कि इस व्यवस्था के अनेक दोष थे। यहां वर्ण व्यवस्था के उन्हीं दोषों की विवेचना की जाएगी जो निम्नलिखित है-

(1) जन्मगत विशेषताओं पर आधारित:- वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत जन्मदिन विशेषताओं पर आधारित है और इसे कोई व्यक्ति न्याय को नहीं कह सकता कि जन्म के आधार पर कुछ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अधिक मूर्ख, अज्ञानी, बुद्धिमान, अपवित्र,सुस्त,दुर्गुण हो सकते हैं। शास्त्रों में यह तर्क दिया गया है कि स्वभाव संबंधी विशेषताएं जन्मगत होती है और इसी लिए विभिन्न वर्णों के अधिकार व कर्तव्य एक दूसरे से भिन्न होना उचित है। लेकिन शस्त्रकारों ने जानबूझकर इस तथ्य की अवहेलना की है कि यह तर्क संपूर्ण तरीके से असत्य व वैज्ञानिक है।

(2) संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक:- वर्णसंकर शब्द इस व्यवस्था की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरा कारण यह है कि वर्णसंकर को अपवित्र तथा समाज बहिष्कृत व्यक्ति की संज्ञा दी गई है। वर्तमान समाजवादी और प्रजातांत्रिक समाज में यह अत्यंत ही अवैज्ञानिक है।

(3) मानवीय मूल्यों की उपेक्षा:- आज सभी विद्वान स्वीकार करते हैं की स्वतंत्रता, समानता, न्याय मातृत्व सभी आधुनिक समाज व्यवस्था के मानव मूल्य हैं परंतु वर्ण व्यवस्था में इन सभी मुद्दों की उपेक्षा की गई है फिर इस व्यवस्था को कल्याणकारी व लोकतांत्रिक कैसे कहा जा सकता है।

(4) एकाधिकार की सामाजिक नीति:- आरंभ में शक्ति संपन्न व्यक्तियों ने सबसे अधिक अधिकार स्वयं ही प्राप्त कर लिए और बाद में किसी भी दूसरे समूह पर उच्च स्थिति में जाने पर पूर्ण नियंत्रण लगा दिया। सामाजिक प्रगति में अत्यंत बाधक सिद्ध हुई।

(5) शोषण का अधिकार:- वर्ण व्यवस्था में समाज के एक बड़े वर्ग को शूद्र या अंत्यज कह कर इसका जो अमानवीय शोषण हुआ है यह न्याय के सभी सिद्धांतों का नृशंस हनन है। इसके पश्चात भी इस व्यवस्था को धर्म का अंग मानकर इसके आधार पर वर्ण धर्म का प्रतिपादन करना स्वयं हिंदू धर्म को भी कलुषित करना था।

इस प्रकार प्राप्त होता है कि वर्ण व्यवस्था को किसी प्रकार भी एक न्याय पूर्ण व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। यह केवल एक अन्याय पूर्ण नीति रही है। जिसे अलौकिकता, धर्म और सिद्धांत का जाया पहनकर प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया। वर्ण व्यवस्था के इन दोषों की गंभीरता को देखने के बाद तत्काल एक दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि वास्तव में यह व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण है तो यह इतनी दीर्घजीवी कैसे रह सकी? इसकी उत्तर को अनेक सामाजिक मनोवैज्ञानिक व राजनीतिक कारणों के आधार पर समझा जा सकता है-

1.1.10 वर्ण व्यवस्था के स्थायित्व के कारण

वर्ण व्यवस्था की स्थिरता का एक कारण यह था कि इसके अंतर्गत समाज के सर्वोच्च वर्ण ने केवल सामाजिक व धार्मिक अधिकारों पर ही एकाधिकार किया,राजनैतिक वह आर्थिक अधिकारों पर नहीं। यद्यपि यह सच है कि हमारा समाज धर्म प्रधान रहा है इसलिए सामाजिक व धार्मिक अधिकारों का ही महत्वपूर्ण था लेकिन राजनीतिक व्यक्ति और धार्मिक अधिकार कर्मचारियों तथा पक्षियों के पास रहने से आरंभ में यह व्यवस्था इन्हें अपने लिए उपयोगी प्रतीत हुई जिसके कारण उन्होंने इस व्यवस्था का विरोध नहीं किया। सुद्रों को तीनों वर्णों के सेवा का आदेश मिला। ऐसा नहीं था कि शूद्रों ने कभी इसका विरोध नहीं किया रहा होगा लेकिन उनके पास शिक्षा, धर्म, प्रशासन और संपत्ति के अधिकार न होने से उन्हें विरोध का कोई मूल्य नहीं था। इस प्रकार यह विभाजन लंबे समय तक अस्थाई बना रहा।

(2) इस व्यवस्था की स्थिरता का दूसरा प्रमुख कारण ईसा से 600 वर्ष पूर्व जैन तथा बौद्ध धर्म का विकास होना था। यह धर्म स्वयं वर्ण व्यवस्था के विरोध से उत्पन्न हुए थे लेकिन इन्हीं के कारण वर्ण व्यवस्था की इस पीड़िता को और अधिक प्रोत्साहन किया इसका कारण यह था कि इस समय तक वर्ण व्यवस्था को पूर्व तथा एक धार्मिक व्यवस्था के रुप में स्थापित किया जा चुका था। इस प्रकार व्यक्तियों को यह विश्वास दिलाया गया कि वर्ण व्यवस्था के किसी भी विरोध से हिंदू धर्म का पतन हो जाएगा।

(3) वर्ण व्यवस्था की स्थिरता का एक अन्य कारण उच्च वर्णों के हाथों में ही धर्म तथा शासन के अधिकार का होना था। एक धर्म प्रधान समाज में राजा सदैव धर्मवीर होता था। इस स्थिति के फलस्वरुप

राज्य की वास्तविक शक्ति ब्राह्मणों के हाथों में सुरक्षित रहें क्योंकि ब्राह्मण पुरोहित ही शासक वर्ग के सलाहकार रहे और उन्हीं ने व्यवहार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अतिरिक्त धर्म के राजा के अलौकिक अधिकारों की व्याख्या होने पर क्षत्रियों भी इस व्यवस्था को अपने हित में देखते रहे। इससे स्पष्ट है कि धर्म व राजनीति के बीच एक निंदनीय समझौता होने से भी वर्ण व्यवस्था की अन्यायपूर्ण नीति इतने लंबे समय तक प्रभावपूर्ण बनी रही।

(4) कर्मवाद, भाग्यवाद, पुनर्जन्म और मोक्ष के विश्वास ने इस व्यवस्था को सबसे अधिक स्थायित्व प्रदान किया। व्यक्ति का यह विश्वास था कि पूर्व जन्म के बुरे कार्यों के कारण उन्हें निम्न वर्ग की सदस्यता मिलती है तब वह इस व्यवस्था का विरोध करके यह अपने आगामी जीवन को क्यों बिगाड़ता। सामाजिक चेतना का अभाव वह व्यक्ति की भाग्यवादी प्रवृत्ति ने उसे निष्क्रिय बना दिया। मोक्ष भी धारणा व धार्मिकता के कारण वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध कोई प्रश्न नहीं उठा ।

इस प्रकार होता है कि वर्ण व्यवस्था को स्थिर बनाए रखने में किसी अलौकिक शक्ति का नहीं बल्कि सामाजिक धार्मिक की संयुक्त प्रभाव के कारण यह व्यवस्था स्थापित रही। सामाजिक उपयोगिता के आधार पर नहीं बल्कि असमर्थता चेतनाशून्य सामाजिक संगठन के आधार पर किया जाना चाहिए।

1.1.11 वर्ण,जाति एवं वर्ग में भेद

वर्ण और वर्ग- इसमें पाए जाने वाले अंतर निम्न है-

- वर्ण सामाजिक अवधारणा है,वर्ग आर्थिक अवधारणा है।
- वर्ण व्यवस्था व्यक्ति के गुण व कर्म को प्राथमिकता प्रदान की जाती है जबकि वर्ग व्यक्ति में आर्थिक आधार एवं संपत्ति पर आधारित होते हैं।
- व्यवसाय संबंधी स्वतंत्रता नहीं है जबकि वर्ग में स्वतंत्रता अधिक है।
- वर्ण व्यवस्था की सदस्यता गुण व कर्म पर आधारित होने के बावजूद भी एक बार पहुंचना बहुत कठिन था जबकि वर्ण की सदस्यता पूरी तरह अर्जित है तथा वर्ग बदलना वर्ण की अपेक्षा सरल प्रक्रिया है।
- वर्ण व्यवस्था में कर्तव्य निर्धारित होने के कारण सामाजिक संघर्ष की संभावना नहीं रहती है जबकि वर्ग व्यवस्था में विभेदीकरण की प्रक्रिया एवं सामाजिक संघर्ष की संभावना बढ़ जाती है।
- वर्ण व्यवस्था में सैद्धांतिक रूप से अनेक प्रतिबंध जबकि वर्ण व्यवस्था का सैद्धांतिक स्वरूप अत्यंत ही कल्याणकारी तथा उदार है।
- व्यवहारिक रूप से वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित रही है जबकि वर्ग व्यवस्था पूर्णता अर्जित है।
- वर्ण व्यवस्था, विवाह, भोजन आदि के निश्चित नियमों पर आधारित था इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में उपयुक्त नियम इतने कठोर नहीं हैं।

- वर्ण व्यवस्था प्राचीन सामाजिक व्यवस्था है जबकि वर्ग व्यवस्था आधुनिक।

वर्ण और जाति में अंतर

- जाति व्यवस्था का आधार जन्म है जबकि वर्ण व्यवस्था के सैद्धांतिक पक्ष में कर्म को अधिक महत्व प्रदान किया गया है भले ही इसका व्यवहारिक पहलू जन्म पर ही आधारित है
- जाति व्यवस्था में परंपरात्मकता को अधिक महत्व प्रदान किया गया है जबकि वर्ण में तुलनात्मक रूप से परंपरात्मकता का अभाव था क्योंकि यह कर्म प्रधान था।
- जाति व्यवस्था संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देती है जबकि वर्ण व्यवस्था प्रगतिशील विचारों की ओर इंगित करती है।
- जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था का कठोरतम रूप है तथा यह वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न माना जाता है। जबकि वर्ण व्यवस्था प्राचीनतम संरचना तथा जाति व्यवस्था की अपेक्षा अधिक लचीला था।
- जातीय में अनेकों जातियां होती हैं जबकि वर्ण व्यवस्था में मात्र चार भाग हैं।
- जाति प्रथा में सामाजिक व धार्मिक नियम जैसे सहवान, भोजन वैवाहिक संबंध अत्यंत कठोर है जबकि वर्ण व्यवस्थामें इन संबंधों की कठोरता तुलनात्मक रूप से कम है।

1.1.12 बोध प्रश्न

(1) हिंदू सामाजिक संगठन के मौलिक तत्व के रूप में वर्ण व्यवस्था की विवेचना कीजिए।

(2) वर्ण व्यवस्था को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

(3) वर्ण के भावार्थ के सिद्धांत को स्पष्ट करें एवं वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति पर संक्षिप्त निबंध लिखिए?

(4) विभिन्न वर्णों के धर्म या कर्तव्यों को व्याख्यायित करें?

(5) वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म है या कर्म? विवेचना करें एवं हिंदू सामाजिक संगठन में वर्ण व्यवस्था का महत्व लिखिए ?

(6) भारत में वर्ण व्यवस्था में स्थायित्व के कारणों की विवेचना कीजिए।

(7) वर्ण व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट करें।

1.1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी ग्रंथ

2. गुप्ता, मोतीलाल. (2001). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.

3. अग्रवाल, कृष्ण. गोपाल. (1995). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. आगरा: बुक स्टोर प्रकाशन.

4. सिंह, सुरेंद्र. एवं. सिंह, रीता. (2008). मौलिक समाजषास्त्रीय अवधारणाएं. वाराणसी: बालाजी प्रकाशन.

5. मुखर्जी, नाथ. रवींद्र. (2009). *भारतीय समाज व संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

6. बघेल, डी. एस. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. वाराणसी: विजय प्रकाशन मंदिर.

7. भट्ट, गौरीशंकर. (1979). *भारतीय सामाजिक विचार*. लखनऊ: एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी.

8. त्रिपाठ , रत्न. शंभू . (1970). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. कानपुर: किताब घर.

9. शर्मा, प्रकाश. वीरेंद्र . (2004). *समाजशास्त्र का परिचय*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.

10. शर्मा , प्रकाश. वीरेंद्र. (2009). *भारत में समाज*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.

इकाई- 2 आश्रम व्यवस्था: विशेषताएं एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

1.2.1 उद्देश्य
1.2.2 प्रस्तावना
1.2.3 आश्रम व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा
1.2.4 आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति
1.2.5 आश्रम व्यवस्था की विशेषताएं
1.2.6 आश्रमों का विभाजन
1.2.7 आश्रम व्यवस्था की समाजशास्त्रीय महत्व
1.2.8 आश्रम व्यवस्था: एक मूल्यांकन
1.2.9 निष्कर्ष
1.2.10 बोध प्रश्न
1.2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी ग्रंथ

1.2.1 उद्देश्य

इन इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी जान पाएंगे।

1. आश्रम व्यवस्था का अर्थ एवं महत्व।
2. हिंदू सामाजिक जीवन में आश्रमों की भूमिका के बारे में।
3. प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के बारे में आधुनिक भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था की उपयोगिता।
4. प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को संगठित करने में आश्रम व्यवस्था के कार्यों की विवेचना।
5. मानव जीवन को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध करने में आश्रम व्यवस्था के महत्व के बारे में।
6. आश्रम व्यवस्था त्याग एवं भोग का अनूठा विद्यार्थी सरलता से समझ पाएंगे।
7. गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों का आधार है विद्यार्थी इस कथन गोभी विवेचना भी सुगमतापूर्वक कर पाएंगे।

1.2.2 प्रस्तावना

हिंदू संस्कृति व सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता त्यागमय भोग है जिसमें इहलोक या भोगमय संसार की अपेक्षा परलोक की धारणा अधिक सशक्त है। हिंदू जीवन पद्धति में व्यक्ति को संसार के प्रति उदासीन रहने का आदेश नहीं है और ना ही सांसारिकता में इतना लीन हो जाए कि जीवन के अंतिम लक्ष्य "मोक्ष प्राप्ति" का ध्यान ही न रहे। इन दोनों दृष्टिकोणों को समन्वित करना ही भारतीय दर्शन का आधार स्तंभ है।

जब हम मानव समाज की बात करते हैं तो देखते हैं कि इसका संचालन मुख्य रूप से दो पद्धतियों के आधार पर होता है- **स्वार्थवाद (EGOISM) एवं पदार्थवाद (ALTRUSIM)**। स्वार्थवाद व्यक्ति विचारधारा एवं परार्थवाद संवाद की भावना से प्रेरित होता है। अपने तथा समाज के जीवन को उन्नत बनाने के लिए भारतीय संस्कृति में यह आवश्यक माना गया है कि इस संसार में रहते हुए मनुष्य त्याग में आगे की ओर प्रेरित हो धर्म के अनुसार कर्तव्यों का पालन करें और जीवन के अंतिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करें। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमारे यहां बस जीवन यापन की व्यवस्था है। अतः यहां व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभाजित किया गया है जिसे आश्रम व्यवस्था कहा गया है।

आश्रम व्यवस्था मुख्य रूप से एक नैतिक मानसिक व्यवस्था है जिसके अंतर्गत व्यक्ति को अपनी आयु के विभिन्न अवसरों में पृथक-पृथक दायित्व निर्वहन करना है। आयु में परिवर्तन आने के साथ-साथ दृष्टिकोण वीडियो में भी परिवर्तन होता है तथा सामाजिक व्यवस्था में उसे कुछ विशेष दायित्व पर जाएं। आश्रम व्यवस्था जीवन के विभिन्न अवसरों में व्यक्ति को भिन्न भिन्न उत्तरदायित्व सौंपती है जिससे व्यक्ति सामाजिक दायित्वों को पूरा करने के बाद भी धर्म को जीवन में सर्वोच्च स्थान दे सके। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संपूर्ण आश्रम व्यवस्था प्रशिक्षण की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा धीरे-धीरे व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिए तैयार किया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में आश्रम व्यवस्था के आवश्यकता एवं महत्व का संपूर्ण उल्लेख मिलेगा जिसे भारतीय संस्कृति की इस दृढ़ सैद्धांतिक आधार को समझा जा सके।

1.2.3 आश्रम व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा

डॉ. पी. एन. प्रभु के अनुसार" आश्रम शब्द मौलिक रुप से संस्कृति के श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ है उद्योग अथवा परिश्रम करना। इस उत्पत्ति के अनुसार आश्रम का अर्थ है –

(1) वह स्थान जहां पर परिश्रम प्रयत्न या उद्योग किया जाता है।

(2) इस प्रकार के परिश्रम या उद्योग के लिए की जाने वाली क्रिया, इस प्रकार आश्रम व्यवस्था एक "क्रिया स्थल" माना गया है। शाब्दिक रूप से आश्रम का अर्थ 'रुकने' अथवा "विश्राम करने के स्थान" पर है जहां रोककर व्यक्ति स्वयं को आगे की यात्रा के लिए तैयार करता है। इस प्रकार आश्रम स्वयं लक्ष्य नहीं बल्कि लक्ष्य प्राप्ति का साधन है। दूसरे शब्दों में आश्रम व्यवस्था का अर्थ उस व्यवस्था से है, जिसमें व्यक्ति अनेक कार्यात्मक अफसरों पर विश्राम करता हुआ अंतिम लक्ष्य "मोक्ष" की ओर बढ़ता है। हिंदू आश्रम व्यवस्था चार स्तरों में विभाजित है और प्रत्येक स्तर में व्यक्ति को भिन्न-भिन्न दायित्व निर्वाह का

आदेश किया गया है इसके उपरांत यह सभी अफसर एक दूसरे से संबद्ध रहकर लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होते हैं। आश्रम व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धांत की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। व्यक्ति के संपूर्ण दायित्व को इस सिद्धांत के माध्यम से प्राप्त है, किया गया है पुरुषार्थ चार हैं, क्रमश: धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। व्यक्ति इन चारों दायित्वों का निर्वाह तभी कर सकता है, जब वह अपना मानसिक शारीरिक नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास में विभिन्न आश्रमों में रहता हुआ व्यक्ति इसी गुणों का विकास करना है। **डॉ. के. एम. कपाड़िया (मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया, पेज 27)** ने लिखा है कि हिंदू आश्रम व्यवस्था में पुरुषार्थ सिद्धांत की वास्तविक अभिव्यक्ति की गई है। यह प्रणाली हिंदू जीवन की प्राथमिकता पर आधारित क्रमबद्ध एवं सुनियोजित तरीकों को व्यक्त करती है आश्रम व्यवस्था की कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

महाभारत में वेद व्यास ने लिखा है कि "जीवन के चार आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढ़ियां हैं जिन पर क्रम से चलते हुए व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति करता है"

(महाभारत, शांति वर्ष 241/15)

मनोरमा जौहरी:- आश्रम का तात्पर्य तपस्वियों की कुटिया (वह स्थान जहां तपस्वी तब का अभ्यास करते हैं) विद्यालय अथवा मानव जीवन की चार अवस्थाएं हैं।

(मनोरमा जौहरी, वर्ण व्यवस्था, पेज 87)

शिवपूजन सहाय:- व्यक्ति के दो पक्ष होते हैं एक वह जिसमें व्यक्ति समाज के संपर्क में सामाजिक प्राणी के रूप में रहता है या फिर वह जिसमें व्यक्ति केवल अपने तक ही सीमित होकर रहता है। दूसरा पक्ष जिसमें व्यक्ति स्वयं की दृष्टि से विकास करता हुआ आगे बढ़ता है आश्रम कहलाती है।

(शिवपूजन सहाय, हिंदू सामाजिक समस्याएं, पेज 73)

डॉ. के. एम. कपाडिया:- हिंदू दार्शनिक संसार की वास्तविकता और क्रियात्मक जीवन की अनिवार्यता अस्पष्टता स्वीकार करते हैं। आश्रम व्यवस्था इसी दर्पण की मौलिक उपलब्धि है।

(डॉक्टर कपाड़िया मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया)

डॉ. पी. एन. प्रभु के अनुसार:- उन्होंने आश्रम व्यवस्था की निम्न परिभाषाएं दी है -

(1). आश्रम संस्कृत शब्द क्रम से लिया गया है। इस उत्पत्ति के अनुसार आश्रम का अर्थ है- वह स्थान जहां प्राप्त या उपयोग किया जाता है तथा इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग की क्रिया।

(2). साहित्यिक दृष्टिकोण से आश्रम एक विराम अवस्था या पड़ाव है इस प्रकार आश्रम शब्द एक अवस्था की ओर संकेत करता है जहां व्यक्ति पवित्रता में विश्राम के लिए रुक जाता है तथा अगली यात्रा के लिए तैयारी करता है।

(डॉ. प्रभु, हिंदू कोपल ऑर्गनाइजेशन, पेज 83-84)

1.2.4 आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति

आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। **डॉ. अल्तेकर छांदोग्य उपनिषद 2/23,1** में स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आश्रम व्यवस्था वैदिक काल की संस्कृति प्रतिभा का ही एक अंग थी। यद्यपि वैदिक साहित्य में आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। तथापि इतना आवश्यक ज्ञात होता है कि उस समय का इस योजना पर विचार आरंभ हो चुका था जीवन को विभिन्न अवसरों में बांटने का प्रयास शुरू हो गया था हलाकि अर्थवेद में मुनि शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सभी तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था वैदिक नहीं उत्तर वैदिक कालीन व्यवस्था है।

आश्रम व्यवस्था के आरंभिक अवसर पर केवल 3 नामों का उल्लेख मिलता है। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम एक-दूसरे से मिले हुए थे जिन्हें कालांतर में पृथक किया गया है। डॉ. मोदी एवं ऑल इंडिया ओरिएंटल कॉन्फ्रेंस की विभिन्न निबंधों में दिए गए उदाहरणों से ज्ञात होता है कि छांदोग्य उपनिषद में जीवन के तीन क्रमों गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचर्य का वर्णन मिलता है इनमें ब्रह्मचर्याश्रम को जीवन का अंतिम अवसर माना गया है मनुस्मृति (मनुस्मृति,2/230) में भी आश्रम केवल तीन आश्रम मिलते हैं। यह सब प्रमाण प्राप्त करते हैं कि मनुस्मृति के समय तक आश्रम व्यवस्था एक सुसंगठित रूप में विकसित नहीं हो सकी थी परंतु मनुस्मृति काल के पश्चात 3 आश्रमों की संरचना अधिक व्यवहारिक और उपयोगी प्रतीत ना होने के कारण आश्रमों की संख्या 4 हो गई और इनमें भी ब्रह्मचर्य आश्रम को प्रथम माना गया। परंतु चारों आश्रमों का व्यवस्थित रूप सर्वप्रथम जाबिल उपनिषद (जाबिल को उपनिषद, पेज 587-88) में मिलता है। लेकिन यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसकी रचना कब हुई है। परंतु इतना अवश्य है कि आश्रम व्यवस्था का निर्माण उत्तर वैदिक काल में हो गया था यद्यपि एक सुसंगठित रूप में इसकी व्याख्या सर्वप्रथम स्मृति काल में हुई थी।

1.2.5 आश्रम व्यवस्था की विशेषताएं

1. आश्रम व्यवस्था मानव की सामाजिक नैतिक अवस्था (psycho moral) है।
2. आश्रम व्यवस्था में आध्यात्मिक पक्ष के सर्वोत्तम विकास की बात कही गई है।
3. आश्रम व्यवस्था व्यक्तिगत कल्याण को विश्व कल्याण में परिवर्तित कर देता है। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्तिगत कल्याण की बात है। आश्रम में परिवारिक कल्याण, वानप्रस्थ आश्रम में सामुदायिक कल्याण व सन्यास आश्रम में विश्व कल्याण का विधान है।
4. आश्रम व्यवस्था में त्याग एवं भोग का अद्भुत समन्वय है।
5. आश्रम व्यवस्था की सहायता से व्यक्तिगत दृष्टिकोणों एवं सामाजिक मूल्यों के मध्य सामंजस्य का प्रयोग किया गया है।
6. अन्य व्यवस्था स्वार्थ की भावना को पर्याय के अधीन करता है।
7. अन्य व्यवस्था में ज्ञान कर्म एवं भक्ति का समन्वय भी देखने को मिलता है।
8. आश्रम व्यवस्था में कर्म के सिद्धांत को महत्व प्रदान किया गया है।

9. आश्रम व्यवस्था आर्थिक क्रियाओं के संबंध में की भी एक संगठित व्यवस्था है।

1.2.6 आश्रमों का विभाजन

आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की आयु को फॉरवर्ड मानकर उसके संपूर्ण जीवन को पश्चिम 25 वर्ष के चार आश्रमों ब्रम्हचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ सन्यास आश्रम में बांटा गया है। इन चारों आश्रमों में कम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म अर्थ काम मोक्ष नाम चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। इन चारों उद्यमों का एक दूसरे के साथ इतना निकट का संबंध है कि एक आश्रम के कर्तव्यों को निभाएं बिना व्यक्ति दूसरे आश्रम में संबंधित दायित्वों को ठीक से पूरा नहीं कर सकता। प्रत्येक आश्रम में धर्म की मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है। इन चारों आश्रमों की विवेचना निम्नलिखित है

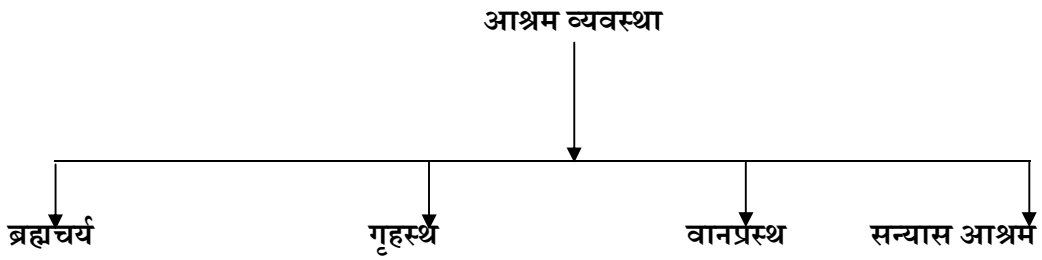

ब्रह्मचर्य आश्रम:- मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी मूलतः रुद्र के रूप में जन्म लेते हैं। उसके पश्चात संस्कार द्वीप उच्यते अर्थात धार्मिक संस्कारों द्वारा यह दिलीप बनाता है अर्थात जब ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कुछ संस्कारों को पूरा करते हैं तभी वह द्विज कहलाते हैं इन संस्कारों में उपनयन संस्कार सबसे महत्वपूर्ण है इस संस्कार के बाद बालक शिक्षा प्राप्त करने योग्य बन जाता है जिसका उपनयन संस्कार नहीं होता वह द्विज जाति के नहीं कहे जाते थे। इसके अलावा शूद्रों का कभी भी उपनयन संस्कार नहीं होता था इस संस्कार के संपादन विषय विभिन्न वर्णों में अलग-अलग बताया गया। यही कारण है कि इस आश्रम में प्रवेश की आयु ब्राह्मण बालक के लिए 8 वर्ष, क्षत्रिय के लिए 11 वर्ष, वैश्य के लिए 12 वर्ष बताई गई है।

ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'ब्रम्ह' व' चर'" ब्रम्ह" का तात्पर्य महान और चार्य का अर्थ है अनुकरण करना। इस प्रकार ब्रम्हचर्य का अर्थ है महानता के मार्ग पर। चलना अर्थात महान आत्माओं का अनुकरण करना। ब्रम्हचर्य का तात्पर्य स्वयं से भी है लेकिन यहां ब्रह्मचर्य को केवल एक पक्ष है। डॉ. म्रातदत्त द्विवेदी के अनुसार- ब्रम्हचर्य का तात्पर्य केवल इंद्री विग्रह से नहीं था अपितु इंद्रियनिग्रह पूर्वक वेदाध्ययन से था क्योंकि ब्रह्मा और वेद यह दोनों पर्यायवाची शब्द है। ब्रह्मचारी तब के माध्यम से अपनी साधना करता था तथा अपने अंदर अनेक गुणों का विकास करता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक को गुरुकुल में रहना पड़ता था और यही से वेदों का अध्ययन प्रारंभ होता था। परंतु उपनयन संस्कार के बाद बालक तुरंत अध्ययन प्रारंभ नहीं करता था गुरु उसे बहुत से कार्य जैसे ईंधन लाने पशुओं की देखभाल दान प्राप्त करना इत्यादि देता था। जब गुरु बालक के कार्यों से प्रसन्न

हो जाता और यह समझ लेता कि बालक में वास्तव में अध्ययन की इच्छा व जिज्ञासा है तभी उसे वेदों के अध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। वेदों के अध्ययन का सांस्कृतिक परंपराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने, ऋषि ऋण से छुटकारा प्राप्त करने और ऋषि यों के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त करने की दृष्टि से विशेष था। धर्म शास्त्रों में विद्यार्थी की दिनचर्या से संबंधित बहुत से नियम बताए गए हैं। उनका कर्तव्य था कि वह प्रातः सूर्योदय के पूर्व उठे दिन में केवल दो बार भोजन करें, शहद नमक मीठी बब्बू मान गंज जूता छतरी इत्यादि का प्रयोग न करें। नृत्य जुआ झूठ हिंसा इत्यादि वर्जित था। ब्रह्मचारी के लिए विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार किया गया है कि वह अपना शारीरिक मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके। इस आश्रम में वह अपने शारीरिक व मानसिक क्षमताओं का विकास करता है तथा अनेक विधाओं से स्वयं को परिपूर्ण तथा अपनी आस्था को पवित्र बनाता है।

ऐसा करने के लिए योगिक सयम, यथार्थ आचरण, सत्य प्रयोग एवं सत्य की खोज करता था तथा आध्यात्मिक विकास हेतु अनेक यम निकायों का पालन करना था।

ब्रह्मचर्य आश्रम के सभी दायित्वों को पूरा कर लेने के बाद ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था। सपना तक के बाद ब्रहमचारी एक विशेष संस्कार के द्वारा गुरु का आशीर्वाद लेकर अपने घर को जाता था। इस संस्कार को समावर्तन संस्कार कहा जाता है। यहीं से ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति मानी जाती थी।

ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्व

- बालक के शारीरिक मानसिक व आध्यात्मिक विकास में अत्यंत महत्व है।
- यह आश्रम समाज की ऐतिहासिक परंपराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करने में विशेष रूप से सहायक रहा है।
- यहां बालक अपने संपूर्ण कर्तव्यों से परिचित होता है।
- युवावस्था का संतुलित विकास करने में सहायक होता है

गृहस्थ आश्रम:- ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन कार्य पूर्ण करने के पश्चात विवाह संस्कार संपन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है जहां वह 26 से 50 वर्ष की आयु तक रहता है यह आश्रम कि वह महान कार्यक्रम स्थल है जहां व्यक्ति ब्रम्हचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षकों को मूर्त रूप देता है इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की ओर आगे बढ़ता है यहां मर्यादा में रहता हुआ व्यक्ति धर्म अर्थ काम नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करता है इस आश्रम में रहकर ही वह स्वयं परिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण करता हुआ अपने को आगे के आश्रम में योग्य बनाता है.

पंच महा यज्ञ में है ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नितयज्ञ एंव अति ब्रह्मयज्ञ, रामऋषियज्ञ ऋषियों के ऋण से मुक्त होने के लिए किया जाता था। गृहस्थ को वेदों का अध्ययन अध्यापन करना पड़ता था। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, देव की पूजा अर्चना व संतान की उत्पत्ति का पितृऋण से मुक्त होते थे। भूतयज्ञ में बुरे प्रकोप से बचने के लिए बलि दे दिया जाता था। नृयज्ञ से अतिथि सत्कार श्री गोखले ने गृहस्थ धर्म के संबंध में बताया है कि इस आश्रम के अंतर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव हत्या असंयम तथा असत्य से दूर रहें। पक्षपात, शत्रु, निर्बुद्धिता, तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यों का सेवन, कुशल,

अकर्मण्यता और चाटुकारों पर धन व्यय न करे। माता-पिता आचार्य और बड़ों का आदर करें पत्नी के प्रति उत्तम व्यवहार धर्म अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो इस प्रकार परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर तथा एक दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल धर्म का सार है। गृहस्थ के इन सभी दायित्वों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए भोग-विलास का काल ना होकर यज्ञ में जीवन कर्म एवं साधन का महान स्थल है।

गृहस्थ आश्रम के सारे दायित्वों को यज्ञ दान और तप के अंतर्गत सम्मिलित किया गया है एक गृहस्थ कर्तव्य है कि वह देवताओं ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति अपने दायित्वों को निभाएं तथा देवता, ब्राम्हण, गुरु व विद्वतजनों का पूजन करें। इसके अलावा गृहस्थ के लिए प्रतिदिन धर्म पूर्ति के लिए पंच महायज्ञ का विधान किया गया है इन सभी का उद्देश्य विभिन्न प्रकार की हिंसा से अपने आप को मुक्त करना इन लड़कियों के द्वारा गृहस्थ रिसीव माता पिता अतिथियों और विभिन्न प्राणियों के प्रति दायित्वों का निर्वाह करता था इन यज्ञों का लक्ष्य व्यक्ति में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना उसे वैदिक साहित्य की ओर लगाना समाज की संस्कृति एवं परंपराओं की रक्षा करना ऋषि-मुनियों, गुरुजनों, माता-पिता एवं अथितियों के प्रति दायित्व निर्वाह और उसे प्रेरित करना रहा है। पंचमहायज्ञ के माध्यम से गृहत्याग में जीवन व्यतीत करता करता हुआ अपने और समाज के जीवन को उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण योग देता रहा है देव ऋण वितरण ऋषि ऋण से छुटकारा प्राप्त करने के लिए भी विभिन्न विधियों का संपादन आवश्यक बताया गया है।

गृहस्थ आश्रम का महत्व सबसे अधिक है?

उपनिषदों महाभारत कथा समितियों में अस्पष्टता बताया गया है कि गृहस्थ आश्रम में जीवन व्यतीत किए बिना व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है इस आचरण की महत्ता इस दृष्टिकोण से विशेष है कि गृहस्थ जीवन के साथ उन्हें एक सामाजिक धार्मिक और नैतिक कर्तव्यों से जुड़े हुए हैं अन्य तीनों आश्रमों के लोग अपने भरण पोषण के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर हैं।

अर्थात सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों में ही सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों की तुलना में सबसे अधिक महत्व दिया जाने के कुछ विशेष कारण है जिनका यह संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

1- पुरुषार्थों की पूर्ति का स्थल- गृहस्थ आश्रम एक ऐसा स्थान है जहां अर्थ नामक पुरुषार्थ को उपार्जित किया जाता है और काम का उपयोग किया जाता है अन्य तीनों आश्रमों में हिंदू पुरुषार्थों की कोई व्यवस्था नहीं है यहां व्यक्ति धर्म के अनुसार विभिन्न दायित्वों को निभाते है धर्म नामक पुरुषार्थ को उपार्जित करना है इस आश्रम में इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करता हुआ व्यक्ति अपने को चौथे पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए तैयार करता है या संभोग और और त्याग दोनों के महत्व पर समान रूप से प्रकाश डालता है।

2- यज्ञ का संपादन- सभी प्रकार के ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञ की पूर्ति आवश्यक बताई गई है यह यज्ञ पांच माने गए हैं ब्रह्म यज्ञ देव यज्ञ पितृयज्ञ भूत यज्ञ तथा अतिथि यज्ञ यज्ञ इन पांचों महायज्ञ का निर्वाह गृहस्थ आश्रम में ही सुगमता पूर्वक किया जा सकता है इन यज्ञ का महत्व इसी दृष्टि से है कि इन के

माध्यम से गृहस्थ समाज के विभिन्न लोगों के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करता है हिंदू जीवन दर्शन के अनुसार व्यक्ति केवल अपने लिए ही नहीं जीता है वह समाज का एक घटक है समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है अतः समाज के प्रति उसका कुछ दायित्व भी है। इसी दायित्व को व विभिन्न वर्गों के संपादन द्वारा निभाता है।

3- समाज के सामान्य कल्याण में योगदान- आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का समाज के सामान्य कल्याण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व है एक गृहस्थ ही अन्य तीनों आश्रमों के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सामूहिक कल्याण में योग दे सका है।

गृहस्थ के सहयोग के बिना अन्य तीनों आश्रम के लोगों के लिए अपने कर्तव्य को निभाना किसी भी रुप में संभव नहीं था अतः गृहस्थ ही संपूर्ण समाज के हित में विशेष योगदान दे पाता था।

4- ऋणों से मुक्ति- गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति जीवन के निम्न 3 दिनों से मुक्ति पाने के लिए निम्न कार्यों को संपादित करता है।

ऋणों के नाम	**मुक्ति के उपाय**
देव ऋण	यज्ञ, हवन
ऋषि ऋण	अध्ययन, अध्यापन
पितृ ऋण	संतान, उत्पादन

5- आर्थिक क्रियाओं का संपादन- गृहस्थ आश्रम में रकर व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का संपादन करता है इन क्रियाओं का संपादन करके वह समाज के भरण पोषण की व्यवस्था करता है इसमें वह कृषि व्यवसाय तथा अन्य उत्पादन कार्यों को संपादित करके समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करता है।

6- अन्य आश्रमों का आधार- गृहस्थ आश्रम अन्य तीनों आश्रमों के लिए आधार प्रस्तुत करता है अगर गृहस्थ आश्रम ना हो तो व्यक्ति विवाह न करें और संतानों संतानोत्पत्ति न करें तो ब्रम्हचर्य आश्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती ज्ञान प्रश्न और सन्यास आश्रम का महत्व भी गृहस्थ आश्रम पर ही आधारित है इस आश्रम के उपयुक्त महत्व को ध्यान में रखकर ही यह कहा गया है कि गृहस्थ आश्रम में अधूरी है जिस पर संपूर्ण आश्रम व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है।

3- वानप्रस्थ आश्रम- शास्त्रकारों के अनुसार 50 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए मनुस्मृति के अनुसार जब गृहस्थ यह देखें कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल व झुर्रीदार हो गई है, बाल पक गए हैं, पुत्र को भी पुत्र हो गया है, सब विषयों से मुक्त होकर वन का आश्रय ले लिया हो। डॉ. काणे ने लिखा है कि 50 वर्ष की अवस्था हो जाने पर व्यक्ति संसार के सुख और वासनाओं से ऊब जाता है, तथा वन की राह पकड़ लेता है। जहां वह आत्मा निग्रह तपस्वी निअपराध जीवन व्यतीत करता है। शाब्दिक दृष्टि से वानप्रस्थ का अर्थ है "वन की ओर प्रस्थान करना" स्पष्ट है कि 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति अपने परिवार नाते रिश्तेदारों और समाज को छोड़कर जंगल में चला जाता है और मानव व प्राणी सेवा में अपना ध्यान लगाता है वानप्रस्थ के लिए यह

निर्देश है कि वह जंगल में कुटिया बनाकर रहे। वह जंगल में अकेला भी जा सकता है या पत्नी के साथ भी। जंगल में वह सेवा, त्याग व तपस्या में जीवन व्यतीत करता है। सांसारिक मोह माया से विरक्त होने का प्रयास करता है। वानप्रस्थी निष्काम भाव से कर्म करता है तथा विद्यार्थियों को नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ मित्र निर्माण एवं विकास में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

इस आश्रम का एक लक्ष्य व्यक्ति में सन्यास आश्रम के लिए तैयार करना भी है इस तथ्य को ध्यान देते हुए वानप्रस्थी के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। वह सांसारिक सुखों से अलग होकर भोजन के रूप में फल-फूल कंद-मूल का सेवन करता है। पेड़ों की छाल इस्तेमाल करता है। लुक भट्ट ने इंद्रिय संयम संसार से विरक्ति क्षमता का अभाव जीवो पर दया जीवन निर्वहन बिछा द्वारा इत्यादि वानप्रस्थी के मुख्य धर्म बताए हैं। यहां पर भी वह पंच महा यज्ञ को करना जारी रखता है।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्व :- निम्न कारणों से वानप्रस्थ महत्वपूर्ण है।

1- निशुल्क शिक्षा:- वानप्रस्थी सत्य की खोज और आध्यात्मिक ज्ञान के प्राप्त करने का निरंतर प्रयास करता है। वह सत्य की खोज करके ब्रह्मचारियों में इसका निशुल्क वितरण करता है। इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम के माध्यम से विद्यार्थियों को शिक्षा दीक्षा दी जाती थी जो बिना किसी मूल्य के वितरित किया जाता था।

2- शिक्षा का प्रचार प्रसार:- निशुल्क शिक्षा के माध्यम से वानप्रस्थी सब को शिक्षित करने व ज्ञान देने का प्रयास करते थे इस प्रकार समाज में बिना किसी विरोध व संस्कृत शिक्षा का प्रचार प्रसार होता था।

3- समाज सेवा:- वानप्रस्थ परिवार का सदस्य न रहकर समाज और राष्ट्र का वह हो जाता है वह समाज का विकास और उन्नति का निरंतर प्रयास करता है। इस प्रकार समाज कल्याण व समाज सेवा के कार्यों का संपादन स्वतः होता रहता है।

4- संघर्षों से मुक्ति:- आज समाज में जो संघर्ष है, वह पीढ़ियों का संघर्ष है नई व पुरानी विचारधारा के टकराव का संघर्ष है। यह टकराव इसलिए है कि युवा पीढ़ी को उचित समय पर परिवार के अधिकार नहीं मिल पाते हैं। वानप्रस्थ आश्रम युवकों को समय पर अधिकार प्रदान करके पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों से व्यक्ति और समाज को मुक्ति दिलाता है।

4- सन्यास आश्रम:- मनुस्मृति में बताया गया है कि आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत करने के बाद, आयु के चौथे भाग अर्थात 75 वर्ष की आयु के पश्चात वानप्रस्थी जब संसार को छोड़कर सन्यास आश्रम में प्रवेश करता था, वह सामाजिक व सांसारिक संबंधों से पूर्णतया विरक्त हो जाता है। तब वह पूर्णतया सन्यासी माना जाता था।

सन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर सन्यासी अपना पुराना नाम त्यागकर नया नाम ग्रहण करता है। उसके सगे-संबंधी वानप्रस्थ आश्रम से निकलने के बाद सन्यासी का प्रतीकात्मक दाह संस्कार कर देते थे। अब वह इस आश्रम में अपनी पत्नी को अपने साथ नहीं रख सकता था, और ना ही एक जगह पर निवास कर सकता था। उसे हमेशा भ्रमण करना होता है। वह कहां है इसकी जानकारी उसके परिवार को भी नहीं होती थी। अर्थात पूर्णतः सांसारिक संबंधों का पूरी तरह से त्याग। इस आश्रम में सन्यासी के लिए एक ही पुरुषार्थ प्राप्त करना शेष रहता है, वह है मोक्ष। इसकी प्राप्ति के लिए उसे सब कुछ त्यागना पड़ता है। वह

एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए लोगों को उपदेश देता है। सन्यासी को अपने पास कुछ भी रखने की अनुमति नहीं थी। जीवन मृत्यु की चिंता से परे उसे दिन में एक बार भिक्षा मांगकर भोजन की अनुमति थी।

वायु पुराण के अध्याय 8 में सन्यासी के 10 कर्तव्य बताए गए हैं-

1. भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना
2. चोरी न करना
3. वाह्य तथा आंतरिक पवित्रता बनाए रखना
4. प्रमादी न होना
5. ब्रम्हचर्य का पालन करना
6. दया भावना
7. क्षमावान होना
8. क्रोध न करना
9. गुरु सेवा
10. सत्य बोलना

अतः स्पष्ट है कि सन्यासी संसार में रहते हुए परलौकिक जीवन में प्रवेश करता है। आश्रम व्यवस्था के अनुसार सामान्य नियम तो यही है कि व्यक्ति ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ के दायित्वों को पूरा करने के पश्चात ही सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। लेकिन मनु, याज्ञवल्क्य और जांबली का मत है कि यदि व्यक्ति ने गृहस्थ आश्रम में ही अपनी इंद्रियों पर पूर्णतया नियंत्रण कर लिया हो तो वानप्रस्थ आश्रम के बिना वह सीधे सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है।

सन्यास आश्रम का महत्व:- सन्यास आश्रम के निम्नलिखित महत्व इस प्रकार हैं-

1- विश्व कल्याण:- यह आश्रम व्यक्ति को विश्व कल्याण का चिंतन करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इस अवस्था में व्यक्ति सब कुछ त्याग देता है। परमात्मा में लीन हो जाता है।

2- सामाजिक संतुलन:- सन्यासी सब कुछ त्याग देता है। वह अपने को इस प्रकार ढालता है, जिससे उसके जीवन में काम, क्रोध, मद और लोग को कोई स्थान न मिले। किसी प्रकार के संघर्ष की कोई गुंजाइश नहीं रहती। संघर्ष ना होने की स्थिति में संतुलन बना रहता है और सामाजिक व्यवस्था संगठित रहती है।

3- आश्रम में सन्यासी में परोपकार की भावना विकसित होती है।

4- धर्म पालन ही सन्यासी की मुख्य दिनचर्या होती है जिससे धर्मगत व्यवहार से सन्यासी खुद निर्देशित होता है वह दूसरों को भी निर्देशित करता है।

5- व्यक्ति का पूर्णरूपेण अर्थात शारीरिक व मानसिक विकास होता।

1.2.7 आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के समाजीकरण का प्रमुख आधार रहा है। इस व्यवस्था का आधार यह विश्वास है कि व्यक्ति के मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास के बिना समाज को संगठित नहीं किया जा सकता। इसका संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित रुप से किया जा सकता है -

1- जीवन के समुचित विकास की भावना:- आयु के बढ़ने के साथ-साथ शारीरिक शक्ति कार्यक्षमता अनुभव एवं मानसिक प्रवृतियों में परिवर्तन आता रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय विद्वानों ने जीवन को न केवल बाल्यावस्था, युवावस्था प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में विभाजित किया, बल्कि प्रत्येक अवस्था के लिए विशेष आश्रम की व्यवस्था भी की है ताकि व्यक्ति के जीवन का समुचित विकास हो सके।

2- मानवीय गुणों के विकास एवं मानवतावादी समाज की स्थापना में योगदान:- आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति में मानवीय गुणों के विकास में काफी योगदान दिया है। चारों आश्रमों में कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है - त्याग, परोपकार, सहनशीलता, सामाजिकता, सरलता, उदारता, अध्यात्मिकता और बंधुत्व जैसे गुणों का विकास हो सके। इन सब गुणों के विकास के परिणाम स्वरुप समाज में ऐसे व्यक्ति निर्मित हो पाए जिन्होंने एक मानवतावादी समाज की स्थापना में काफी योगदान दिया हो।

3- व्यक्ति व समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोर:- व्यक्ति व समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों का विकास संतुलित रुप से पारस्परिक निर्भरता को बनाए रखने पर ही निर्भर करता है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम में अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए यह भली-भांति वह केवल स्वयं वह अपने परिवार के लिए ही नहीं जीता। यहां वह स्पष्टत: जान लेता है कि समाज ने भी पग-पग पर उसके विकास में योगदान दिया है। अतः समाज के प्रति उचित रीति से अपने दायित्वों को निभाने का भाव उसमें जागृत होता है।

4- बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परंपराओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित पूर्ण योग:- इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति अपने जीवन के प्रारंभ से अंत तक किसी न किसी रूप में ज्ञान को अर्जित करता है तथा अपना बौद्धिक विकास भी करता है। गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी व्यक्तिगत संपर्क से बहुत कुछ सीखता रहा है। वेदों तथा अन्य धर्म ग्रंथों के अध्ययन से न केवल बालक का बौद्धिक नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता रहा है बल्कि ज्ञान का संग्रह और समाज के सांस्कृतिक परंपराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण भी हुआ है।

5- सामाजिक नियंत्रण के रूप में:- इसके अंतर्गत व्यक्ति के कर्तव्य एवं दायित्व इस प्रकार निश्चित किया गया था कि उसके व्यवहारों की मान्यता प्राप्त तरीकों के विभिन करने की साधारणता संभावना ही नहीं रहती। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति का चरित्र निर्माण ही कुछ इस प्रकार का होता था कि वह समाज विरोधी या अनुचित कार्य कर ही नहीं पाता था।

6- व्यक्तिवादीता के दोषों से समाज को मुक्त रखने एवं समाज कल्याण में योग:- व्यक्तिवादीता को प्रोत्साहित और समाज कल्याण की अवहेलना करके कोई भी समाज अधिक समय तक सुसंगठित व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः भारतीय विचारकों में आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया कि समाज व्यक्ति वादिता के दोष से मुक्त रहे। यहां मानव सेवा के अलावा अन्य प्राणियों के भरण-पोषण का दायित्व भी व्यक्ति पर रहता था।

7- व्यवहारिक एव उपयोगितावादी सिद्धांत:- आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यवहारिक एवं उपयोगितावादी पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहां व्यक्ति के कर्तव्यों को कुछ इस प्रकार से निर्धारित किया गया है कि संपूर्ण समाज का हित हो। धर्म के अंतर्गत भी कर्तव्य पथ पर विशेष जोर दिया गया है। गृहस्थ आश्रम में संपन्न किए जाने वाले पंचमहायज्ञ की सामाजिक दृष्टि से काफी उपयोगिता थी। व्यक्ति को परिश्रमी बनाने का प्रयास किया गया है। अर्थ को पुरुषार्थ मानकर धन कमाना व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है परंतु यहां धन को केवल स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन न मानकर समाज हित का साधन मानने की बात कही गई है। आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक कार्य करने एवं अपने त्याग की भावना विकसित करने का अवसर मिला है।

1.2.8 आश्रम व्यवस्था एक मूल्यांकन

आधुनिक भारत में आश्रम व्यवस्था किस स्तर तक व्यवहारिक है? किस स्तर तक सिद्धांतिक है? स्पष्टत: समझने के लिए इस व्यवस्था का मूल्यांकन करना होगा। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था ने एक लंबे समय तक हिंदू सामाजिक संगठन को प्रभावित किया है। र एक हिंदू के जीवन को व्यवस्थित बनाए रखने में योगदान दिया। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह है कि **इन आश्रमों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण आश्रम कौन सा है?** वैसे तो सभी आश्रमों का अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि एक आश्रम दूसरे के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है फिर भी हम यह कह सकते हैं कि अन्य तीनों आश्रमों की तुलना में गृहस्थ आश्रम अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य आश्रम का काल होता है, इसका संबंध शिक्षा प्राप्त करने से ही है। वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम में व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। गृहस्थ आश्रम में ही व्यक्ति तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ एवं काम की पूर्ति करता है। अन्य आश्रम इसी आधार के सहारे जीवन प्राप्त करते हैं। अतः गृहस्थ आश्रम ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि **आश्रम व्यवस्था में भारतीय समाज को किस सीमा तक प्रभावित किया?**

इन प्रश्नों के उत्तर विवादास्पद है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह सैद्धांतिक व्यवस्थाएं हैं, व्यवहार में इनका पालन नहीं होता। कुछ विद्वान इसके विपरीत मत प्रकट करते हैं। महाभारत में आश्रम व्यवस्था के अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। इस व्यवस्था में ऋषि, मुनियों, धार्मिक लोगों एवं कुछ राजाओं को बहुत प्रभावित किया है। बहुत से लोग घर छोड़कर सन्यासी नहीं बनते फिर भी आश्रम व्यवस्था में बताए गए कर्तव्य एवं दायित्व के प्रति सजग थे एवं उनका पालन करते थे। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह भी होता है कि **क्या आधुनिक भारत में इसका कोई व्यवहारिक महत्व है?** इसका उत्तर

नकारात्मक ही होगा आश्रम व्यवस्था उस युग की देन है जब पुरुषार्थ, कर्म, धर्म, पुनर्जन्म एवं वर्ण व्यवस्था का महत्व था और यह भारतीय समाज के आधार थे। वर्तमान में यह आधार कमजोर हुए हैं। अतः इनके साथ साथ आश्रमों की उपयोगिता भी समाप्त हुई है आश्रम व्यवस्था में व्यक्ति की आयु समान कर प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष में की गई है। किंतु अब औसत आयु 65 वर्ष हो गई है इस दृष्टि से तो व्यक्ति वानप्रस्थ सन्यास आश्रम के कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति जिस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता था वह आधुनिक औद्योगिक व वैज्ञानिक दृष्टि से अनुरूप अनुपयुक्त है। आज जो वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा दी जाती है और जो प्रयोग कराए जाते हैं यह प्राचीन गुरुकुल व्यवस्था में संभव ही नहीं था। इसके अतिरिक्त परंपरागत शिक्षा केवल ज्ञान के लिए थी। जबकि आज की शिक्षा का उद्देश्य रोजी-रोटी कमाना भी है। आज की बदली हुई परिस्थिति में भारतीयों के लिए आश्रमों का कोई व्यवहारिक महत्व नहीं रह गया है। इन्हें हम इस युग की मांग के अनुरूप भी नहीं कर सकते।

1.2.9 निष्कर्ष

आश्रम व्यवस्था के संपूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व का विकास करने तथा समाज को संगठित रखने में इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भारतीय संस्कृति के अधिष्ठाता महर्षि इस तथ्य के बारे में पूर्णतया जागरूक थे कि व्यक्तिगत जीवन को संगठित किए बिना समाज कल्याण में वृद्धि नहीं किया जा सकता। आश्रम व्यवस्था की इसी जागरूकता की सुंदर अभिव्यक्ति है। इस संबंध में एक ध्यान रखने योग्य बात यह है कि सभी आश्रमों का अंतिम लक्ष्य मूल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति है। इसे हम धार्मिक विश्वास मानकर इस लक्ष्य को अधिक महत्वपूर्ण ना माने तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सभी आश्रमों का उद्देश्य नैतिक जीवन शिक्षा द्वारा मानवीय मूल्यों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाना था। इस लक्ष्य से भी मोक्ष की वास्तविकता अपने आप स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि मौत का तात्पर्य सुख हुआ गिलास से युक्त किसी दूसरे लोग में पहुंच जाना नहीं बल्कि अपने गुणों की एक स्पष्ट छाप समाज पर छोड़ देना है।

1.2.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- आश्रम व्यवस्था को परिभाषित करें एवं इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें?

प्रश्न 2- हिंदू समाज में आश्रम व्यवस्था के सामाजिक महत्व को प्रकट करिए?

प्रश्न 3- आश्रम व्यवस्था कितने प्रकार के होते हैं? व्याख्या करें?

प्रश्न 4- आधुनिक जीवन के संदर्भ में आश्रम व्यवस्था केवल आदर्श मात्र रह गई है समालोचना कीजिए?

प्रश्न 5- भारतीय जीवन व्यवस्था में गृहस्थ आश्रम के समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कीजिए?

प्रश्न 6- गृहस्थ आश्रम अन्य सभी आश्रमों का आधार है इस कथन की व्याख्या कीजिए?

प्रश्न 7- आश्रम व्यवस्था के चारों आश्रमों के महत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए?

1.2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी ग्रंथ

1. गुप्ता, मोतीलाल. (2001). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
2. अग्रवाल, कृष्ण. गोपाल. (1995). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. आगरा: बुक स्टोर प्रकाशन.
3. सिंह, सुरेंद्र. एवं. सिंह, रीता. (2008). मौलिक समाजषास्त्रीय अवधारणाएं. वाराणसी: बालाजी प्रकाशन.
4. मुखर्जी, नाथ. रवींद्र. (2009). *भारतीय समाज व संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
5. बघेल, डी. एस. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. वाराणसी: विजय प्रकाशन मंदिर.
6. भट्ट, गौरीशंकर. (1979). *भारतीय सामाजिक विचार*. लखनऊ: एथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी.
7. त्रिपाठ , रत्न. शंभू . (1970). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. कानपुर: किताब घर.
8. शर्मा, प्रकाश. वीरेंद्र . (2004). *समाजशास्त्र का परिचय*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.
9. शर्मा , प्रकाश. वीरेंद्र. (2009). *भारत में समाज*. जयपुर: पंचशील प्रकाशन.

इकाई-3 : ग्रामीण सामाजिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

1.3.1 अध्ययन के उद्देश्य
1.3.2 प्रस्तावना
1.3.3 ग्रामीण सामाजिक संरचना: अर्थ एवं परिभाषा
1.3.4 ग्रामीण सामाजिक संरचना की विशेषताएं
1.3.5 भारतीय ग्रामीण समुदायों के वर्गीकरण
1.3.6 भारतीय गांव: एक इकाई के रूप में
1.3.7 ग्रामों का महत्व
1.3.8 परंपरागत भारतीय ग्रामीण समुदाय का पतन और नवीन परिवर्तन
1.3.9 ग्रामीण समाज: एक अवधारणा एवं जीवन विधि
1.3.10 बोध प्रश्न
1.3.11 संदर्भ ग्रंथ सूचीएवं उपयोगी पुस्तक

1.3.1 अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हमारे विद्यार्थियों को ग्रामीण सामाजिक संरचना के विषय में कई प्रकार की जानकारियां प्राप्त होगी :-

1. ग्रामीण सामाजिक संरचना का अर्थ एवं वहां की सामाजिक व्यवस्था के बारे में संपूर्ण जानकार प्राप्त होगी।
2. ग्रामीण सामाजिक संरचना के आधारों एवं विशेषताओं के बारे में जानकारी मिलेगी।
3. इस इकाई में ग्रामीण समाज के संपूर्ण प्रकारों को वर्गीकृत एवं उल्लेखित किया गया है। इस प्रकार की व्याख्या से ग्रामीण संरचनाओं के संबंध में जानकारी मिलेगी।
4. ग्रामीण सामाजिक संरचना जिस प्रकार विघटन के दौर से गुजर रहा है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थीगण उन कारकों के विषय में समझ पाएंगे।
5. ग्रामीण समुदाय में होने वाले नवीन परिवर्तनों के विषय में जानकारी मिलेगी।
6. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी ग्रामीण समाज के महत्व को समझ पाएंगे और इस संरचना को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी करेंगे।
7. ग्रामीण समाज किस प्रकार से एक सैद्धांतिक अवधारणा होते हुए भी एक जीवन विधि को संरक्षित करता है। यह तथ्य इस इकाई का महत्वपूर्ण बिंदु है।

8. ग्रामीण समाज किस प्रकार से संपूर्ण इकाई केरूप में कार्य करता है। इस अध्याय में इस विषय का भी उल्लेख किया गया है जो विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा।

1.3.2 प्रस्तावना (Introduction)

ग्रामीण सामाजिक संरचना को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है की सामाजिक संरचना को पहले समझ लिया जाए। सामाजिक संरचना की अवधारणा का प्रयोग हरबर्ट स्पेंसर, दुर्खीम, मैनहाइम जैसे समाजशास्त्री ने बहुतायत रूप में किया है। इसका प्रयोग सामाजिक व्यवस्था, प्रतिमान, संगठन, प्रारूप के पर्याय के रूप में हुआ है। समाज की रचना अनेक अंगो से मिलकर होती है,यह अंग व्यवस्थित और संयुक्त होकर एक ढांचे का निर्माण करती है जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना से समाज की बाहरी रूपरेखा का बोध होता है। इस रचना को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम शारीरिक संरचना से इसकी तुलना कर सकते हैं। जिस प्रकार शरीर का निर्माण अनेक अंगों की सुव्यवस्थित रचना से होता है उसी प्रकार समाज का निर्माण भी इकाइयों की व्यवस्थित रचना से होता है।सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए टालकाट पारसंस लिखते हैं की सामाजिक संरचना परस्पर संबंधित संस्थाओं, एजेंसियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में एक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं। **डी. एन. मजूमदार** सामाजिक संरचना के अंतर्गत बार-बार दोहराए जाने वाले सामाजिक संबंधों के स्थाई रूप को सम्मिलित करते हैं। वे इसे व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का एक प्रतिमान मानते हैं। **जॉनसन** का मत है कि किसी भी चीज की संरचना उसके अंगों में पाए जाने वाले अपेक्षाकृत स्थाई अंतः संबंधों से बनती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक संरचना समाज के सभी छोटे-बड़े अंगों का संयुक्त और व्यवस्थित रूप से जुड़ा होना होता है। हम सामाजिक संरचनाओं के आधार पर ही यह तय करते हैं कि संरचना ग्रामीण अथवा नगरीय है। गांव की सामाजिक संरचना का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया जिनमें एस सी दुबे, श्रीनिवास, मैक्किम मैरियट, मिल्टन सिंगर, राबर्ट रेडफील्ड, डी एन मजूमदार, बी आर चौहान आदि प्रमुख है। भारत में अनेक प्रकार के गांव देखे जा सकते हैं। यहां अनेक गांव ऐसे हैं जहां केवल एक ही जाति अथवा जनजाति निवास करती हैं तो अनेक गांव इस तरह के हैं जिसमें अनेक जातियां एवं जनजातियां साथ-साथ निवास करती हैं। जातियों एवं जनजातियों की विभिन्नता एवं उनकी उपस्थिति सामाजिक संरचना को प्रभावित करती है। जिस गांव में एक ही जाति अथवा जनजाति रहती है उस गांव की अपेक्षा विभिन्न जाति एवं जनजातियों के साथ साथ निवास करने वाले गांव की सामाजिक संरचना जटिल होती है। ऐसे गांव में अंतर्जातीय संबंधों की व्यवस्था एवं जजमानी प्रथा देखने को मिलती है। इसी प्रकार से गांव में जनसंख्या की कमी अथवा अधिकता, शहरों से दूरी, गांव की भौतिक बनावट आदि भी गांव की सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं। भारत में प्रादेशिक आधार पर भी ग्रामीण सामाजिक संरचना में भिन्नता पाई जाती है। उत्तर भारत के गांव मध्य एवं दक्षिण भारत के गांव से अनेक अर्थों में भिन्न है लेकिन फिर भी गांव की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएं हैं जो हर जगह पाई जाती हैं और उनके आधार पर ही हम ग्रामों की सामाजिक संरचना एवं उनके प्रमुख लक्षणों के बारे में जान सकते हैं।

भारतीय गांव की सामाजिक संरचना को समझने के लिए गांव के आंतरिक संबंधों, समूह, गांव को समुदाय के रूप में समझना होगा तथा ग्रामों की सामाजिक संरचना की का भी सम्पूर्ण अध्ययन करना होगा। प्रत्येक गांव को संपूर्ण भारतीय समुदाय के संदर्भ में भी देखा जाना चाहिए क्योंकि अपनी अनेक स्थानीय आवश्यकताओं जैसे धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि की पूर्ति ग्राम स्तर पर ही करता है वही वह अनेकों आवश्यकता की पूर्ति के लिए संपूर्ण भारत पर भी निर्भर करता है। डॉ. एस सी दुबे का विचार है कि भारतीय गांव का एक इतिहास होता है, मूल्यों और विचारों की व्यवस्था होती है। अतः गांव को अंतर ग्रामीण संरचना के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए।

1.3.3 ग्रामीण सामाजिक संरचना: अर्थ एवं परिभाषा (Rural Social Structure: Meaning and Definition):

विभिन्न विद्वानों ने इस शब्द के अनेक व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जहां आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोग रहते हो उस क्षेत्र को ग्रामीण कहा जाए। कुछ विद्वान मानते हैं कि ग्रामीण क्षेत्र वह है जहां कृषि को मुख्य व्यवसाय के रूप में अपनाया गया हो। कुछ विद्वान मानते हैं कि ग्रामीण शब्द का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध है। मानव को अपने जीवन-यापन के लिए ग्रामीण क्षेत्र में प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर होना होता है। वह प्रकृति से वस्तुओं का उत्पादन सीधे रुप में पहली बार करता है और उसे प्राथमिक संबंध भी बनाता है। पाल एच **लैंडिस** ने शब्द की व्याख्या के लिए तीन बातों का विशेष महत्व दिया है-

(1) प्रकृति पर प्रत्यक्ष निर्भरता

(2) छोटा आकार

(3) बरट्राण्ड ने ग्रामीणता के निर्धारण में दो आधारो- घनिष्ठ और प्राथमिक संबंध।

(4) कृषि द्वारा आए अथवा जीवन यापन

(5) कम घनत्व वाला जनसंख्या का क्षेत्र को प्रमुख माना है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा ग्रामीण क्षेत्र व अथवा समुदायों की परिभाषा निम्नांकित है-

मैरिज और एलरीज," ग्रामीण समुदाय के अंतर्गत संस्थाओं और ऐसे व्यक्तियों का संकलन होता है जो छोटे से केंद्र के चारों और संगठित होते हैं तथा सामान्य प्राकृतिक हितों में भाग लेते हैं।"

सिम्स,"समाजशास्त्रीय में ग्रामीण समुदाय को ऐसे बड़े क्षेत्रों में रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसमें समस्त अथवा उत्तर प्रमुख मानदेय हितों की पूर्ति होती है।"

सेंडरसन," एक ग्रामीण समुदाय में स्थानीय क्षेत्र के लोगों की सामाजिक अंतः क्रिया और उनकी संस्थाएं सम्मिलित हैं जिसमें वह खेतों के चारों ओर श्री झोपड़ियों तथा पूर्वा या ग्रामों में रहती है और जो उनकी सामान्य क्रियाओं का केंद्र है।"

फेयरचाइल्ड," ग्रामीण समुदाय पड़ोस की अपेक्षा विस्तृत क्षेत्र है आमने-सामने के संबंध पाए जाते हैं, जिसमें सामूहिक जीवन के लिए अधिकांशत: शैक्षणिक, धार्मिक, सामाजिक एवं अन्य सेवाओं की आवश्यकता होती है और जिसमें मूल अभिवृत्तिओं एवं व्यवहारों के प्रति सामान्य सहमति होती है।"

1.3.4 ग्रामीण सामाजिक संरचना की विशेषताएं (Characteristic of Rural Social Structure):

1. जीवन यापन प्रकृति पर निर्भर (Leaving is based on Nature) - ग्रामीण समाज के लोगों का जीवन कृषि, पशुपालन, शिकार, मछली मारने एवं भोजन संग्रह करने आदि पर निर्भर है। इन सभी कार्यों के लिए व्यक्ति को प्रकृति के प्रत्यक्ष और निकट संपर्क में रहना होता है।

2. समुदाय का छोटा आकार (Small size of the Community) - ग्रामीण समाजों का आकार छोटा होता है। प्रकृति पर प्रत्यक्ष निर्भरता समुदाय के आकार को छोटा बनाती है क्योंकि कार्य अथवा पशु चारण में जीवन यापन के लिए प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा अधिक चाहिए अन्यथा सभी लोगों का जीवन निर्वाह संभव नहीं हो पाएगा।

3. कम जनसंख्या (Less Population) - गांव में प्रति वर्ग मील जनसंख्या का अनुपात शहरों की अपेक्षा बहुत कम होता है।ग्रामीण लोग जीवन यापन के विभिन्न स्रोतों के इर्द-गिर्द बिखरे रहते हैं। जनसंख्या के कम घनत्व के कारण ग्रामीण क्षेत्र घनी बस्ती की समस्याएं जैसे- स्वास्थ्य पूर्ण वातावरण का अभाव,गंदगी, बीमारी,मकानों की कमी आदि से बचे रहते हैं।

4. प्रकृति का घनिष्ठ संबंध (Close contact with Nature) - ग्रामीण समाज का प्रकृति से घनिष्ठ संबंध होता है। ग्रामवासी प्रकृति की गोद में ही है जन्म लेते हैं और मरते हैं। ग्रामीण लोग शुद्ध हवा, पानी, रोशनी, गर्मी आदि का अनुभव करते हैं। खुला एवं स्वच्छ वातावरण,शीतल सुगंधित हवा,पेड़ पौधें, लताएँ और पशु-पक्षियों आदि से ग्रामीणों का प्रत्यक्ष संपर्क होता है।वे सभी ऋतु एवं प्राकृतिक दृश्यों का आनंद लेते हैं। इस प्रकार की सुविधा नगर में नगरवासियों को मिलना असंभव है।

5. प्राथमिक संबंधों की प्रधानता (Importance of Primary Relationship) - ग्रामीण समाज का आकार छोटा होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को प्रत्यक्ष एवं व्यक्तिगत रूप से जानता है। उनके निकट के प्रत्यक्ष और घनिष्ट संबंध होते हैं। ऐसे संबंधों का आधार परिवार, पड़ोस और नातेदारी होता है। गांव में औपचारिक संबंधों का अभाव होता है।व्यक्ति बनावटी पन से दूर रहता हैं तथा उनमें पारस्परिक सहयोग एवं प्राथमिक नियंत्रण भी पाया जाता है।

6. समरूपता अथवा सजातीयता (Homogeneity) - ग्रामीण समुदाय के लोगों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में एकरूपता देखने को मिलती है।उनके व्यवसाय, भाषा, धर्म, रिती-रिवाज, आदर्श, संस्थाएं, आचार-विचार एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोण सामान्यतः सामान्य होता है। उनके जीवन में नगरीय लोगों की तरह अनेक विभेद और विषमताएं नहीं पाई जाती हैं।

7. सादा एवं सरल जीवन (Simple Living) - ग्रामीण लोगों का जीवन सादा एवं सरल होता है। वे नगर की तड़क भड़क, चमक दमक, आडंबर और बनावटी जीवन से दूर होते हैं। उनके पास ना तो साज-सामान और श्रृंगार की सामग्री होती है और न ही वे कृत्रिमता को पसंद करते हैं। साधारण और पौष्टिक भोजन, शुद्ध हवा, विनम्र और प्रेमपूर्ण व्यवहार ग्रामीण लोगों की पसंद है। प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भरता उन्हें सरल, छल रहित और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने को प्रेरित करती है।

8. सामाजिक गतिशीलता का अभाव (Lack of Social Mobility) - ग्रामीण समाज अपेक्षाकृत स्थिर समाज होते हैं। ग्रामीण सामाजिक संरचना इतनी कठोर और पानी अनमनीय होती है कि उसे बदलना बड़ा कठिन होता है। इनमें सापेक्ष रूप से गतिशीलता का अभाव होता है। यहां जाति व्यवस्था ही संस्करण का मुख्य आधार होती है। जाति की अवहेलना करने का अर्थ है सामाजिक जीवन से पृथक हो जाना।जातिगत व्यवसाय होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतः अपने ही परंपरागत व्यवसाय में लगा रहता है। उसे त्यागकर अन्य व्यवसाय की तरफ बढ़ने का उनमें आकर्षण नहीं होता है। इसलिए ग्रामीण समाज में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।

9. धर्म, प्रथा और रूढ़ियों का महत्व (Imoportance of Religion, Customs and Mores) - धर्म, प्रथा और रूढ़िया ग्रामीणों के जीवन को नियंत्रित करती हैं।धर्म ग्रामवासियों के जीवन का केंद्र हैं। उनके दैनिक और वार्षिक जीवन की अनेक क्रियाएं धर्म से ही प्रारंभ होती है और धार्मिक विश्वासों एवं क्रियाओं के साथ समाप्त होती हैं। उनका जीवन मान्यताओं एवं रूढ़ियों से बंधा है। वे उन्हें तोड़ने या इनके स्थान पर नवीन कानूनों की स्थापना की बात नहीं सोचते हैं। ग्रामीण समाज में हर व्यक्ति इनका पालन करता है चाहे उसे इनके पालन में हानि ही क्यों ना उठानी पड़े। बाल विवाह, मृत्यु भोज, विधवा पुनर्विवाह का अभाव, छुआ-छूत,द हेज आदि कुप्रथाएं हानिकारक होते हुए भी अभी तक इनमें प्रचलित हैं।

10. संयुक्त परिवार (Joint Family) - भारतीय गांव की सर्वप्रमुख विशेषता है संयुक्त परिवारों की प्रधानता। यहां पति-पत्नी व बच्चों परिवार की तुलना में ऐसे परिवार अधिक पाए जाते हैं जिनमें तीन या आधिक पीढ़ियों के सदस्य एक स्थान पर रहते हैं। इनका भोजन,सम्पत्ति और पूजा-पाठ साथ साथ होता है। ऐसे परिवारों का संचालन वयोवृद्ध व्यक्ति द्वारा होता है तथा वही परिवार के आंतरिक व वाह्य कार्यों के लिए निर्णय लेता है। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।उसका आदर और सम्मान करते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली भारत में अति प्राचीन है।

11. सामुदायिक भावना (Community Feeling) - ग्राम नगर की अपेक्षा छोटा होता है। ग्राम के लोगों में अपने गांव के प्रति लगाव और सभी में हम की भावना पाई जाती हैं। नगरीय लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता होती है तो ग्रामीण लोग सामूहिक हित के बारे में सोचते हैं। बाढ़, अकाल, महामारी और अन्य संकट कालीन अवसरों पर गांव के सभी लोग सामूहिक रूप से इन संकटों का मुकाबला करते हैं। वे ऐसे अवसरों पर देवताओं के अर्चना, यज्ञ, अनुष्ठान और पूजा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अभिमान रहता है कि वह अपने गांव का सदस्य है और अपने गांव के प्रतिष्ठा के लिए वह स्वयं को उत्तरदाई समझता है।

11. कृषि मुख्य व्यवसाय (Agriculture as the main Occupation) - भारतीय ग्रामों में निवास करने वाले लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है। 70 से 75% लोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कृषि द्वारा ही अपना जीवन यापन करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि गांव में अन्य व्यवसाय नहीं होता है। गांव में कुछ अन्य प्रकार के व्यवसायों जैसे रस्सी बनाना, चटाई बनाना, मत्स्य पालन, मिट्टी

एवं धातु के बर्तन बनाना, गुड बनाना इत्यादि व्यवसायों का प्रचलन गांव में है।शिल्पकारी जातियां अपने अपने व्यवसाय करती हैं तो सेवाकारी जातियां कृषकों तथा अन्य जातियों की सेवा करती हैं।

12. जाति प्रथा (Caste System) - जाति प्रथा भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है। जाति के आधार पर ही गांव में सामाजिक संस्तरण पाया जाता है। जाति एक संस्था और समिति दोनों है। जाति की सदस्यता जन्म से निर्धारित होती है। प्रत्येक जाति की एक का एक परंपरागत व्यवसाय होता है, जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं, इनकी एक पंचायत होती है जो अपने सदस्यों के जीवन को नियंत्रित करती है, जाति अपने सदस्यों के लिए खानपान एवं सामाजिक सेवा के नियम भी बनाती हैजाति के नियमों का उल्लंघन करने पर सदस्यों को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है इनके अलावा उन पर दंड एवं जुर्माना भी लगाया जाता है

13. जजमानी प्रथा (Jajmani System) - जाति प्रथा की एक विशेषता यह है कि एक जाति निश्चित परंपरागत व्यवसाय करती है। इस प्रकार जाति प्रथा ग्रामीण समाज में श्रम विभाजन का एक अच्छा उदाहरण पेश करती है। सभी जातियां परस्पर एक दूसरे की सेवा करती हैं, ब्राह्मण विवाह उत्सव एवं त्यौहार के समय दूसरी जातियों के यहाँ अनुष्ठान करते-करवाते हैं, तो नाई बाल काटने, धोबी कपड़े धोने, जुलाहा कपड़े बनाने, ढोली ढोल बजाने का कार्य करते हैं। जजमानी प्रथा के अंतर्गत एक जाति दूसरी जाति की सेवा करती है बदले में सेवा प्राप्त करने वाली जाति भी उसकी सेवा करती है अथवा वस्तुओं के रूप में उसका भुगतान करती है एक किसान परिवार में होने पर नाई, धोबी, ढोली, सुनार, ब्राह्मण सभी अपनी-अपनी सेवाएं प्रदान करते हैं बदले में उन्हें कुछ नगद वस्तु और फसल के समय में अनाज आदि दिया जाता है।भारतीय जजमानी प्रथा का अध्ययन करने वालों में ऑस्कर लेविस प्रमुख हैं।

14. ग्राम पंचायत (Village Panchayat) - प्रत्येक गांव में एक गांव पंचायत होती हैं। इसका मुखिया गांव का मुखिया होता है। ग्राम पंचायत प्राचीन काल से में विद्यमान रही हैं। ग्राम पंचायत का मुख्य कार्य गांव की भूमि का परिवारों में वितरण, सफाई कार्य, विकास कार्य और ग्रामीण विवादों को निपटाना है। ब्रिटिश शासन से ग्राम समुदाय राजनैतिक दृष्टि से आंतरिक मामलों में पूर्णता स्वतंत्र थे। चार्ल्स मेटकॉफ ने इन्हें छोटे छोटे गणराज्य कहा है। यद्यपि गांव को केंद्रीय शासक को कर देना होता था किंतु वह गांव के आंतरिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। आंतरिक कार्यों को निपटाने का भार ग्राम पंचायतों पर ही था।

15. भाग्यवादिता (Fatalism) - भारतीय गांव के निवासियों में शिक्षा का अभाव है। वे अंधविश्वासी और भाग्यवादी होते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि व्यक्ति चाहे कितना भी प्रयत्न करें किंतु उसे उतना ही प्राप्त होगा जो उसके भाग्य में लिखा है। उनके इस विश्वास को हम तुलसीदास जी की पंक्ति द्वारा समझ सकते हैं कि -

"होई सोई जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि साखा" अर्थात वही होगा जो ईश्वर ने निर्धारित कर रखा है। भाग्यवादी होने के कारण ग्रामीण लोग सभी प्रकार के कष्टों, अत्याचारों एवं शोषण को अब तक बर्दाश्त करते रहे हैं और कभी भी परिवर्तन और क्रांति की ओर अग्रसरित नहीं हुए हैं।

16. जनमत का अधिक महत्व होना (Greater importance of Public Opinion) - ग्रामवासी जनमत का सम्मान करते हैं और उससे डरते हैं। जनमत की शक्ति को चुनौती नहीं देते हैं वरन उसके सम्मुख झुक जाते हैं। पंच लोग जो कुछ कह देते हैं उसे वे शिरोधारा मानते हैं। पंच के मुख से निकला वाक्य ईश्वर के मुख से निकला होता है। जनमत की अवहेलना करने वाले की निंदा की जाती है तथा ऐसे व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा गिर जाती हैं। कोई भी ग्रामीण इस प्रकार की स्थिति को पसंद नहीं करता इसलिए उनपर जनमत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

17. स्त्रियों की निम्न स्थिति (Lower position of Women) - हालांकि सम्पूर्ण भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय है परंतु भारतीय ग्रामीण समुदायों के संदर्भ में नारी की स्थिति अत्यंत निम्न और दयनीय होती है। उन्हें दासी के रूप में समझा जाता है, कन्या वध, बाल विवाह, पर्दा प्रथा, विधवा पुनर्विवाह का अभाव, आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भरता, पारिवारिक संपत्ति में अधिकार ना होना, विवाह विच्छेद का अभाव इत्यादि ऐसी विडंबनाएं हैं जिसमें फंसकर स्त्री कभी भी अपना सम्पूर्ण विकास नहीं कर पाती हैं। इसके अलावा ऐसे अनेक कारण हैं जो भारतीय ग्रामीण नारी की सामाजिक स्थिति को नगरीय स्त्रियों की तुलना में निम्न बनाए रखती है।

18. आत्मनिर्भरता (Self-Sufficiency) - भारतीय गांव को आत्मनिर्भर इकाई के रूप में परिभाषित किया गया है। यह आत्मनिर्भरता केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं वरन सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी थी। जजमानी प्रथा द्वारा जातियां परस्पर एक दूसरे के आर्थिक हितों की पूर्ति करती थी। राजनीतिक दृष्टि से ग्राम पंचायत और ग्राम का मुखिया सभी विवादों को निपटाता था। प्रत्येक गाँव की अपनी एक संस्कृति और कुछ विशेषताएं पाई जाती थी जिन्हें स्वयं ग्रामवासी और दूसरे ग्राम के लोग जानते थे। जिसके कारण ग्रामीण समुदाय आत्मनिर्भर रहे हैं।

1.3.5 भारतीय ग्रामीण समुदायों के वर्गीकरण (Classification of Indian Rural Community) -

ग्रामीण समुदाय में भी अनेक भेद हो सकते हैं। उन्हें भूमि का स्वामित्व, प्रजातीय तत्व, स्थानीय परंपरा आदि के आधार पर एक दूसरे से पृथक किया जा सकता है अर्थात ग्रामीण समुदायों का भी वर्गीकरण संभव है।

1. धर्म ग्रंथों के अनुसार (According to Religious Epics) - हिंदू धर्म ग्रंथ रामायण तथा महाभारत में भी ग्रामीण समुदायों का वर्गीकरण मिलता है। रामायण में दो प्रमुख प्रकार के गांव का उल्लेख मिलता है –

(1) घोष

(2) ग्राम

इसमें से प्रथम प्रकार के गाँव का आकार दूसरे प्रकार से छोटा होता है। घोष के सदस्यों की संख्या कम होती थी और इस प्रकार के ग्रामीण समुदाय बहुदा जंगल के पास होते थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि घोष शब्द से ही घोषी शब्द बना है। घोष या घोषी शब्द का अर्थ है पशुपालक या

ग्वाला जो कि दूध का व्यापार करते थे। इस प्रकार वालों ग्वालों की बस्ती को घोष कहा गया है। घोष से बड़े आकार की बस्ती का ग्राम कहकर उल्लेख किया गया है। जिसमें की पशुपालकों का ही नहीं बल्कि किसानों का भी निवास होता था। इस प्रकार के ग्रामीण समुदाय में इसी कारण पशुपालन नहीं अपितु खेती करना मुख्य व्यवसाय होता था।

2. डॉ. श्यामा चरण दुबे के अनुसार- हम ग्रामीण समुदाय का वर्गीकरण एकाधिक आधारों पर कर सकते हैं, उन्होंने 6 प्रकार के आधारों का उल्लेख किया है जो निम्नवत हैं -

(क) जनसंख्या और भूमि के क्षेत्रफल के आधार पर

(ख) प्रजातीय तत्व और जातियों के आधार पर

(ग) भूमि के स्वामित्व के आधार पर

(घ) अधिकार और सत्ता के आधार पर

(च) दूसरे समुदायों से कितना पृथक है इस आधार पर

(छ) स्थानीय परंपराओं के आधार पर

(3) जनसंख्या के आधार पर (Based on Population) - 2001की जनगणना में गाँव की जनसंख्या के आधार पर भारतीय गांव को मोटे तौर पर 6 भागों में बांटा गया है।

(क) ग्राम जिनकी आबादी 500 से कम है।

(ख) ग्राम जिनकी संख्या 500 से 999 है।

(ग) ग्राम जिनकी संख्या जनसंख्या 1000 से 1999 तक है।

(घ) ग्राम जिनकी आबादी 2000 से 4999 तक है।

(च) ग्राम जिनकी आबादी 5000 से 9999 तक है।

(छ) ग्राम दिन की आबादी 10000 से अधिक है।

(4) डॉ. एच.जे.पीक का वर्गीकरण (Classification of Dr. H. J. Peack) - डॉ. पीक ने गांव का वर्गीकरण मानव के भ्रमणशील जीवन से कृषि अवस्था वाले जीवन तक के उद्विकास के आधार पर किया है। इस दौरान मानव ने अनेक स्थाई-अस्थाई प्रकार के गांव बसाए। इसी आधार पर डॉ. पीक ने गांव को तीन भागों में विभक्त किया है-

(अ) प्रवासी कृषि ग्राम (Migratory Agricultural Village) - इस प्रकार के गांवअस्थाई प्रकार के होते हैं। ऐसे गांव के निवासी किसी स्थान पर थोड़े समय तक रहते हैं और फिर उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर कृषि करने चले जाते हैं। वे लोग कितने समय तक एक स्थान पर निवास करेंगे यह भूमि की उर्वरा शक्ति,मौसम की अनुकूलता और जीवन यापन के साधनों की उपलब्धता आदि कारकों पर निर्भर करता है।

(ब) अर्द्ध-स्थाई कृषि ग्राम (Semi-permanent Agricultural Village) - ऐसे गांव में लोग कई वर्षों तक निवास करते हैं और जब भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाती है तो वह गांव छोड़कर दूसरे उपजाऊ स्थान पर जा बसते हैं। ऐसे गांव पहले प्रकार के गांव की तुलना में स्थाई होते हैं।

(स) स्थाई कृषि वाले ग्राम (Permanent Agricultural Village) - इस प्रकार के गांव में लोग पीढ़ियों से नहीं बल्कि शताब्दियों से रहते आते हैं। वहीं कृषि करते हैं, इनकी प्रकृति स्थाई एवं रूढ़ीवादी होती हैं। प्राकृतिक विपदा और आर्थिक संकटों को झेल कर भी लोग एक गांव में रहते हैं। भारत में अधिकांश गाँव इसी प्रकार के देखने को मिलते हैं।

(5) सोरोकिन, जिम्मरमैन एवं गेलपिन का वर्गीकरण (Classification of Sorokin, Zimmerman and Galpin) - इन विद्वानों ने ग्रामों के वर्गीकरण के दो आधार बताएं हैं:

(अ) घरों के संगठन के आधार पर- गाँव दो प्रकार के होते हैं।

(क) केंद्रित ग्राम (Nucleated Village) - ऐसे गाँव में किसान घरों का एक झुंड बनाकर रहते हैं। उनकी कृषि योग्य भूमि गाँव के बाहर होती है। एक ही निवास स्थान पर साथ साथ रहने से उनमें दृढ़ और सू संबद्ध जीवन का विकास होता है।

(ख) विकेंद्रित ग्राम (Dispersed Village) - ऐसे ग्रामों में किसान अपने-अपने खेतों के किनारे छोटे-छोटे समूह बनाकर घरों में निवास करते हैं। उनके निवास स्थान बिखरे हुए होते हैं। अतः उनके सामाजिक जीवन में विभेदीकरण उत्पन्न हो जाता है।

(ब) भूस्वामित्व एवं सामाजिक संस्तरण के आधार पर-

(क) सामूहिक स्वामित्व वाले गांव- इस प्रकार के गांव में कृषकों का गांव की भूमि पर सामूहिक स्वामित्व होता है और उत्पादन को गांव के सभी परिवारों में बांटा जाता है।

(ख) सामूहिक किराएदारी ग्राम - ऐसे ग्रामों में ग्रामवासी मिलकर गांव की समस्त भूमि को किराए पर लेकर कृषि करते हैं।

(ग) व्यक्तिगत स्वामित्व वाले गांव- ग्रामों में कृषि योग्य भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है। इसमें भू स्वामी, श्रमिक और जोता (किराए पर भूमि जोतने वाले) रहते हैं।

(घ) व्यक्तिगत किराएदारी ग्राम- ऐसे ग्रामों में कृषि योग्य भूमि पर सामूहिक के स्थान पर व्यक्तिगत रूप से किराए पर लेकर कृषि की जाती है।

(च) बड़े भूस्वामी, कर्मचारी वाले गांव - ऐसे ग्रामों में कृषि मजदूर किसी बड़े भूस्वामी के यहां मजदूरी करते हैं और स्थाई निवास बनाकर रहते हैं।

(छ) राज्य, नगर पालिका, धर्म संगठन एवं अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के स्वामित्व की भूमि पर अन्न उत्पादन के लिए लगाए गए मजदूरों और कर्मचारियों का गांव।

(6) श्रीमती इरावती कर्वे ने निवास व्यवस्था के आधार पर गांव का वर्गीकरण किया है। गांव में बसे निवास स्थानों का स्वरूप क्या है? लोग किस प्रणाली से एक ग्राम में अपने निवास बनाते हैं तथा विभिन्न स्थानों के बीच परस्पर किस प्रकार के संबंधों हो? इन आधारों पर तीन प्रकार के गांव पाए जाते हैं-

(क) समूह या केंद्रित ग्राम (Grouped or Nucleated Village) - इस प्रकार के गांव का निवास प्रतिमान एक स्थान पर केन्द्रित होता है। कम जनसंख्या होने से लोग एक स्थान पर घरों का झुंड बनाकर आते हैं और उनके खेत गांव के चारों ओर फैले होते हैं।

(ख) पंक्तिनुमा ग्राम (String Village) - इस प्रकार के गांव किसी सड़क अथवा रास्ते के दोनों और एक लंबी कतार में बने होते हैं। भारत में कोनकन तट तथा समुद्री किनारे पर इसी प्रकार के गाँव पाए जाते हैं।

(ग) हैमलेट गांव या गुच्छेदार ग्राम (Cluster Village) - इस प्रकार के गांव में विभिन्न रक्त संबंधी परिवार अपने खेतों के किनारे घर बनाकर रहते हैं। प्रत्येक हैमलेट कुछ परिवारों का समूह होता है और एक ग्राम में ऐसे कई समूह दिखने को मिलते हैं। निवासियों के घरों के बीच बहुत अंतर होता है तथा उनमें समाजिक घनिष्ठता की कमी भी पाई जाती हैं। इस प्रकार के गांव सतपुड़ा की पहाड़ियों में पाए जाते हैं।

(7) गिलीन और गिलीन का वर्गीकरण (Classification of Gillin and Gillin) - गिलीन और गिलीन ने व्यवसायिक आधार पर ग्रामों को चार भागों में बांटा है-

(क) कृषि व्यवसाय करने वाले गांव

(ख) कृषि नहीं करने वाले गांव

(ग) औद्योगिक ग्राम

(घ) उपनगरीय ग्राम

8. बेडन पावेल का वर्गीकरण (Classification of Baden Powell) - बेडन पावेल ने भूमि व्यवस्था के आधार पर गांव को दो भागों में विभक्त किया है।

(क) रैयतवाड़ी ग्राम (Severalty Village) - इस प्रकार के गांव में एक ग्राम मुखिया होता है जो गांव की व्यवस्था और संचालन का कार्य करता है। यह वंशानुगत होता है और उसे विभिन्न सुविधाएं प्राप्त होती हैं। इस प्रकार के गांव बंगाल, बिहार, केंद्रीय भारत, पश्चिमी एवं दक्षिण भारत में पाए जाते हैं।

(ख) संयुक्त ग्राम (Joint Village) - इस प्रकार के गांव में कोई मुखिया नहीं होता है वरन कृषि व्यवस्था सहयोगी एवं सामूहिक होती है।गांव की सारी भूमि पर सभी गांव वालों का सामूहिक स्वामित्व होता है। उत्पादन, विनिमय और वितरण भी सामूहिक होता है।

भारत में ग्रामों के व्यवस्थित वर्गीकरण की आवश्यकता (Needs of systematic classification of Village in India) - इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न मानकों के आधार पर गांव के प्रकारों का उल्लेख किया गया है। भारतीय गांवों का व्यवस्थित वर्गीकरण तथा उनके इतिहास का अध्ययन करके हम ग्राम समुदायों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि भारतीय गांव में प्रचलित विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का उदय कब और कैसे हुआ था। भारतीय ग्रामों के व्यवस्थित अध्ययन से देसाई के अनुसार तीन तत्वों की जानकारी प्राप्त होगी-

1. उन नियमों का पता चलेगा जिनके आधार पर भारतीय ग्राम समुदायों का उदय और विकास हुआ है। इससे इतिहासकारों एवं समाजशास्त्रीयो को भारतीय समाज के विशिष्ट विकास के नियमों का पता लगाने में सहायता मिलेगी।
2. भारतीय सभ्यता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का पता चलेगा।
3. ग्रामों में कार्य करने वालों को ग्रामीण पुनर्निर्माण के वैज्ञानिक कार्यक्रम के आयोजन में सहायता मिल सकेगी।

1.3.6 भारतीय गांव: एक इकाई के रूप में (Indian Village: As an Unit)-

समाजशास्त्रियों ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गांव एक इकाई है। प्रत्येक गांव लोगों का एक समूह है जो एक क्षेत्र में बसा होता है और जो कुछ दूरी पर बसे ऐसे ही समूह से भिन्न होता है। गांव की पृथकता, वहां यातायात और सड़कों की कमी, अधिकतर लोगों की कृषि पर निर्भरता, गाँव के लोगों की आर्थिक दृष्टि से पारस्परिक निर्भरता, समुदाय के समान्य अनुभव एवं परंपराएं, सामुदायिक उत्सव एवं त्योहारों का महत्व आदि कारकों की उपस्थिति गांव की एकता को संभव एवं स्वाभाविक बनाती है। पोस्ट ऑफिस की दृष्टि से भी प्रत्येक गांव को एक इकाई माना गया है। राजस्व एकत्रित करने की दृष्टि से भी सरकारी खातों में एक गांव की भौगोलिक सीमा को मान्यता दी गई है। उसी के आधार पर लगान वसूल किया जाता है। धार्मिक दृष्टि से भी प्रत्येक गांव का एक ग्राम देवता होता है जिसे सभी मानते हैं और लोंगो का विश्वास है कि वह संकट के समय सारे गांव की रक्षा करता है। प्रत्येक गांव के कुछ ऐसे विशेषताएं होती हैं जिनके आधार पर दूसरे गांव वाले उसे पहचानते हैं। राजनीति दृष्टि से भी गांव एक इकाई है। वह प्रशासन की सबसे छोटी कड़ी है। ग्राम पंचायत शासन एवं विकास के कार्य को करती है। इस प्रकार गांव को भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से एक इकाई माना गया है।

इस ग्रामीण एकता के दर्शन उस समय होते हैं जब गांव में आकस्मिक संकट, महामारी, बाढ़ आदि कोई प्रकोप आ गया हो, करों या किसी वैधानिक नियमों का सामूहिक विरोध करना हो, धार्मिक उत्सव या सामुदायिक त्यौहार मनाना हो।श्रीनिवास ने मैसूर के गांव रामपुरा की सामुदायिक एकता का अच्छा उल्लेख किया है। वे लिखते हैं की अगर किसी वर्ष मानसून नहीं आता है तो इसका अर्थ है सभी के लिए अनावृष्टि। जब कभी हैजा, मलेरिया, प्लेग,चेचक आदि रोग फैलते हैं तो सारा गांव एकता में बंध जाता है। पूरा गांव स्थान छोड़कर दूसरी जगह को चला जाता है। जब श्रीनिवास अध्ययन कर रहे थे तो वर्तमान रामपुरा गांव को बसे हुए 70 वर्ष हुए थे। पुराना गांव दूसरे स्थान पर था। मलेरिया के प्रकोप से बचने के लिए भागकर गांव के लोग नए स्थान पर जा बसे थे। देवता को प्रसन्न करने के लिए गांव के लोग पूजा या आराधना करते थे। बीमारी को संस्कारिक रूप से गांव के बाहर फेंक आते थे। गांव की सीमा का भौगोलिक ही नहीं सांस्कारिक महत्व भी है। रामपुरा की भांति ही डॉ. चौहान ने राजस्थान के एक गांव राणावतो की सादड़ी में अकाल वा प्लेग के समय ग्रामवासियों द्वारा प्रकट की गई एकता का उल्लेख किया है।

गांव की संस्कारी एकता भी महत्वपूर्ण है। 1948 रामपुरा में सूखा पड़ा जिससे गर्मी की फसल पर विपरीत प्रभाव पड़ा। गांव वालों की मान्यता थी कि उन्हें ईश्वर ने यह दंड दिया है। एक मान्यता यह भी थी कि कोढ़ी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसे जलाने या नदी में फेंकने के स्थान पर गाड़ने से धरती माता अपवित्र हो जाती हैं और रुष्ट होकर प्राकृतिक विपदा भेजती हैं। रामपुरा में उसी समय एक घटना घटी। रामपुरा गांव के तालाब की मछलियों को नीलामी करने की बात का पता चला तो उन्होंने प्रतिक्रिया व्यक्त की कि सरकार को ऐसा करने का क्या हक है, यह तो गांव वालों के अधिकारों का अतिक्रमण है। नीलामी के समय कोई भी गांव वाला वहां नहीं पहुंचा। रामपुरा गांव की एकता उस समय भी देखी जा

सकती है जब वे अपने को दूसरे गांव वालों से भी भिन्न समझते हैं। रामपुरा के लोग अपने को पास के गांव भी बिहाली (Bihalli)से परिष्कृत मानते हैं। वे मानते हैं कि केरे (Kere) गांव के लोग रामपुरा को पिछड़ा हुआ और अपने को विकसित मांगते हैं। एक गांव का सदस्य होना उस व्यक्ति के लिए गर्व की बात है।

दो गांव के बीच संघर्ष होने की स्थिति में भी ग्राम एकता देखी जा सकती है। इस समय में गांव की सभी एक होकर मुकाबला करते हैं। गांव की एकता बनाए रखने में प्रभु जाति भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रभु जाति वह जाति है जो जनसंख्या, समाजिक स्थिति, आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से सत्ता से सम्पन्न होती है। वह समुदाय की व्यवस्था बनाए रखने का प्रयत्न करती है।

आलोचना (Criticism)- कुछ समाजशास्त्रियों ने ग्राम समुदाय की एकता को स्वीकार नहीं किया है और उन्होंने ग्रामीण समुदाय एकता नष्ट करने वाले तत्वों का उल्लेख किया है। वे ग्रामीण एकता के विपरीत निम्नांकित तर्क देते हैं।

(1) गांव में अनेक जातियां निवास करती हैं। एक गांव में रहने वाली जाति दूसरे गांव में रहने वाली अपनी ही जाति से घनिष्ठ रूप से संबंधित है खान-पान तथा विवाह द्वारा वे परस्पर जुड़ी हुई हैं। विभिन्न गांव में बसने वाली एक ही जाति गांव की एकता को नष्ट कर देती है तथा गांव एकता के स्थान पर जातीय एकता को अधिक महत्व देती है। यह जातीय झगड़े गांव में बसी अपने ही जाति के बायोवृद्ध लोगों के पास निपटाने के लिए जाती हैं।

(2) यह ठीक है कि गांव के बीच प्राचीन समय में यातायात और संचार के साधनों का अभाव था फिर भी इन पड़ोसी गांव के बीच घनिष्ठ आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक संबंध में पाए जाते थे। इससे ग्राम एकता के स्थान पर आने ग्रामों की एकता पाई जाती थी। सभी गांव परस्पर अन्योन्याश्रित थे।

(3) एक केंद्रित गांव (Nucleated Village) में भी ग्राम एकता की भावना जाति और गांव के पारस्परिक निर्भरता के कारण नष्ट नहीं कमजोर अवश्य हो जाती है। छितरे हुए गांव (Scattered Villages) में तो यह बहुत ही कमजोर हो जाती है। अतः ग्राम एकता के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

1.3.7 ग्रामों का महत्व (Importance of Village)-

कोई भी देश ऐसा नहीं है जहां ग्रामीण समुदाय नहीं है। प्रत्येक देश में कृषि कार्य ग्रामीणों द्वारा ही किया जाता है ग्राम ही वहाँ की प्राचीन संस्कृति का आधार है। सांस्कृतिक परिवर्तन एवं विकास का अध्ययन करने के लिए समुदाय का ही अध्ययन करना होता है, वहीं उद्योग के लिए कच्चे माल का उत्पादन करते है। भारत जैसे देश में जहाँ अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण है, ग्रामों का महत्व और भी बढ़ जाता है। गाँव के महत्त्व महत्व को हम निम्नांकित शीर्षक के अंतर्गत प्रकट कर सकते हैं-

(1) अधिकांश जनसंख्या का निवास (Inhabitation of Large Population) - भारत में उत्तर प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में ही निवास करती हैं इन गांव की संख्या लगभग 5.7 लाख% हैं अतः ग्राम ही वास्तविक भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं वहीं भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आत्मा है।

(2) संस्कृति का आधार स्थल (Base ground of Culture) - भारतीय संस्कृति का अवलोकन करना है तो ग्रामों की ओर जाना होगा। ग्रामों में ही हमें वैदिक संस्कृति से लेकर मध्यकालीन संस्कृति के दर्शन होंगे। नगरीय संस्कृति तो विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण मात्र है। किंतु ग्रामीण संस्कृतिभारतीय संस्कृति का शुद्ध रूप प्रस्तुत करती है। यदि हम प्राचीन कला, धर्म, प्रथा, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, विश्वासों का अध्ययन करना है तो हमें गांव का अध्ययन करना ही होगा।

(3) आर्थिक महत्व (Economic Importance) - गाँव का प्रत्येक देश के लिए महत्व भी है। वे उत्पादन के स्रोत हैं, गांव ही सारे देश के लिए अन्न पैदा करते हैं, हमारी अन्न समस्या का प्रमुख कारण गांव का पिछड़ापन और कृषि में उत्पादन के परंपरागत तरीकों का अपनाया जाना है। समस्या के समाधान के लिए कृषि व्यवस्था की उन्नति करनी होगी और इसके लिए आधुनिक वैज्ञानिक साधनों, बीज एवं खादों के बारे में ग्रामीणों को ज्ञान कराना होगा। गाँव कच्चे माल के भी स्रोत है, उद्योगों के लिए कपास, जूट, तिलहन, गन्ना आदि गांव में ही पैदा होती है, पशुपालन का कार्य भी गांव में अधिक होता है। वही नगरों को दूध एवं घी प्रदान करते हैं। कृषि से ही विदेश में जाने वाला आधार माल प्राप्त होता है। देश की आय का लगभग आधा भाग कृषि और उससे संबंधित व्यवसाय से ही प्राप्त होता है।

(4) श्रम का स्रोत (Source of Labour) - ग्राम श्रम शक्ति का मूल स्रोत हैं। विभिन्न उद्योगों में काम करने के लिए नगरों में ग्रामीण लोग ही लगे हुए हैं। अनेक निर्माणकारी योजनाओं के क्रियान्वयन ग्रामीण मजदूरों से ही हुआ है और हो रहा है। बड़े-बड़े कारखाने और बांध, भवन, पुल आदि के निर्माण में ग्रामीणों का श्रमिकों के रूप में महत्वपूर्ण योगदान है। रेलवे, बंदरगाह, चाय के बागान, खानों और कारखानों में ग्रामीण लोग ही श्रमिकों के रूप में कार्य करते हैं। ग्रामीण श्रमिक ही हमारी अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है।

(5) मानवीय शक्ति का स्रोत (Source of Human Power) - ग्राम ही मानवीय शक्ति की स्रोत हैं। हमारी सेना में काम करने वाले सिपाहियों में अधिकांश लोग गांव के ही निवासी होते हैं। जहाँ नगरीय लोग केवल बौद्धिक कार्यों में संलग्न है वहां ग्रामीण लोग शारीरिक शक्ति के कार्यों में। ग्रामीण राष्ट्र की मानवीय शक्ति की वृद्धि करते हैं। प्राकृतिक और स्वच्छ वातावरण में रहने के कारण ए लोग सामान्यतः निरोग, शक्तिशाली और स्वस्थ होते हैं।

1.3.8 परंपरागत भारतीय ग्रामीण समुदाय का पतन और नवीन परिवर्तन (Downfall of Traditional Village Community and New Changes) -

भारतीय ग्रामीण समुदाय की जिन विशेषताओं का अध्ययन हमने इकाई1.3 में किया था उनका 18 वीं सदी के मध्य से ही पतन प्रारंभ होने लगा था। ब्रिटिश राज्य की स्थापना से ग्रामीण समुदायों की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन आया। अंग्रेजों से पूर्व भूमि बिक्री की वस्तु नहीं थी। भूमि पर सारे गांव

का सामूहिक स्वामित्व होता था। ग्राम पंचायत उसकी देखभाल करती थी तथा राजा को भूमि का राजस्व दे दिया जाता था। अब भूमि एक बिक्री की वस्तु हो गई और वे व्यक्ति भी जो स्वयं कृषि नहीं करते थे, भूमि खरीद कर मजदूरों से कृषि कराने लगे। परिणाम स्वरूप जमीदारी प्रथा का उदय हुआ और भूस्वामी और भूमिहीन मजदूर दोनों वर्ग पनपे।

परंपरागत समुदाय में उत्पादन का मुख्य उद्देश्य उपभोग था ना कि बाजार। अंग्रेजों के शासन काल में ग्रामीण अर्थव्यवस्था संपूर्ण देश से ही नहीं विश्व से जुड़ गई थी। विश्वव्यापी आर्थिक गतिविधियों का प्रभाव गांवों पर भी पड़ने लगा। औद्योगीकरण एवं फैक्ट्री प्रणाली के कारण ग्रामीण कुटीर व्यसाय चौपट होने लगे। कृषि और उद्योगों का संतुलन बिगड़ गया। लोग गांव छोड़कर व्यवसाय की तलाश में नगरों में जाने लगे। अंग्रेजों की प्रशासकीय एवं न्याय संबंधी नीतियों ने भी ग्रामीण समुदाय को कमजोर बनाया। न्याय कार्य नगरों के न्यायालयों में पढ़े लिखे न्यायधीशों, वकीलों आदि के द्वारा होने लगा। परंपरागत ग्राम पंचायत पंचायतों के अधिकार छीन गए और वे निष्क्रिय हो गई।

आजादी के बाद हमारी सरकार ने गांवों का महत्व समझा और केंद्रीय व राज्य सरकारों ने उत्थान और विकास की अनेक योजनाएं बनायी। पंचवर्षीय योजनाओं, सामुदायिक विकास योजनाओं और समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के द्वारा ग्राम विकास पर जोर दिया गया। पंचायती राज के अंतर्गत ग्राम पंचायतों को नए अधिकारों एवं कर्तव्य से सुसज्जित किया गया। इनसे गांव में अनेक परिवर्तन आए हैं किंतु साथ ही साथ नवीन समस्याएं भी पैदा हुई हैं। गांव में गुटबंदी और दलगत राजनीति ने भाईचारे की भावना समाप्त कर दिया है। नया नेतृत्व उभरा है जो अभी संक्रमणकाल में है। विकास योजनाओं का लाभ अधिकाशतः उन्हीं लोगों को मिला है जो जमींदार या बड़े भूस्वामी थे। भूमिहीन मजदूरों के लिए जो कुछ भी किया गया, वह काफी कम है यद्यपि केंद्र सरकार इस दिशा में विशेष रूप से प्रत्यनशील है।

नई न्याय व्यवस्था एवं प्रशासन, सामुदायिक विकास योजना, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, यातायात एवं संचार के नवीन साधन, नई शिक्षा प्रणाली, औद्योगिकरण एवं नगरीकरण, कृषि में हरित क्रांति आदि कारकों के प्रभाव के कारण परंपरागत भारतीय ग्रामीण समुदाय में अनेक परिवर्तन हुए हैं। ए परिवर्तन निम्नांकित है-

(1) संयुक्त परिवारों का विघटन

(2) जजमानी प्रथा की समाप्ति

(3) जाति प्रथा से संबंधित दोषों में कमी

(4) नई अर्थव्यवस्था का उदय

(5) नवीन प्रजातांत्रिक नेतृत्व का उदय

(6) गांव में गुटों एवं दलगत राजनीति का उदय

(7) द्वितीयक संबंधों की प्रधानता

(8) परंपरागत भारतीय मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों का उदय

(9) प्राथमिक संस्थाओं एवं संबंधों का महत्व कम होना

(10) सामाजिक नियंत्रण के साधनों में द्वितीय संस्थाओं जैसे राज्य, कानून, पुलिस

(11) जेल इत्यादि का महत्व बढ़ना

1.3.9 ग्रामीण समाज: एक अवधारणा एवं जीवन विधि (Rural Society: A Concept and A Way of Life) -

डॉ. मजूमदार ने गांव की एकता को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा है। वे गांव को एक जीवन विधि एवं एक अवधारणा के रूप में परिभाषित करते हैं। गांव एक इकाई और एक संपूर्णता भी है। इस नाते गांव के सभी लोगों की एक संगठित जीवन विधि, विचार, संस्कृति और अनुभव होती है। प्रत्येक गांव का एक भूतकाल होता है, एक मूल्य व्यवस्था, एक भावनात्मक व्यवस्था होती है। सभी लोगों का संबंध भूतकाल के गहरे अनुभवों से होता है। इस नाते गांव एक पृथक इकाई है किंतु इसका दूसरा पक्ष यह है कि सभी विशेषताएं केवल गांव की सीमा तक ही सीमित नहीं होती है। गांव वालों के नातेदारी संबंध गांव में ही नहीं वरन आसपास के गांव में भी होते हैं। सामाजिक राजनैतिक एवं प्राकृतिक संकट के समय गांव के लोग परस्पर सहायता करते है। यदि हम गांव के संरचनात्मक व्यवस्था पर ध्यान दें तो गाँव एक संपूर्णता के रूप में अवश्य दिखाई देगा। गांव में अनेक विभिन्नताएं और असमानताए विद्यमान हैं। वहां जातियों के आधार पर मोहल्ले बन होते हैं। उच्च एवं निम्न जातियों के बीच विचारों, विश्वासों, व्यहारों, शिक्षा, आय, जीवन स्तर, आदतों और अंतर्जातीय संबंधों में अनेक विभेद पाए जाते हैं। उच्च एवं निम्न जातियां परिवर्तन के दौर में हैं, अंतर्जातीय संबंधों में भी परिवर्तन हो रहे हैं। इन सभी घटनाओं के बावजूद भी साथ-साथ रहने एवं सहयोग करने, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन में आधार-प्रदान करने,समान हितों और समस्याओं में भागीदार होने के कारण गाँव एक संगठित इकाई के रूप में दिखाई देता है।

गांव एक जीवन विधि और अवधारणा दोनों ही है। बाहरी संपर्क के बावजूद भी गाँव वाले अपना जीवन उसी तरह व्यतीत करते रहे हैं जैसा वे भूतकाल में व्यतीत करते थे। गांव की जीवन विधि नगर से पृथक है। जब तक गांव अपना व्यक्तित्व बनाए रखेंगे जैसे की अब तक बनाए रखे हैं अथवा जब तक ग्रामीण मूल्य समूह में परिवर्तन नहीं आता तब तक गांव एक अवधारणा के रूप में मौजूद रहेंगे। **डॉ. मजूमदार** का मत है कि गांव और नगर के बीच आदान-प्रदान की जो प्रक्रिया है, भारत में दिखाई नहीं देती है।भारत में ग्रामीण एवं नगरीय मूल्य एवं जीवन विधि भिन्न-भिन्न है जो गांव शहर के पास बसे हुए हैं उनमे भी अपनी ग्रामीण मूल्य व्यवस्था बनी हुई है और वे गांव नगरों में परिवर्तित नहीं हुए हैं। यहाँ तक कि वे गांव जिनकी जनसंख्या 5000 है और जनगणना विभाग की परिभाषा के अनुसार नगर माने जाते हैं, वह भी ग्रामीण मूल्य व्यवस्था बनाए हुए हैं। ग्रामीण नगरीय भेद ने ही भारत की परंपरागत संस्कृति को जीवित रखा है अन्यथा हमारे यहाँ कोई इस तरह की व्यवस्था नहीं रही है जो प्राचीन धर्म, कला, संस्कारीक व्यवहार, लोकगीत, हिंदू धर्म आदि की रक्षा करती। गाँव और नगर का भेद ही गाँव को शहरों के समान नहीं होने देता।गाँव की भावात्मक व्यवस्था व मूल्य व्यवस्था ही गांव में परिवर्तित होने से रोकती है। अतः स्पष्ट है कि गांव की एक संस्कृति, एक मूल्य व्यवस्था और भावात्मक व्यवस्था होती है

जो गांव की एक विशिष्ट जीवन विधि निर्मित करते हैं और उसे एक अवधारणा के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।

1.3.10 बोध प्रश्न

(1) ग्रामीण सामाजिक संरचना को परिभाषित करें तथा विशेषताओं के बारे में बताएं।

(2) ग्रामीण समाज का वर्गीकरण करें तथा इन वर्गीकरण के आधारों का भी उल्लेख करें।

(3) ग्रामीण समाज का वर्गीकरण क्यों आवश्यक है? इस बिंदु पर भी चर्चा करें।

(4) भारतीय गांव एक इकाई के रूप में कार्य करता है। इस कथन की व्याख्या करें।

(5) ग्रामीण समुदाय के समुदायों के पतन के कारणों का उल्लेख करें।

(6) ग्रामीण समाज में कौन-कौन से नवीन परिवर्तन हो रहे हैं व्याख्या करें।

(7) भारतीय समाज के संदर्भ में ग्रामीण समाज के महत्व पर प्रकाश डालें।

(8) ग्रामीण सामाजिक संरचना एक अवधारणा और एक जीवन विधि दोनों ही है, इस कथन की पुष्टि करें।

(9) ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।

1.3.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.शर्मा, के. एल. (2010). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

2. देसाई, ए. आर. (2012).*भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

3. सिंह, सुरेंद्र. एवं सिंह, रीता. (2008). *मौलिक समाजशास्त्रीय अवधारणाएं*. वाराणसी: बालाजी प्रकाशन.

4. पाटील, अशोक. डी. (2007). *ग्रामीण एवं नगरीय समाजशास्त्र*.भोपाल: मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी.

5. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा, डी. डी. (1999). *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन.

6. महाजन, धर्मवीर. एवं महाजन, कमलेश. (2017). *भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

7. लावनिया, एम. एम.एवं जैन, शशी. के. (1999). *ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रिसर्च पब्लिकेशन.

8. आहूजा, राम. (2007). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

9. महाजन, धर्मवीर. एवं महाजन, कमलेश. (2003). *भारत में समाज*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

10. मुखर्जी, नाथ. रविंद्र. (2001). *भारतीय समाज एवं संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

11. गुप्ता, मोतीलाल. (1997). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.

इकाई-4 : नगरीय सामाजिक संरचना

इकाई की रूपरेखा

1.4.1 अध्ययन के उद्देश्य
1.4.2 प्रस्तावना
1.4.3 नगरीय सामाजिक संरचना: अर्थ एवं परिभाषा
1.4.4 नगरीय सामाजिक संरचना की विशेषताएं
1.4.5 नगरीय क्षेत्रों की समस्या
1.4.6 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना
1.4.7 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना में कठिनाइयां
1.4.8 गांव एवं नगर में पारस्परिक अंतःक्रिया
1.4.9 ग्रामीण-नगरीय सातत्य एवं ग्राम्य-नगरीकरण
1.4.10 बोध प्रश्न
1.4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी पुस्तकें

1.4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हमारे विद्यार्थियों को ग्रामीण सामाजिक संरचना के विषय में कई प्रकार की जानकारियां प्राप्त होगी :-

1. नगरीय सामाजिक संरचना का अर्थ एवं वहां की सामाजिक व्यवस्था के बारे में संपूर्ण जानकार प्राप्त होगी।
2. नगरीय सामाजिक संरचना की विशेषताओं के बारे में जानकारी मिलेगी।
3. इस इकाई में ग्रामीण व नगरीय सामाजिक संरचना में पाए जाने वाले अंतर उनके आधारों के विषय में विस्तार से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की व्याख्या से ग्रामीण संरचनाओं के संबंध में जानकारी मिलेगी।
4. नगरीय सामाजिक संरचना जिस विघटन के दौर से गुजर रहा है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थीगण उन कारकों के विषय में समझ पाएंगे।
5. नगरीय सामाजिक संरचना में होने वाले नवीन परिवर्तनों के विषय में जानकारी मिलेगी।
   इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी नगरीय क्षेत्रों की समस्या को समझ पाएंगे और इस संरचना को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी करेंगे।
6. ग्रामीण व नगरीय सामाजिक संरचना एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इसके बारे में विस्तृत जानकारी मिलेगी
7. ग्राम्य-नगरीकरण किस प्रकार से परिवर्तन की इकाई के रूप में कार्य करता है। इस अध्याय में इस विषय का भी उल्लेख किया गया है जो विद्यार्थियों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा।

1.4.2 प्रस्तावना

आवासीय बस्तियों का हम दो भागों में विभाजन कर सकते हैं ग्रामीण और नगरीय। वैसे एक और विभाजन भी है-जिसे कस्बा कहते हैं। कस्बा जनसंख्या तथा भौगोलिक आकार की दृष्टि से ग्राम से बड़ा किंतु नगर से छोटा होता है।कस्बा ग्रामीण और नगरीय विशेषताओं से युक्त आवासीय बस्ती है। कस्बे को भी प्रायः नगर मान लिया जाता है क्योंकी कस्बे और नगर में कोई विभाजक रेखा या अंतर के कुछ निश्चित बिंदु तय नहीं किए जा सकते हैं। ग्रामों के समान नगरों का इतिहास भी पुराना है। मानव ने घुमंतू जीवन में विराम लगाकर जब स्थाई रूप से बसना प्रारंभ किया तब गांव और नगरों का विकास हुआ। अतीत में नगरों का वही विकास हुआ जहां राज्य की राजधानी होती थी, इसके अतिरिक्त सैनिक छावनियाँ, तीर्थस्थल, व्यापारिक महत्व के स्थान, विकसित उद्योग-धंधे तथा बंदरगाहों पर नगरों का विकास हुआ। अतीत में शिक्षा के केंद्र भी नगरों के रूप में विकसित हुए जैसे तक्षशिला, नालंदा आदि। वर्तमान में औद्योगिकरण और व्यापार-व्यवसाय के विकास के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया बहुत ही तीव्र हुई है जिससे नगरों का विकास तीव्र गति से हुआ है।

1.4.3 नगरीय समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Urban Community) -

नगर शब्द अंग्रेजी भाषा का 'Urbun' शब्द का हिंदी अनुवाद है। स्वयं Urban शब्द लैटिन भाषा के “Urbanus” से बना है जिसका अर्थ है 'शहर'। लैटिन भाषा के 'Urbs' का अर्थ भी सिटी अर्थात शहर से ही है।

वर्तमान नगर औद्योगिकरण की ही देन है। जब एक स्थान पर विशाल उद्योग स्थापित हो जाता है तो उस स्थान पर कार्य करने के लिए लोग उमड़ पड़ते हैं और धीरे-धीरे वह स्थान नगर के रूप में विकसित होता चला जाता है। ग्रामीण समुदाय के अर्थ के तारतम्य में हम समुदाय के अर्थ को भली-भांति समझ चुके हैं। उसी अर्थ को यदि हम यहां उपयोग में लाए तो नगरीय समुदाय का अर्थ होगा-मनुष्य का वह समुदाय जो नगर में रहता है। इस संदर्भ में एक सामान्य प्रश्न उत्पन्न होता है कि नगर क्या है? यद्यपि हम में से प्रत्येक नगर शब्द से परिचित हैं, हम में से अधिकांश व्यक्ति नगरों में रहते हैं फिर भी नगर क्या है इसे परिभाषित रूप में समझना कठिन है। सत्य तो यह है कि ग्राम और नगर के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है जिसके आधार पर ग्राम और नगर को पृथक किया जा सके। केवल विशेषताओं के आधार पर ही ग्राम और नगर की अवधारणा तथा दोनों के बीच अंतर को स्पष्ट किया जा सकता है अथवा उनकी विशेषताएं बतलाई जा सकती हैं।नगरीय समाजशास्त्र के अध्ययन के द्वारा कुछ आधारों पर नगर क्या है इसे समझाने का प्रयास किया गया है। इसके अनुसार दी गई कुछ व्याख्या इस प्रकार हैं-

प्रायः नगर को जनसंख्या के आधार पर चिन्हित किया जाता है। भारत में बहुतायत ऐसे आवासीय क्षेत्र हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख अथवा उससे अधिक हो, उन्हें नगर कहते हैं। नगर को चिन्हित करने के लिए जनसंख्यात्मक मापदंड सर्वत्र एक समान नहीं है उदाहरणस्वरुप 25,000 या इससे अधिक जनसंख्या वाले स्थान को अमेरिका के जनगणना ब्यूरो ने नगर माना है। फ्रांस ने 20,000 तथा

मिस्र ने 11,000 जनसंख्या वाले क्षेत्र को नगर माना है। विलकॉक्स ने ऐसे क्षेत्र को जहां का जनघनत्व 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा जेफरसन ने 10,000 प्रति वर्ग मील आबादी वाले क्षेत्र को नगर कहा है। नगर की व्याख्या करने का एक आधार जीवनशैली भी है। नगर में रहने वालों की दिनचर्या, जीवनस्तर, शिक्षा का स्तर ग्रामों से भिन्न होता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जिन आवासीय बस्तियों के लोगों की जीवनशैली नगरीय हो उसे नगर कहते हैं।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने सुविधाओं के आधार पर भी नगरों की व्याख्या किया हैं। उनके अनुसार जहां शिक्षा, चिकित्सा, व्यापार-व्यवसाय, आवागमन और संचार के उन्नत साधन उपलब्ध उपलब्ध हों उन्हें नगर कहते हैं।

बर्गल ने उचित ही कहा है कि "प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि नगर क्या है किंतु किसी ने भी संतोषजनक परिभाषा नहीं दी हैं। (Everybody seems to know what city is but no one has given a satisfactory definition-E. B. Bergal, Urban Sociology)"नगर केवल एक विकास का स्थान ही नहीं बल्कि एक विशिष्ट पर्यावरण का सूचक भी है। यह जीवन जीने की एक विशिष्ट ढंग और विशिष्ट संस्कृति का भी सूचक है। नगरों की जनसंख्या अधिक होती है, इसका जनघनत्व भी अधिक पाया जाता है, व्यवसायियों की बहुलता एवं भिन्नता,औपचारिक व द्वितीयक संबंधों की प्रधानता, भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, कृत्रिमता, जटिलता, गतिशीलता आदि नगरीय जीवन की प्रमुख लक्षण हैं।
भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में नगर की कुछ परिभाषाएं भी दी गई हैं जो इस प्रकार है-

विलकॉक्स के अनुसार,"जहां मुख्य व्यवसाय कृषि हैं उसी गांव तथा कृषि के अतिरिक्त जहां अन्य व्यवसाय प्रचलित हैं उसे नगर कहेंगे।"

ई० ई ० बर्गल ने व्यवसाय के आधार पर नगरों को ग्रामों से भिन्न माना है इसी आधार पर ये लिखते हैं कि"नगर ऐसी संस्था है जहाँ के अधिकतर निवासी कृषि कार्यों के अतिरिक्त अन्य उद्योगों अथवा अन्य कार्यों में नियोजत हो।"

विलकॉक्स ने भी जीवन निर्वाह को किए जाने वाले आधार पर नगर शब्द को परिभाषित किया है। इनके अनुसार,"ग्राम और नगर में मूलभूत अंतर कृषि और अन्य उद्योगों का है,ग्राम कृषि कार्य के आधार पर तथा नगर उद्योग आधार पर पहचाने जाते हैं।"

लुईस बर्थ नगर को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि,"समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से नगर की परिभाषा सामाजिक भिन्नता वाले व्यक्तियों के बड़े,घने बसे हुए एवं स्थायी निवास के रूप में की जा सकती है"। इनके अलावा इनका यह भी कहना है कि "नगरवाद या नगरीयता एक जीवनशैली है (Urbanism is a way of life)"

थियोडोरसन एवं थियोडोरसन के अनुसार,"नगरीय समुदाय एक ऐसा समुदाय है जिसमें उच्च जनघनत्व, गैर कृषि व्यवसायो की प्रमुखता, जटिल श्रम विभाजन से उत्पन्न उच्च मात्रा का विशेषीकरण और स्थानीय सरकार की औपचारिक व्यवस्था पाई जाती है। नगरीय समुदायों की विशेषता जनसंख्या के विभिन्नता अवैयक्तिक एवं द्वितीयक संबंधों का प्रचलन तथा औपचारिक सामाजिक नियंत्रण पर निर्भरता आदि है।"

1.4.4 नगरीय समुदाय की विशेषताएं (Characteristics of Urban Society) -

नगरीय समुदाय की अवधारणा को समझने की दृष्टि से इसकी निम्नांकित विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है। इस संदर्भ में विद्वानों का उल्लेख इस प्रकार है-

किंग्सले डेविस ने नगर की सामाजिक संरचना की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है जैसे- सामाजिक विभिन्नता, द्वितीयक संघ, सामाजिक सहिष्णुता, द्वितीयक नियंत्रण, सामाजिक गतिशीलता, ऐच्छिक संघ, स्थानीय अलगाव, व्यक्तिवाद इत्यादि।

रोनाल्डो फ्रीडमैन ने नगरीय समुदाय की विशेषताएं इस प्रकार बताई है- समूह एवं व्यक्तियों के बीच कार्यात्मक अन्योन्याश्रितता, अधिक जनसंख्या एवं अधिक जनघनत्व, विभिन्नताएँ, परिवार के कार्यों में कमी, सदस्यों में अंजानापन, संदेशवाहन के साधनों की बहुलता, प्राथमिक संबंधों का अभाव, श्रमविभाजन एवं विशेषीकरण, संस्कृति की परिवर्तनशील प्रकृति आदि।

पार्क, बर्गेस, एंडरसन, जिमरमैन, नेल्स एवं सोरोकिन आदि विद्वानों द्वारा उल्लेखित नगरीय समुदाय एवं जीवन की विशेषताओं को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं-

- **जनसंख्या की बहुलता (Congestion) -** ग्राम एवं नगर का भेद प्रमुखता जनसंख्या के आधार पर ही किया जाता है। शहरों में जनसंख्या एवं जन घनत्व अधिक पाया जाता है। जनसंख्या की अधिकता के आधार पर ही नगरों का विभिन्न श्रेणियों में जैसे-नगर एवं महानगर आदि में वर्गीकृत किया जाता है। जनसंख्या की अधिकता के कारण शहरों में गंदी बस्तियां में वृद्धि, अपराध, आवास, बेरोजगारी एवं गरीबी से संबंधित अनेक समस्याएं पैदा की हुई है।

- **जनसंख्या की विभिन्नता (Variety of population) -** नगरों में विभिन्न धर्मों, मतों, संप्रदायों, जातियों, वर्गों, भाषाओं एवं प्रांतों से संबंधित लोग निवास करते हैं। अतः वहां की जनसंख्या में विभिन्नता पाई जाती है इस कारण शहरी लोगों के रहन-सहन, प्रथाओं, परंपराओं, वेश-भूषा एवं जीवन स्तर आदि में विभिन्नता देखने को मिलती है।

- **व्यवस्थाओं में विभिन्नता (Variety of occupation) -** व्यवसायियों के असंख्य प्रकार भी नगरीय समुदाय की एक प्रमुख विशेषता है। यहां शायद ही कोई ऐसा व्यवसाय हो जिसे की नगरों का प्रमुख व्यवसाय कहा जा सके। यहां तो रोजगारों में कई प्रकार की बहुलता एवं विभिन्नता होती है। नगर के कार्यों की कई प्रकार की श्रेणियों होती है जैसे अध्यापक, क्लर्क, बैंक अधिकारी, दुकानदार, मिल-मालिक, ड्राइवर, मजदूर इनके अलावा फल-फूल, लकड़ी से जुड़े रोजगार, सिगरेट, माचिस, दवा, कपड़ा, कागज, दूध उद्योग, चमड़ा, मशीन निर्माण, प्लास्टिक, लोहा, ईंट, सीमेंट, कागज आदि प्रकार से संबंधित एवं अन्य हजारों प्रकार के व्यवसाय नगर में देखने को मिलते हैं।

- **श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण (Division of labour and specialization) -** नगरों में प्रायः सभी कार्य विशेषकर उद्योग धंधों से संबंधित कार्य बड़े पैमाने पर ही होते हैं जिसके कारण श्रम विभाजन अति आवश्यक हो जाता है। श्रम विभाजन के संदर्भ में बड़े पैमाने के कार्यों को करने तथा उन्हें संचालित करने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इसलिए नगरों में जज, प्रोफेसर, डॉ.क्टर,

इंजीनियर आदि अपने-अपने क्षेत्रों में विशेषज्ञ होते हैं। इतना ही नहीं विभिन्न पक्षों से संबंधित विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है जैसे डॉ.क्टरों में हृदय विशेषज्ञ, हड्डी एवं जोड़ विशेषज्ञ, आंख विशेषज्ञ इत्यादि।

● **द्वितीयक संबंधों की प्रधानता (Importance of secondary relationship) -** चूँकि नगरों की जनसंख्या अधिक होती है अतः यहां सभी लोगों में एक-दूसरे से आमने-सामने के घनिष्ठ एवं प्राथमिक संबंध स्थापित करना कठिन होता है इसलिए नगर में लोगों के बीचऔपचारिक एवं द्वितीयक संबंधों की अधिकता पाई जाती है।

● **कृत्रिमता और फिजूलखर्ची (Artificiality and Extravagance) -** नगरीय जीवन शैली की एक अन्य विशेषता आडंबर युक्त भाव, विचार एवं व्यवहार हैं। नगरीय समुदाय में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा कृत्रिमता और बाहरी दिखावे पर बहुत कुछ निर्भर करती है। शहरों में एक सामान्य से प्रचलन है कि व्यक्ति के रहने या बैठने का स्थान, आचार-व्यवहार, बातचीत करने के ढंग आदि में जितनी चमक-दमक एवं कृत्रिमता होगी उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक होगी। अतः इसी कृत्रिमता को बनाए रखने के लिए नगरों में लोग अत्यधिक फिजूल खर्च भी करते रहते हैं।

● **सामाजिक गतिशीलता एवं सहनशीलता (Social Mobility and Tolerance) -** नगरीय समुदाय में श्रम विभाजन, प्रतिस्पर्धा और विभिन्नता के कारण सामाजिक गतिशीलता की मात्रा भी अधिक होती है। यहां पर जब योग्यता के अनुसार हर समय व्यवसायों में परिवर्तन लाया जा सकता है तो लोग भी अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सशक्त बनाने के लिए अपने रोज़गारों में परिवर्तन करते रहते है। इस प्रकार के परिवर्तन से अन्य क्षेत्रों में भी तीव्रता से परिवर्तन आयी है। इसके अतिरिक्त सामाजिक दायरा बढ़ने के कारण और विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के आपस मेंसंपर्क में आने के कारण एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता का विकास भी हुआ है। इसके अलावा नगरों में स्थानीय गतिशीलता अधिक पाई जाती हैं। अवसरों की बहुलता, यातायात व संचार के साधनों की अधिकता के कारण नगरीय लोगों का एक स्थान छोड़कर अन्य स्थान पर जाना सरल होता है जिसके कारण नगरों में स्थैतिक गतिशीलता अधिक देखने को मिलती हैं।

● **सामाजिक विभिन्नता (Social Heterogeneity) -** नगरीय समुदाय की प्रमुख विशेषता है यहाँ के सामाजिक जीवन में पाई जाने वाली विभिन्नता। दूसरे शब्दों में नगरों के जीवन में एकरूपता का अभाव होता है तथा यह विभिन्नताओं का केंद्र भी होता है। नगरों में उद्योग धंधे, व्यापार और मूलभूत सुविधाएं होने के कारण यहां कई जाति, धर्म, संप्रदाय के व्यक्ति आकर बस जाते है। जिसके कारण नगरीय जीवन के प्रत्येक पक्ष में विभिन्नता की झलक देखने को मिलती है। इस विभिन्नता के कारण ही व्यक्तियों के रहन-सहन, भाषा, वेशभूषा, चाल-चलन आदि एकरूपता नहीं आ पाती और इस रूप में नगरों में सामाजिक विभिन्नता बनी मिलती रहती हैं।

● **व्यक्तिवादित (Individualism) -** नगरीय समुदाय में व्यक्ति की प्रतिष्ठा जन्म के आधार पर न होकर उसके व्यक्तिगत गुण पर निर्भर होती हैं। नगरों का यह आदर्श व्यक्तियों को इतना स्वार्थी बना देता

है। वह अपने हित की पूर्ती में लग जाता है कभी-कभी तो यह व्यक्तिवादी आदर्श भयंकर रूप धारण कर लेता है कि वह स्वयं के अलावा कुछ और सोचा ही नहीं पाता है। नगरीय समाज में व्यक्ति अधिक आत्म केंद्रित होते हैं। व्यक्ति हर कार्य को अपने व्यक्तिगत लाभ-हानि को सोचकर करते हैं। इसलिए सामूहिक हित की अपेक्षा अपने पर अधिक ध्यान दिया जाता है और व्यवसाय के अधिक अवसर, निश्चित आमदनी और सुरक्षित भविष्य आने के कारण नगरीय समाज के सदस्य तुलनात्मक रूप से अधिक व्यक्तिवादी होते भी हैं। उनमें सामुदायिक भावना की भी कमी पाई जाती है।

● **धर्म एवं परिवार का कम महत्व (Lesser importance of religion & family) -** नगरों में शिक्षा एवं विज्ञान से अधिक संबंध होने के कारण धर्म का महत्व काफी कम हो गया है। कर्मकांड, पूजा-पाठ, यज्ञ, हवन में अधिक रुचि नहीं रखते हैं। धर्म के बजाय अपने स्वयं की शक्ति में विश्वास करने लगे हैं। शिक्षा के कारण रूढ़िवादिता समाप्त हो रही है फलतः लोग धार्मिक अंधविश्वास को समाप्त कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त नगरों में अनेक सुविधाएं होने के कारण परिवार का महत्व भी घटा है जैसे भोजन, शिक्षा, सुरक्षा,बच्चों के देख-रेख,चिकित्सा, वस्त्र, दवा इत्यादि से संबंधित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की द्वितीय संस्थाओं का निर्माण हो गया है जो अब इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे हैं। अतः जिन आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार द्वारा होती थी अब अन्य संस्थाओं द्वारा इनकी पूर्ति होने लगी है जिसके के कारण उत्तरोत्तर परिवार का महत्व घटता जा रहा है।

● **अधिक मानसिक संघर्ष (More mental conflict) -** समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का मानसिक संघर्ष चलता रहता है। नगरों में यदि एक ओर खाने-पीने, धन कमाने और जीवन चलाने की अनेकों सुविधाएं उपलब्ध है तो दूसरी ओर दुर्घटना, बेकारी, व्यापार में हानि आदि भी रोज की घटनाएं हैं। इन अनिश्चितता में मनुष्य को मानसिक शांति प्राप्त नहीं हो पाती और जिस प्रकार से नगरों में द्वितीयक संबंधों की प्रधानता हुई है उस परिस्थिति में अपनी किसी भी समस्या में खुद को व्यक्ति बहुत ही अकेला पाता है जिसकी वजह से वह मानसिक रूप से कमजोरऔर व्यथित होता जाता है और विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों से ग्रसित होता जाता है।

●**द्वितीयक नियंत्रण की प्रधानता (Importance of secondary control) -** नगरीय समुदाय में द्वितीयक समितियों की प्रधानता होती है जैसे कारखाना, कॉलेज, श्रमिक संघ आदि। साथ ही यह सभी समितियां या समूह अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य कर रहे होते हैं। इस अवधि के दौरान इन नियंत्रण की समस्या उठ खड़ी होती है। ये समितियाँ इतने विभिन्न प्रकार की होती हैं कि इन पर प्रथा, परंपरा या धर्म के माध्यम से नियंत्रण रखना असंभव होता है इसलिए इन पर द्वितीयक नियंत्रण के साधन जैसे कानून, पुलिस, कोर्ट, सेना आदि का प्रयोग किया जाता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि नगरों में नियंत्रण के लिए द्वितीयक साधनों का प्रयोग किया जाता है।

1.4.5 नगरीय क्षेत्रों की समस्या (Problems of Urban Areas) - बढ़ती जनसंख्या एवं नगरों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि ने भारत में कई परिवर्तनों को जन्म दिया है। इन परिवर्तनों के कारण कुछ लाभकारी परिणाम सामने आए हैं तो दूसरी और नई समस्याओं का भी जन्म हुआ है। जिसका उल्लेख करना इस इकाई ने अत्यंत आवश्यक है। नगरीय संरचना से जनित कुछ समस्याएं निम्न प्रकार है:-

1. स्वास्थ्य की समस्या (Health Problem) - सामान्य धारणा यह है कि गांव के लोग नगरीय लोगों की तुलना में स्वस्थ और बलिष्ठ होते हैं। नगरीय लोग दुबले, रूग्ण और जल्द बीमार होने वाले होते हैं। नजरों में स्वच्छ वातावरण का अभाव होता है। मकानों की भीड़-भाड़, वायु प्रदूषण, मिल, फैक्ट्री का धुआं, स्थान की कमी, बंद मकान, रोशनी एवं स्वच्छ हवा का अभाव, गड़गड़ाहट एवं बहरा कर देने वाला शोरगुल, मच्छर, प्रदूषित भोजन एवं जल आदि की अधिकता, विभिन्न प्रकार के चर्म रोग, बदबूदार एवं सीलन भरे कमरे आदि सब मिलकर स्वास्थ्य पर बुरा असर डालते हैं। नगरों में मृत्यु दर गांव की तुलना में अधिक होने का यह सब प्रमुख कारण है। स्वास्थ्य की सुविधा जुटाने के लिए वहां पार्क, बगीचों खेलकूद की सुविधा जुटाई जाती है। डॉ. प्रभु ने अपने मुंबई सर्वेक्षण में यह पाया कि 61% लोगों ने मुंबई में आने के बाद बीमार रहने की शिकायत की है। 30% लोगों ने परिवार जनों की मृत्यु के लिए नगर में आने के बाद लगी बीमारी को उत्तरदाई माना है। कई लोगों ने अपच एवं भूख ना लगने की शिकायत की। नगरीकरण नगरों में मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और लोग अनिद्रा तथा अकेलेपन से परेशान रहते हैं।

2. अपराध दर में वृद्धि (Increase in Crime Rate) - गांव की तुलना में नगरों में अपराध अधिक होते हैं। परिवार, धर्म, पड़ोस, रक्त संबंध एवं सामाजिक नियंत्रण में शिथिलता के कारण अपराध बढ़ जाते हैं। नगरों में अपरचितता के कारण भी अपराध के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है। वहां अपराधी गिरोह अपराध में प्रशिक्षण देने का कार्य भी करते हैं। चोरी, डकैती, बैंकों को लूटना, आत्महत्या एवं हत्याएं, लड़कियों का अपहरण, बच्चों का अपहरण, धोखाधड़ी, ठगी आदि की घटनाएं होती रहती हैं जो कि नगरीय सामाजिक व्यवस्था को बहुत ही भयंकर रूप से विचलित करती हैं। समाचार पत्रों में आए दिन इस प्रकार के अपराध की घटनाएं छपते रहते हैं।

3. मनोरंजन की समस्या (Problem of Entertainment) - नगरों में मनोरंजन का व्यापारीकरण पाया जाता है। सिनेमा, टेलीविज़न, खेलकूद, पार्क एवं बगीचों के लिए काफी पैसा खर्च करना होता है। यहां व्यापारिक संस्थाओं द्वारा मनोरंजन कराया जाता है जिससे कमजोर आर्थिक स्थिति वाले अपना मनोरंजन नहीं कर पाते हैं इसके विपरीत गांव में खेलकूद, नृत्य, भजनगायन आदि के माध्यम से लोगों का मनोरंजन सुगमता से होता है।

4. सामाजिक विघटन (Social Disorganization)- व्यक्तिवादिता के कारण नगरों में सामाजिक नियंत्रण शिथिल हुआ है। वहां परिवार, धर्म, ईश्वर, रक्त संबंधी, हास परिहास संबंधी नियंत्रण के अभाव में समाज विरोधी कार्य अधिक होते हैं। नगरों में नित्य नए नए परिवर्तन होने से परंपराओं एवं रीति रिवाजों से लगाव नहीं होता। नगरों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष देखने को मिलते हैं जो

सामाजिक विघटन पैदा करते हैं। गरीबी, भिक्षावृत्ति, तलाक, बाल अपराध और अन्य अपराध नगरीय जीवन की प्रमुख समस्याएं हैं। तोड़फोड़, हड़ताल, नारेबाजी नगरीय जीवन की आम घटना है।

5. आवास की समस्या(Residential Problem) - नगरों में एक भयंकर समस्या आवासों की है। नगरों में हवा एवं रोशनीदार आवासों का अभाव होता है। नगरों में कम स्थान पर ज्यादा आवास और ज्यादा लोग निवास करते हैं जिनमें हवा एवं रोशनीदार मकानों का अभाव होता है। कई लोग सड़क के किनारे झोपड़ियां बनाकर रहते हैं कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों में तो एक कमरे में 10 से 15 व्यक्ति रहते हैं। इन आवासों में मूत्रालय अथवा स्नानागार का भी अभाव होता है। नगरों में व्यक्ति इस तरह के स्थानों पर रहने के लिए विवश है क्योंकि निर्धनता के कारण लोग अच्छे मकान का किराया नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार के जीवन स्तर और रहन-सहन के कारण नगरीय क्षेत्रों में व्यक्ति कई प्रकार की बीमारियों से घिरे रहते हैं।

6. भिक्षावृत्ति (Beggary) - नगरों में भिक्षावृत्ति अधिक है। सड़क के किनारे, मंदिर, मस्जिद एवं धार्मिक स्थानों के पास, रेलवे स्टेशन, बस स्टैंड स्थानों पर इनकी लंबी चौड़ी भीड़ देखी जा सकती हैं। भिक्षावृत्ति नगरों में व्याप्त निर्धनता का सूचक है तथा यह अपराध का भी द्योतक है। क्योंकि आजकल महानगरों मैं यहां व्यवसाय के रूप में संपोषित किया जा रहा है।

7. वेश्यावृत्ति (Prostitution) - नगरों में वेश्यावृत्ति अधिक पाई जाती है। यहां यौन अपराधों की अधिकता एवं नैतिक मूल्य में ह्रास के कारण यह एक गंभीर समस्या के रूप में स्थापित हो चुकी है। वेश्यावृत्ति को चलाने के लिए बड़ी मात्रा में लड़कियों को जबरदस्ती विवश किया जाता है कि वह इस व्यवसाय को करें। इस प्रकार का कृत्य भी गंभीर अपराध की श्रेणी में आता है।

8. बढ़ती जनसंख्या (Excess Population) - नगरों में बढ़ती जनसंख्या ने यातायात, शिक्षा प्रशासन एवं सुरक्षा की समस्या पैदा कर दी है। सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना, यातायात एवं सुरक्षा के साधन जुटाना अत्यंत ही कठिन कार्य है।

9. नगरीय सामाजिक संरचना की विषमताओं के कारण वाले लोग विभिन्न प्रकार के मानसिक तनाव एवं संघर्ष के शिकार हो जाते हैं।

1.4.6 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना (Comparison between Rural and Urban Life)-

ग्रामीण और नगरीय सामाजिक जीवन में भेद प्रकट करने के लिए विख्यात समाजशास्त्रियों ने अनेक कसौटियां निर्धारित की हैं। **डॉ. देसाई** ने ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में भेद करने के लिए निम्नांकित 9 आधारों का उल्लेख किया है।

1. व्यवसाय संबंधी भेद
2. पर्यावरण संबंधी भेद
3. समुदायों के आकार संबंधी भेद
4. जनसंख्या के घनत्व संबंधी भेद

5. जनसंख्या में समरूपता तथा विभिन्नता संबंधी भेद
6. सामाजिक गतिशीलता संबंधी भेद
7. आवास-प्रवास की दिशा में भेद
8. सामाजिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण संबंधी भेद
9. समाजिक अंतर क्रिया की पद्धति में भेद प्रोफेसर सोरोकिन और जिमरमैन ने ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में भेद प्रकट करने के लिए निम्नांकित कसौटीओं को आधार बनाया है।

1. **सामाजिक संगठन में अंतर (Difference between Social Organization)-**

ग्रामीण एवं नगरीय सामाजिक संगठन की प्रकृति एवं आधारों में भेद है :

(अ) परिवार- परिवार सामाजिक संगठन की एक महत्वपूर्ण इकाई है। गावों में परिवार अधिकांशत संयुक्त होते हैं। मुखिया का सत्ता महत्वपूर्ण होता है। परिवार ही वहां व्यक्ति की सामाजिक स्थिति निर्धारित करता है वही व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक, मनोरंजनात्मक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक क्रियाओं का केंद्र होता है। गांवों में व्यक्ति पर परिवार के सदस्यों का प्रभाव एवं नियंत्रण अधिक होता है। दूसरी ओर नगरों में व्यक्तिवाद की प्रबलता के कारण छोटे परिवारों की बहुलता पाई जाती है। पारिवारिक दबाव एवं नियंत्रण की अपेक्षा स्वतंत्रता अधिक पाई जाती है।अपने जीवन के अनेक महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति स्वयं ही लेता है। पति-पत्नी एवं परिवार के अन्य सदस्यों के पारस्परिक संबंधों में भी घनिष्ठता नहीं होती, त्याग के स्थान पर व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व दिया जाता है, गांव की अपेक्षा नगरों में वंश का महत्व भी कम होता है।

(ब) विवाह- गांव में विवाह दो परिवारों को जोड़ने वाली कड़ी होती है। विवाह के निर्धारण में परिवारजनों एवं रिश्तेदारों का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। गांव में अधिकांश व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता है इसके विपरीत नगरों में दो व्यक्तियों का विवाह व्यक्तिगत मामला समझा जाता है। विवाह निर्धारण में लड़के और लड़की की इच्छा को अधिक महत्व दिया जाता है। नगरों में प्रेम विवाह, अंतर्जातीय विवाह तथा विधवा विवाह की संख्या गांव की अपेक्षा अधिक है। गांव में बाल विवाह अधिक होते हैं जबकि नगरों में कम।

(स) स्त्रियों की स्थिति - गांव में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति निम्न होती है। वह वहां पर्दा प्रथा का पालन करती हैं तथा उन्हें घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रहना पड़ता है। गांव में स्त्री शिक्षा का अभाव है जबकि नगरों में स्त्रियां अधिक शिक्षित और स्वतंत्र होती हैं। स्वयं अर्जन के कारण से ये आत्मनिर्भर होती हैं। अतः वे अपने जीवन से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम होती हैं जबकि गांव की स्त्रियां आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर ना होने के कारण परिवार पर ही निर्भर रहती हैं। इसके अलावा शहरी स्त्रियां गांव की स्त्रियों की तुलना में कम अंधविश्वासी होती हैं।

(द) पड़ोस - गांव में पड़ोस का अधिक महत्व होता है। आपत्ति के समय पड़ोसी एक-दूसरे की सहायता करते हैं। नगरों में पड़ोस अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता है कई पड़ोसी तो एक दूसरे को जानते तक नहीं।

नगरों में पड़ोसी संबंध आत्मीय एवं घनिष्ठ ना होकर कृत्रिम तथा औपचारिक होते हैं जबकि गांव में पड़ोसियों से संबंध घनिष्ठ रूप में होते हैं।

(ध) सामाजिक संस्तरण - गांव में सामाजिक संस्थान का आधार जाति है। अधिकांश लोग कृषि करते हैं अतः संस्तरण का एक आधार कृषि व्यवस्था भी है। गाँव में एक तरफ किसान और दूसरी तरफ जमींदार होते हैं। नगरों में जाति अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। वर्ग व्यवस्था के आधार पर संस्तरण पाया जाता है एक तरफ श्रमिक एवं मजदूर वर्ग है तो दूसरी तरफ पूंजीपति वर्ग।नगरों में आर्थिक विषमता अधिक है जबकि गांव में आर्थिक विषमता कम है। बोगार्डस कहते हैं कि " अत्यधिक वर्ग विषमता नगर का लक्षण है। ग्रामों में नगर की भांति वर्ग विषमता नहीं है अतः वह आए दिन वहांमालिक और मजदूर के बीच संघर्ष नहीं होते।"

2. सामाजिक नियंत्रण में अंतर (Difference between Social Control) -

ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में सामाजिक नियंत्रण के साधनों के प्रकारों एवं प्रकृति में भी अंतर पाया जाता है। गांवों में सामाजिक नियंत्रण बनाये रखने में अनौपचारिक साधनों, जैसे परिवार, जाति, पंचायत, पडोस, प्रथा, जनरीति, धर्म, नैतिकता एवं जनमत, आदि का अधिक प्रभाव होता है। व्यक्तिगत एवं आमने-सामने के संपर्क के कारण वहां प्रत्येक व्यक्ति पुलिसमैन का कार्य करता है। बीसेन्ज और बीसेन्ज लिखते हैं, "ग्रामीण समुदाय में प्रजा राजा है, रीति-रिवाज और रुढियां अधिकतर व्यवहार को नियन्त्रित करती है।" नगर में नियंत्रण बनाये रखने के लिए औपचारिक साधनों, जैसे पुलिस, जेल, कानून, न्यायालय, गुप्तचर विभाग, सरकार, संविधान एवं द्वैतीयक समूहों, आदि का सहारा लिया जाता है। नगर अपरिचित लोगां का क्षेत्र है, भीड-भाड युक्त वातावरण में वहां कोई किसी की परवाह नहीं करता जैसा कि डेविस कहते हैं, वह (नगरवासी) जब भी चाहे अपरिचितों के सागर में विलीन होकर किसी प्राथमिक समूह के कठोर नियंत्रण से बच सकता है।

3. सामाजिक संबंधों में अंतर (Difference in Social Relations)-

गांवों में जनसंख्या की कमी के कारण सभी लोग परस्पर एक दूसरे को जानते है। उनमें प्रत्यक्ष, प्राथमिक, अनौपचारिक एवं वैयक्तिक संबंध पाए जाते है। वहां व्यक्ति को महत्व दिया जाता है। नगरों में स्थिति विपरीत है। गिस्ट और हेल्बर्ट लिखते हैं, "नगर वैयक्तिक संबंधों की अपेक्षा अवैयक्तिक संबंधों को अधिक प्रोत्साहन देता है।" नगरों में जनसंख्या की बहुलता के कारण व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव पाया जाता है, वहां व्यक्ति को महत्व नहीं दिया जाता। शहरी जीवन यंत्रवत चलता है। अतः वहां अप्रत्यक्ष, औपचारिक, अवैयक्तिक एवं द्वैतीयक संबंध पाए जाते है। गांवों में संबंध सरल एवं सच्चे होते है, किंतु नगरों में बनावटी एवं ऊपरी। गांवों में व्यक्ति का संबंध अधिकतर प्राथमिक समूहों, जैसे परिवार, पडोंस, मित्र मण्डली एवं नातेदारी समूहों से होता है जबकि नगरों में प्रमुखतः द्वैतीयक समूहों से। गांवों में व्यक्ति अपनी आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राथमिक समूहों पर निर्भर होता है जबकि नगरों में उसे अनेक द्वैतीयक समूहों एवं समितियों का सहारा लेना होता है।

4. सामाजिक अंत:क्रिया में अंतर (Difference in Social Interaction)-

गांवों एवं नगरों में सामाजिक अंत:क्रिया के आधर पर भी भेद पाया जाता है। गांवों में प्राथमिक एवं प्रत्यक्ष सहयोग अधिक पाया जाता है। नगरों मे श्रम विभाजन एवं विषेषीकरण के कारण द्वैतीयक एवं अप्रत्यक्ष सहयोग पाया जाता है। गांवों में प्रतिस्पर्द्धा बहुत कम अथवा नहीं पाई जाती है, क्योंकि वहां व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारण, परिवार, जाति एवं वंश के आधार पर होता है। नगर में धन एवं काम का अधिक महत्व होने को कारण प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने के जिए प्रतिस्पर्द्धा करता है। गांवों में प्रत्यक्ष संघर्ष पाया जाता है और लोग शीघ्र ही मरने-मारने पर उतारु हो जाते हैं। वहां भूमि, स्त्री व संपत्ति को लेकर संघर्ष अधिक होते है। कभी कभार परिवार जाति तथा ग्रामों में भी परस्पर संघर्ष देखने को मिलता है। नगरों में अप्रत्यक्ष संघर्ष अधिक पाया जाता है। अतः वहां मानसिक संघर्ष की स्थिति अधिक देखने को मिलती है। गांव की अपेक्षा नगरों में सहिष्णुता अधिक होती है। अतः वहां विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के बीच सामंजस्य अधिक पाया जाता है। ग्रामीण लोग रुढिवादी एवं परंपरावादी होते है। अतः वे नये कानूनों एवं परिवर्तन को शीघ्र स्वीकार नहीं करते है। नगरों में नये कानून एवं अविष्कार स्वीकार कर लिए जाते है। ग्रामों की अपेक्षा नगरों में आत्मसात की प्रक्रिया तीव्र होती है। वहां विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच आदान-प्रदान एवं व्यवस्थापन की प्रक्रिया अधिक चलती है।

5. सामाजिक दृष्टिकोण में अंतर (Difference in Social Outlook)-

गांव की तुलना में नगरों में सामाजिक विघटन अधिक पाया जाता है। गांव वाले भाग्यवादी अधिक होते है। वे प्रकृति तथा ईश्वर में विश्वास करतें है। नगरवासी श्रम को ही अधिक महत्व देते हैं। नगरवासी धर्म के बजाय बुद्धि एवं तर्क को अधिक महत्व देते है। गांव कृत्रिमता और आडम्बर रहित होते हैं जबकि शहरी जीवन में बनावट और आडम्बर की भरमार है। बोगार्डस लिखते हैं "गांव के लोग स्पष्ट बोलने वाले, निष्कपट और सत्यनिष्ट होते है। वे नागरिक जीवन के बहुत से पक्षों की कृत्रिमता से घृणा करते है। नगरों में गांवो की अपेक्षा राजनीति में अधिक रुचि पाई जाती है। गांव परिवर्तन विरोधी होते हैं तो नगर प्रगतिशील।" न्यूमेयर कहते हैं कि "ग्रामीण संस्कृति रुढिवादिता की ओर झुकी रहती है।" रॉस का मत है "नगर जगत मित्र होता है जबकि गांव राष्ट्रव्यापी और स्वदेशाभिमानी होता है।"

6. सामाजिक गतिशीलता और स्थायित्व में अंतर (Difference in Social Mobility and Stability) - ग्रामीण जीवन स्थायित्व का प्रतीक है तो नगरीय जीवन गतिशीलता का। सोरोकिन और जिमरमैन लिखते हैं, "ग्रामीण समुदाय एक घडे में शांत जल के समान है और नगरीय समुदाय केतली मे उबलते हुए पानी के समान स्थायित्व एक का विशेष लक्षण है जबकी गतिशीलता दूसरे का गुण है।" नगरवासी साहसी होते है और किसी भी प्रकार का जोखाम उठाने को तैयार होते है। अतः वे नवीनता, विकास एवं प्रगति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते हैं जबकि गांव के लोग स्थान त्यागना नहीं चाहते। बाढ, भूकंप, महामारी और प्राकृतिक विपदाओं के आने पर ही वे अपना स्थान छोडने को तैयार होते है।

7. आर्थिक जीवन में अंतर (Difference in Economic Life) - नगरीय और ग्रामीण आर्थिक जीवन में काफी अंतर है। सिम्स लिखते हैं कि "जीविकोपार्जन के दो मौलिक रूप से भिन्न रीतियों ने ग्रामीण और नगरीय संसार को अलग कर दिया है।" गाँव मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर है तो नगर व्यवसाय पर।गांव वासियों का जीवन स्तर नगर वासियों की तुलना में भिन्न होता है। इनके अलावा गांव की अपेक्षा नगरों में श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण अधिक पाया जाता है।

8. गांव की सांस्कृतिक जीवन में स्थिरता पाई जाती है जबकि नगर की संस्कृति परिवर्तनशील होती है।

9. गांव में व्यक्तिगत सामाजिक विघटन कम है जबकि शहरों में नैतिक और सामाजिक विघटन बहुत ज्यादा मात्रा में पाया जाता है।

10. ग्रामीण लोक सामुदायिक भावना को अधिक महत्व देते हैं जब की नगरों में व्यक्तिवादी भावना प्रबल होती है। यह सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व देते हैं।

11. नगरों में फैशन का प्रचलन अधिक पाया जाता है।

12. गांव की अपेक्षा नगरों में राजनीतिक चेतना अधिक पाई जाती है।

1.4.7 ग्रामीण एवं नगरीय जीवन की तुलना में कठिनाइयां (Difficulties in comparison between Rural and Urban life)-

उपर्युक्त विशेषताओं का अध्ययन करने के बाद ग्रामीण एवं नगरीय जीवन के बीच तुलना की जा सकती है, किंतु यह तुलना और अंतर एक कठिन कार्य भी है, क्योंकि ग्रामीण व नगरीय जीवन एकदम एक दूसरे से भिन्न नहीं है। आज हमें ग्राम-नगर नैरंतर्य (Rural-Urban Continuum) दिखाई देता है जिसके कारण ग्राम और नगर का भेद समाप्त होता जा रहा है। आज अनेक गांवों में नगरीय जीवन की सुविधाएं उपलब्ध है तथा नगरों में भी ग्रामीण जीवन के तत्वों को अपनाया जा रहा है। ग्राम और नगर मे भेद प्रकट करने के दौरान आने वाली कुछ कठिनाइयों का मैकाइवर एवं पेज ने उल्लेख किया है जो ग्राम-नगर नैरंतर्य की सूचक भी है।

1. सर्वमान्य परिभाषा का अभाव (Lack of universal Definition)- ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में भेद करने में सबसे बड़ी कठिनाई सर्वमान्य परिभाषा का अभाव है। कहीं जनसंख्या को आधार माना गया है तो कहीं पर्यावरण और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियो को। कहीं प्राथमिक संबंधों की प्रधानता को ग्राम और द्वितीयक संबंधों की प्रधानता को नगर कहा गया है तो कहीं पर कृषि कार्य करने वाले क्षेत्र को ग्राम और औद्योगिक कार्य में लगे क्षेत्र को नगर कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि ग्राम एवं नगर के बीच भेद स्पष्ट करने के लिए कोई सर्वमान्य पैमाना नही है। इस संदर्भ में बर्गल ने उचित ही कहा है कि "प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि नगर क्या है, किंतु किसी ने भी इसकी संतोषजनक परिभाषा नहीं दी है।"

2. ग्रामीण और नगरीय जीवन में अंशों का अंतर (Rural and Urban difference-a Matter of Degree) - ग्रामीण और नगरीय जीवन के बीच अंशों का ही अंतर है। प्रत्येक नगर में कई ग्रामीण तत्व देखने को मिलेंगे और प्रत्येक ग्राम में कई विशेषताएं नगर की भी देखने को मिलेंगी। मैकाइवर और

पेज लिखते हैं "परंतु दोनों के बीच इतना स्पष्ट अंतर नहीं है कि यह बताया जा सके कि कहां नगर समाप्त होता है और कहां ग्राम आरंभ होता है।"

3. नगर के विभिन्न पर्यावरण (Heterogenous Environment in Cities) - ग्रामीण व नगरीय जीवन में व्यक्त करने में कठिनाई है कि नगर में विभिन्न पर्यावरण पाए जाते हैं।इन दोनों में तुलना किस आधार पर की जाए। विभिन्न प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों, संप्रदायों, वर्गों एवं व्यवसाय से संबंधित व्यक्ति पाए जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप नगर में विभिन्नता का पर्यावरण उत्पन्न हो जाता है।

4. नगर और ग्राम की परिवर्तनशील प्रकृति (The Changing Character of City and Village)- ग्राम और नगरों का जीवन भी परिवर्तनशील है। यह दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। औद्योगिकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया, नगरों की संस्कृति, आचार-विचार, व्यवहार एवं व्यवसायों ने ग्रामों को प्रभावित एवं परिवर्तित किया है। गांवों में आधुनिक शिक्षा, बिजली तथा अन्य अनेक सुविधाएं उपलब्ध हो रही है। अतः गांवों का नगरीकरण हो रहा है और ग्राम तथ नगर का अंतर कम होता जा रहा है। ग्राम तथा नगर के बीच परस्पर आदान प्रदान की प्रक्रिया को ग्राम करण की संज्ञा दी गई है प्रक्रिया निरंतर चलती रही तो ग्राम एवं नगर का भीड़ भविष्य में काफी कुछ समाप्त हो जाएगा। अतः स्पष्ट है कि ग्रामीण और नगरीय जीवन में भेद करने में अनेक कठिनाइयां है। फिर भी अनेक ऐसे आधर हैं; जैसे जनसंख्या का घनत्व, विस्तार एवं सामाजिक पर्यावरण जिनके आधर पर दोनों प्रकार के जीवन में अंतर किया जा सकता हैं। यह अंतर शुद्ध ग्रामीण और शुद्ध नगरीय जीवन में ही पाया जाता है। व्यावहारिक की अपेक्षा यह अंतर सैद्धान्तिक अधिक है जैसा कि गिस्ट और हेलबर्ट लिखते हैं, "अतः ग्रामीण और नगरीय जीवन का सुपरिचित विभाजन सामुदायिक जीवने के तथ्यों पर आधरित होन की अपेक्षा एक सैद्धान्तिक धारणा है।"

1.4.8 गांव एवं नगर में पारस्परिक अंतःक्रिया (Interaction between Village and City) -

गांव एवं नगर के बीच उपर्युक्त अंतरों के बावजूद भी यह दोनों जीवन एकदम से एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। इन दोनों का ही जीवन परिवर्तित होता रहता है जिसके परिणाम स्वरूप आदान-प्रदान और अंतः क्रिया होती रहती है। ग्राम एवं नगर के पारस्परिक प्रभाव ने ग्रामीणकरण, नगरीकरण ग्राम, नगरीकरण, ग्राम- नगरीय नैरंतर्य आदि प्रक्रियाओं को जन्म दिया। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरुप गांव एवं नगर की विशेषताओं का मिलाजुला रूप प्रकट हुआ है। औद्योगिकरण एवं आर्थिक-सामाजिक विकास ने ग्रामों की आत्मनिर्भरता को समाप्त किया है। अब नगरों की कच्चे माल के लिए ग्रामों पर निर्भरता बढ़ी है। नगरों की प्रबलता और वहां उपलब्ध साधनों की सफलता ने ग्रामवासियों को नगरों की ओर आकर्षित किया है। ग्रामवासियों का नगरीकरण हो रहा है। आज नगरीकृत जीवन नगरी नहीं होकर नगरी जीवन से प्रभावित ग्रामीण जीवन है उसी प्रकार ग्रामीण जीवन नगरो से प्रभावित होकर नगरीकृत जीवन है। ग्राम एवं नगर के संपर्क और अंतःक्रिया के परिणामस्वरुप एक समन्वयपूर्ण अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें ग्रामीण एवं नगरीय विशेषताओं की सहउपस्थिति देखी जा सकती हैं। बड़े नगरों के चारों ओर आसपास बसे उपनगर में दोनों का मिश्रित जीवन देखने को मिलता है।

1.4.9 ग्रामीण-नगरीय सातत्य एवं ग्राम्य-नगरीकरण (Rural-Urban Continuum and Rurbanization)-

ग्राम एवं नगर मानव के मध्य होने वाली अंतः क्रिया के दो स्वरूप हैं। इन दो स्वरूपों में भेद बहुत ही सूक्ष्म है। अतः यह कहना कठिन है कि कहां पर ग्राम की सीमा समाप्त होती हैं और कहां से नगर प्रारंभ होता है। नगर एवं ग्राम का भेद सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। वास्तविक जीवन में हमें ऐसे क्षेत्र भी देखने को मिलेंगे जहां ग्रामीण अवस्था के साथ साथ नगरीय अवस्थाएं भी पाई जाती हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस प्रकार की मध्य स्थिति वाले एवं दोनों प्रकार की स्थितियों के मिश्रण वाले क्षेत्रों का विकास हो रहा है। ऐसे मिलन क्षेत्रों को हम ग्राम्य-नगरीकरण या ग्रामीण नगरीय सातत्य कहते हैं। ऐसे क्षेत्रों में ना तो पूर्ण ग्रामीण अवस्था पाई जाती हैं और नहीं पूर्ण नगरीय अवस्था वरन दोनों की मिलीजुली अवस्था पाई जाती है।

ग्राम-नगर (Rurban) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **गाल्फिन** द्वारा किया गया था। इस अवधारणा के विकास में प्रोफेसर विर्थ का विशेष योगदान है। विर्थ ग्रामीण एवं नगरीय जीवन के दो भिन्न प्रकार की जीवन पद्धतियां मानते हैं।इसी प्रकार रेडफिल्ड, सोरोकिन, जिम्मेरमन, पीकर तथा बेबर ने भी ग्रामीण-नगरीय भेदों का श्रेणीकरण किया है।

ग्रामीण-नगरीय सातत्य एक आधुनिक प्रक्रिया है जो किसी भी ग्रामीण या नगरीय में देखी जा सकती हैं। यह एक ऐसी घटना है जो अंशों में परिलक्षित होती है। वर्तमान समय में किसी भी घटना को न तो पूर्ण रूप से ग्रामीण कह सकते हैं और ना ही पूर्ण रूप से नगरीय। समस्त ग्रामीण घटनाएं एक प्रक्रिया के रूप में कालांतर में नगरीय रूप धारण करती हैं। ग्रामीण-नगरीय सातत्य को मानने वाले विद्वानों का मत है कि ग्राम एवं नगर में अंतर मुख्यतः भौगोलिक, जनसंख्यात्मक और आर्थिक दृष्टि से इतने स्पष्ट नहीं है जितने सामाजिक दृष्टि से। सामाजिक क्रिया की दृष्टि से गांव एवं नगर में भिन्नता पाई जाती है किंतु ग्रामवासियों एवं नगर वासियों की परस्पर अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप ही गांव में नगरीकरण एवं नगरों में ग्राम्यीकरणकी प्रक्रिया विकसित होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं को मिलाकर एक समन्वित रूप पनपा उसे ही गालपिन ग्राम्य-नगरीकरण कहते हैं।

इस संदर्भ में **बर्गल** लिखते हैं "नगर की सीमा के बाहर एक ऐसा विशाल क्षेत्र हैं जहां ग्रामीण एवं नगरीय परिवार इतनी मिश्रित हो जाते हैं नगर या ग्रामीण क्षेत्र कहना नितांत असंभव हो जाता है। ऐसे मिश्रित प्रदेश ग्राम में नगर कहलाते हैं अतः ग्राम्य-नगर क्षेत्र कहलाते हैं।" अतः ग्राम्य-नगर क्षेत्र केवल ग्रामवासियों एवं नगरवासियों के स्थानीय साहचर्य को ही नहीं प्रकट करता वरन यह इससे भी कहीं अधिक है। बड़े-बड़े नगरों के आसपास गांव ही होते हैं जिनमें नगर एवं गाँव की विशेषताएं एक साथ देखी जा सकती हैं। मुंबई और कोलकत्ता में तो व्यक्ति स्पष्ट रूप से यह कहता है कि हम उपनगर (Sub-urb) में रहते हैं। इस नगर तुल्य गांव में नगर की विशेषताओं को देखा जा सकता है। किसी महानगर के बाहरी छोरे पर जो कस्बे बस जाते हैं उन्हें भी उपनगर ही कहते हैं जैसे मुंबई के पास अंधेरी, गोरे एवं दिल्ली के निकट साहिबाबाद आदि। जब गांव एवं नगर एक दूसरे के निकट आते हैं तो दोनों समाज की विशेषताएं की विशेषताएं एक दूसरे के समाज में प्रविष्ट होती हैं। यही कारण है कि हम किसी भी नगर में

ग्रामीण समाज की अनेक विशेषताएं देख सकते हैं। कालांतर में नगर के निकटवर्ती गांव का जीवन नगरीकृत हो जाता है।

1.4.10 बोध प्रश्न

1. नगरीय सामाजिक संरचना को परिभाषित करें तथा विशेषताओं के बारे में बताएं।
2. ग्रामीण व नगरीय सामाजिक संरचना में पाए जाने वाले अंतर का वर्गीकरण करें तथा इन वर्गीकरण के आधारों का भी उल्लेख करें।
3. नगरीय सामाजिक संरचना का अध्ययन क्यों आवश्यक है? इस बिंदु पर भी चर्चा करें। भारतीय गांव एक इकाई के रूप में कार्य करता है। इस कथन की व्याख्या करें।
4. नगरीय सामाजिक संरचना के विघटन के कारणों का उल्लेख करें।
5. नगरीय सामाजिक संरचना में कौन-कौन से नवीन परिवर्तन हो रहे हैं व्याख्या करें। भारतीय समाज के संदर्भ में नगरीय सामाजिक संरचना के महत्व पर प्रकाश डालें।
8. ग्रामीण सामाजिक संरचना एक अवधारणा और एक जीवन विधि दोनों ही है, इस कथन की पुष्टि करें।
9. नगरीय सामाजिक व्यवस्था पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।

1.4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं उपयोगी पुस्तक

1. शर्मा, के. एल. (2010).*भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
2. देसाई, ए. आर. (2012).*भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
3. सिंह, सुरेंद्र. एवं सिंह, रीता. (2008). *मौलिक समाजशास्त्रीय अवधारणाएं*. वाराणसी: बालाजी प्रकाशन.
4. पाटील, डी. अशोक. (2007). *ग्रामीण एवं नगरीय समाजशास्त्र*. भोपाल: मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी.
5. गुप्ता, एम. एल.एवं. शर्मा, डी. डी. (1999). *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन.
6. महाजन, धर्मवीर. एवं महाजन, कमलेश. (2017). *भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
7. लावनिया, एम. एम. एवं. जैन, शशी. के. (1999). *ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रिसर्च पब्लिकेशन.
8. आहूजा, राम. (2007). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
9. महाजन, धर्मवीर. एवं महाजन, कमलेश. (2003). *भारत में समाज*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
10. मुखर्जी, नाथ. रविंद्र. (2001). *भारतीय समाज एवं संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
11. गुप्ता, मोतीलाल. (1997). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.

खंड-2 : सामाजिक संस्थाएं एवं समाजीकरण

इकाई-1: संयुक्त परिवार: अर्थ, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

2.1.1 अध्ययन के उद्देश्य

2.1.2 प्रस्तावना

2.1.3 संयुक्त परिवार: अर्थ एवं परिभाषा

2.1.4 संयुक्त परिवार: लक्षण एवं विशेषताएं

2.1.5 संयुक्त परिवार के प्रकार

2.1.6 संयुक्त परिवार के कार्य (भूमिका एवं महत्व)

2.1.7 संयुक्त परिवार के दोष

2.1.8 संयुक्त परिवार के बदलते प्रतिमान (परिवर्तन)

2.1.9 संयुक्त परिवार : विघटन व कारण

2.1.10 परिवर्तन के दौर में संयुक्त परिवार का स्थायित्व

2.1.11 सारांश

2.1.12 बोध प्रश्न

2.1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.1.1 अध्ययन के उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हमारे विद्यार्थियों को संयुक्त परिवार की संरचना के विषय में कई प्रकार की जानकारियां प्राप्त होंगी:-

1. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी संयुक्त परिवार को अवधारणात्मक, प्रकार्यात्मक एवं संरचनात्मक सभी संदर्भों में समझ सकेंगें।
2. समाज एवं मानव जीवन में संयुक्त परिवार की क्या भूमिका है? इसके विषय में समझ विकसित होगी।
3. संयुक्त परिवार के दोष, किस प्रकार सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था को कुप्रभावित करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थीगण उन कारकों के विषय में समझ पाएंगे।
4. संगठित इकाई के रूप में संयुक्त परिवार किस प्रकार समाज के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है? इस विषय पर संपूर्ण दृष्टि मिलेगी।
5. संयुक्त परिवार संस्था में हो रहे नवीन परिवर्तनों एवं इनके कारणों के विषय में ज्ञानवर्धन होगा।
6. संयुक्त परिवार के कार्य, भूमिका एवं महत्व के विषय में जानकारी मिलेगी ।
7. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी संयुक्त परिवारिक विघटन की समस्या को समझ पाएंगे और इस संरचना को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी करेंगे।

8. संयुक्त परिवारों की विशेषताओं के बारे में जानकारी मिलेगी।
9. संयुक्त परिवारों की संरचनात्मक व्यवस्था विघटन के जिस दौर से गुजर रही है। इस पर विभिन्न विद्वानों के मतों के संदर्भ में जानकारी मिलेगी।

2.1.2 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक संरचना की एक विशेषता के रूप में संयुक्त परिवार का प्रचलन प्राचीन काल से ही रहा है। वास्तव में संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था भारतवर्ष में सर्वत्र ही प्रचलित है, क्योंकि यह हिंदू की भाँति अनेक अहिंदू समुदायों में भी है। इतना अंतर अवश्य है कि कुछ समुदायों में इसका स्वरूप पितृसत्तात्मक है, कुछ में मातृसत्तात्मक। भारतीय परिवारों के लिए परिवार की अवधारणा संयुक्त परिवारों से जुड़ी है नाभिकीय परिवारों से नहीं। **कर्वे** (Kinship Organization in India, p.8) का मत है कि "यहां (भारत में) परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से ही है।" भारतीय धर्म, दर्शन, अर्थव्यवस्था, जाति प्रथा, वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था यहां के सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग हैं। इन सभी में संयुक्त परिवार एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह संस्कृति का संचालक सूत्र रहा है। परिवार का आधार गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का मूल कहा गया है। हमारे धर्मशास्त्रों में जहाँ सन्यासी जीवन एवं संसार त्याग की बात कही गई है, वहीं गृहस्थ जीवन की उपयोगिता के बारे में भी कहे गए हैं। वैदिक काल से लेकर अब तक भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली रही है। यह अलग तथ्य है कि समय और काल के परिवर्तन के साथ-साथ इसकी संरचना में परिवर्तन आते रहे हैं। **मैक्समूलर** ने संयुक्त परिवार को भारत की आदि परंपरा कहा है, जो भारतीयों को वर्षों से सामाजिक परंपरा के रूप में मिलता रहा है। **के.एम.पणिक्कर** (Hindi Society at cross road, p.19) ने कहा है कि सैद्धांतिक रूप से असंबंधित होते हुए भी दोनों संस्थाएं जाति और संयुक्त परिवार व्यवहारिक रूप में एक-दूसरे से गुथी हुई हैं, कि अब वे एक सामान्य संस्था हो गई हैं। **कीथ** एवं **मैकडॉनल** का मत है कि संयुक्त परिवार प्रणाली भारत में अत्यंत प्राचीन है। भारतीय सामाजिक जीवन को समझने के लिए यहां के परिवार व्यवस्था को समझना अत्यंत आवश्यक है। श्रीमती कर्वे की भी मान्यता है यदि हम भारत में किसी भी सांस्कृतिक तथ्य को समझना चाहते हैं तो **3** बातों का ज्ञान आवश्यक है- भाषाई क्षेत्र की संरचना, जाति संस्था और पारिवारिक संगठन इन तीनों कारकों में सभी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं तथा भारतीय संस्कृति के अन्य सभी पहलुओं को अर्थपूर्ण बनाते व आधार प्रदान करते हैं।

2.1.3 संयुक्त परिवार:अर्थ एवं परिभाषा

संयुक्त परिवार की परिभाषा के संबंध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कुछ ने संयुक्त परिवार के संरचनात्मक तत्वों के आधार पर परिभाषित किया है कुछ ने कानूनी आधार पर। इस संदर्भ में **श्रीमती इरावती कर्वे** ने लिखा है कि,"संयुक्त परिवार उन लोगों का एक समूह है जो सामान्यतः एक ही घर में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, जो संपत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं, जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार से एक-दूसरे से रक्त संबंधी होते हैं। (Kinship Organization in India, p.10)" इस परिभाषा के अनुसार संयुक्त परिवार में वे ही लोग सम्मिलित हो सकते हैं जो रक्त संबंधी हो जबकि वास्तविकता

यह है कि कुछ संयुक्त परिवार में अन्य संबंधी भी होते हैं, जैसे पत्नी का भाई, बहन अथवा अन्य कोई रिश्तेदार। यद्यपि परिवार की संपत्ति में इनका कोई हिस्सा नहीं होता, तथापि इन्हें संयुक्त परिवार का सदस्य माना जाता है। यह परिभाषा संयुक्त परिवार के संरचनात्मक आधारों को व्यक्त करने में अवश्य योग देती है।

आर पी देसाई के अनुसार, "हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकांकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात तीन या अधिक) के सदस्य रहते हो, जिसके सदस्य एक दूसरे से संपत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्य द्वारा संबद्ध हो।"

(The Joint family in India, Sociological Bulletin, 1956, p.148)

बी.आर.अग्रवाल ने संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "संयुक्त परिवार के सदस्य परिवार और धर्म, पूंजी के सामूहिक विनियोग, लाभ के सामूहिक उपयोग आदि के लिए परिवार के वयोवृद्ध सदस्य की सत्ता के अधीन होते हैं तथा जन्म, विवाह, मृत्यु के अवसर पर सामूहिक कोष में से खर्च किया जाता है।"

(In a Mobile Commercial Community, Sociological Bulletin,1955, p.141-142)

डॉ. एस.सी. दुबे के अनुसार, "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हो, उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हो और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"

(Human and Culture, p.113)

जौली के अनुसार, "न केवल माता-पिता तथा संतान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य संपत्ति पर रहते हैं बल्कि कभी-कभी इनमें से कई पीढ़ियों तक की संताने, पूर्वज तथा समानांतर संबंधी भी सम्मिलित रहते हैं।"

(Hindu Law and Custom, p.178)

बुलेटिन ऑफ दी क्रिस्चियन इंस्टीट्यूट फॉर द स्टडी ऑफ सोसाइटी (1957, p.48), "संयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार से है, जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्तव्य परायणता के बंधन में बंधे रहते हैं।"

इस प्रकार संयुक्त परिवार से हमारा तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं अथवा एक ही पीढ़ी के सभी भाई अपनी पत्नियों, विवाहित बच्चों तथा अन्य संबंधियों के साथ सामूहिक निवास करते हैं जिनकी संपत्ति सामूहिक होती है, परिवार के सभी सदस्य जन्म, भोजन, उत्सव, त्यौहार और पूजन में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और कर्तव्य से बंधे होते हैं।

2.1.4 संयुक्त परिवार: लक्षण एवं विशेषताएं -

1. सामान्य निवास - (Common Residence) - संयुक्त परिवार के लिए एक सामान्य निवास स्थान होना आवश्यक है। सामान्य निवास स्थान के अभाव में सदस्यों में सहयोगी संबंधों का बना रहना बहुत कठिन है। डॉ. आर पी देसाई ने सामान्य निवास स्थान को संयुक्त परिवार का एक लक्षण नहीं माना है परंतु उनका यह दृष्टिकोण उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि सामान्य निवास स्थान नहीं होगा तो लोग एक जगह पर नहीं रहेंगे जिसके कारण सामान्य पाकशाला, संपत्ति एवं धार्मिक कृत्यों इत्यादि का उपयोग संयुक्त रूप से लोग नहीं कर पाएंगे, जबकि यही संयुक्तता संयुक्त परिवार का विशिष्ट लक्षण है।

2. सामान्य रसोईघर (Common Kitchen) - परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं। ऐसे परिवार में भोजन करने की भी कुछ प्रथाएं होती हैं। किस अवसर पर क्या बनेगा इसका निर्धारण भी परिवार की वयोवृद्ध स्त्री करती हैं। संयुक्त परिवार का भोजन संबंधी नियम यह होता है कि पहले घर का कर्ता अर्थात मुखिया फिर अन्य पुरुष, बच्चों एवं वयोवृद्ध स्त्रियां भोजन करती हैं। सबसे अंत में अन्य सभी विवाहित स्त्रियां, पुत्रियां एवं विधवा स्त्रियां भोजन करती हैं। विवाहित स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती है कि अपने पति की ही थाली में ही भोजन करें।

3. सम्मिलित संपत्ति (Common Property) - संयुक्त परिवार का एक मुख्य लक्षण संपत्ति का सम्मिलित स्वामित्व है। पारिवारिक संपत्ति पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर घर का अधिकार होता है। इस संपत्ति का उपभोग परिवार के सामान्य लाभ के लिए होता है न कि व्यक्ति विशेष के लिए। सभी सदस्यों की आय एक सामान्य कोष में जमा हो जाती है और परिवार का मुखिया प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार उस सम्मिलित कोष में से खर्च करता है। प्रत्येक अपनी योग्यता के अनुसार कमाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार खर्च करता है। संयुक्त परिवार में पुरुष सदस्य चाहे वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो या ना हो, चाहे विवाहित हो अथवा अविवाहित हो, विधवा हो या तलाकशुदा एवं परिवार के सभी बच्चे एक समान रूप से उपलब्ध सुख सुविधाओं का उपयोग करते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का असमान वितरण नहीं किया जाता है।

4. सामान्य पूजा तथा धार्मिक कर्तव्य (Common Worship and Religious Duties) - संयुक्त परिवार का एक महत्वपूर्ण आधार सामान्य पूजा और धार्मिक दायित्व के निर्वाह का है। सभी सदस्य सामान्य पितृ-पूजा के कारण एक-दूसरे से बंधे रहते हैं। पितरों की पूजा घर में स्थान विशेष पर ही की जाती है। वह स्थान पवित्र माना जाता है और सभी सदस्य आध्यात्मिक रूप से उस स्थान से जुड़े रहते हैं। परिवार के सभी सदस्य धार्मिक उत्सव को सम्मिलित रूप से मनाते हैं,अनेक व्रत, धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। परिवार में समय-समय पर अनेक संस्कार जैसे जन्मोत्सव, उपनयन, विवाह आदि सम्पन किए जाते हैं, जिनमें सभी सदस्य सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। संयुक्त परिवार का धार्मिक पक्ष सदस्यों को एक सूत्र में बांधे रखता है, उनमें समूह कल्याण की भावना को प्रोत्साहित करता है और सभी सदस्यों को एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने की प्रेरणा देता है। **5. बड़ा आकार (Larger Size) -** संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं जैसे दादा, पिता, पुत्र, उनकी पत्नियां और अनेक नाते रिश्तेदार। इन सब लोगों के एक साथ रहने से घर का बड़ा होना स्वाभाविक है। संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या काफी पाई जाती हैं। गांव में शहर की अपेक्षा आकार वाले संयुक्त परिवार देखने को मिलते हैं।

6. कर्ता का सर्वोच्च स्थान (Highest Position of Head of the family)- परिवार का कोई बुजुर्ग सदस्य मुखिया के रूप में कार्य करता है जिसे संयुक्त परिवार में कर्ता कहा गया है। परिवार के सभी सदस्यों में कर्ता की स्थिति सर्वश्रेष्ठ होती हैं, उसे अन्य सदस्यों का आदर प्राप्त होता है। सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, उसके अनुशासन में रहते हैं। परिवार के प्रत्येक मामले में महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। वह सदस्यों के अनुचित कार्य व व्यवहार को नियंत्रित करता है। परिवार से संबंधित सभी महत्वपूर्ण कार्य उसकी सलाह के अनुसार होता है। अन्य सभी क्षेत्रों में भी वह परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। परिवार की एकता बहुत कुछ मात्रा में कर्ता के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है।

7. सहयोगी व्यवस्था (Cooperative Organization) - संयुक्त परिवार, सदस्यों के पारस्परिक सहयोग पर आधारित होता है। सहयोग के अभाव में परिवार का अधिक समय तक संयुक्त बना रहना असंभव है। संयुक्त परिवार की प्रकृति समाजवादी ढंग की है, इसमें प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करता है, उत्पादन में योग देता है तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है। संयुक्त परिवार में, "एक सबके लिए और सभी एक के लिए" नामक आदर्श की अभिव्यक्ति होती है। संयुक्त परिवार उत्पादन इकाई के रूप में कार्य करता है परिणामस्वरूप परिवार के विभिन्न सदस्यों में परस्पर सहयोग पाया जाता है।

8. एक निश्चित संस्तरण (A definite Hierarchy) - संरचनात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों के अधिकारों और स्थितियों में भिन्नता पाई जाती हैं। जिनमें साधारणतः कोई परिवर्तन संभव नहीं होता। संयुक्त परिवार में सर्वोच्च स्थान कर्ता व दूसरा स्थान उसकी पत्नी का होता है। वह धार्मिक कार्यों का संचालन करती हैं और परिवार की अन्य स्त्रियों को विविध प्रकार के कार्य करने की आज्ञा देती है। इस संस्तरण में तीसरा स्थान कर्ता के भाइयों को दिया गया है जो उसे सहयोग प्रदान करते हैं। चौथा स्थान कर्ता के सबसे बड़े पुत्र को दिया जाता है जिसका धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्व है। श्राद्ध के अवसर पर पिंड आदि अर्पित करने का दायित्व उसी का माना जाता है। संयुक्त परिवार में पांचवा, छठा और सातवां स्थान क्रमशः छोटे पुत्रों, पुत्रों की पत्नियों और पुत्रियों को प्रदान किया गया है। संयुक्त परिवार की संरचना में विधवाओं की स्थिति सबसे निम्न मानी गयी है।

9. तुलनात्मक स्थायित्व (Comparative Permanence) - संयुक्त परिवार में अन्य प्रकार के परिवारों की तुलना में स्थायित्व पाया जाता है क्योंकि सभी सदस्य कर्तव्यपरायणता के सूत्र में बंधे रहते हैं, एक-दूसरे से मिलकर सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। इसमें सदस्य संख्या अन्य प्रकार के परिवारों की तुलना में अधिक होता है। किसी सदस्य की मृत्यु होने, अपंग या वृद्ध हो जाने पर अथवा किसी की नौकरी छोड़ जाने पर ऐसे परिवार की संरचना विघटित नहीं होती। ऐसे किसी भी स्थिति का अन्य सभी सदस्य मिलकर मुकाबला करते हैं। ऐसा दो कारणों से संभव है प्रथम, ऐसे परिवार में आर्थिक स्थिरता पाई जाती हैं, अनेक लोग कमाने वाले होते हैं जिनका आय सामान्य कोष में जमा होता है और उसी से संपूर्ण परिवार की आवश्यकता के अनुसार खर्च होता रहता है। द्वितीय, परिवार में अनेक पीढ़ियों के सदस्यों की एक साथ रहने से सांस्कृतिक निरंतरता बनी रहती है। सांस्कृतिक विशेषताएं पिता से पुत्र को और पुत्र से पौत्र को, पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि परिवार में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्थायित्व पाया जाता है।

2.1.5 संयुक्त परिवार के प्रकार-

भारत में संयुक्त परिवार के अनेक रूप विद्यमान हैं। सत्ता, वंश, स्थान, पीढ़ियों की गहराई व संपत्ति के अधिकार की दृष्टि से परिवार के निम्नांकित रूप पाए जाते हैं -

1. सत्ता, वंश एवं स्थान के आधार पर-

अ- पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार- उपर्युक्त प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का केंद्र बिंदु अर्थात प्रमुख होता है तथा वंश परंपरा का चलन उसी के नाम के आधार पर होता है। ऐसे

परिवारों में पत्नियां पति के घर पर ही आकर निवास करती हैं एवं पुरूष पक्ष के तीन-चार पीढ़ियों के सदस्य एक साथ करते हैं। ऐसे परिवारों में संपत्ति का स्थानांतरण पिता द्वारा पुत्र को होता है। भारतीय समाज में हमें इसी प्रकार का परिवार देखने को मिलता है।

ब- मातृसत्तात्मक, मातृवंशी एवं मातृस्थानीय परिवार – इस प्रकार के परिवारों में माता का प्रमुख स्थान देखने को मिलता है। परिवार की संपत्ति पर मां का स्वामित्व होता है एवं उत्तराधिकार माता से स्त्रियों को ही मिलता है। वंश-परंपरा के चलन का आधार भी माता होती है अर्थात वंश नाम माता से पुत्रियों को मिलता है। इस प्रकार के संयुक्त परिवार में एक स्त्री, उसके भाई-बहन तथा परिवार की सभी स्त्रियों के बच्चे निवास करते हुए मिलेंगे। केरल में ऐसे परिवार को **'थारवाद' (तरवाद)** के नाम से पुकारते हैं। इस तरह के परिवार **नायरों** और असम के **खासी** और **गारो** लोगों में पाए जाते हैं।

2. पीढ़ियों की गहराई के आधार पर-

अ. संयुक्त परिवार का उदग्र (Vertical) प्रारूप- इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक ही वंश के कम से कम तीन पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं जैसे- दादा, पिता, अविवाहित पुत्री और पुत्र। डॉ. देसाई ने ऐसे ही परिवारों को संयुक्त माना है।

ब- संयुक्त परिवार का (Horizontal) प्रारूप- इस प्रकार के परिवारों में भाई का संबंध अधिक महत्वपूर्ण होता है अर्थात ऐसे परिवारों में दो या तीन भाइयों के एकांकी परिवार एक साथ निवास करते हैं।

स- संयुक्त परिवार का मिश्रित (Mixed) प्रारूप- संयुक्त परिवार का एक रूप उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिवार का मिश्रित रूप है जिसमें दो या तीन पीढ़ियों के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

3. संपत्ति के अधिकार की दृष्टि से- संपत्ति में अधिकार की दृष्टि से संयुक्त परिवार को मिताक्षरा एवं दायभाग दो भागों में बांटा जा सकता है।

अ- मिताक्षरा संयुक्त परिवार **विज्ञानेश्वर** द्वारा लिखित मिताक्षरा टीका के नियमों पर आधारित है। बंगाल और असम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। इन परिवारों की मुख्य विशेषताएं हैं कि इसमें पुत्र को जन्म से ही पिता की संपत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है, स्त्रियों को संपत्ति में कोई अधिकार नहीं होता है, एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर के कोई पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र नहीं है तो उसकी संपत्ति उसके भाई आपस में बांट लेंगे, स्त्री को धन के अतिरिक्त कोई संपत्ति नहीं दी जाएगी, पुत्र पिता के जीवित रहते हुए भी कभी भी अपने हिस्से की मांग कर सकते हैं, संपत्ति पर पिता का सीमित अधिकार है वह विशेष ऋण एवं धार्मिक कार्यों के लिए संयुक्त संपत्ति को बेच सकता है।

ब- दायभाग संयुक्त परिवार के नियम **जीमूतवाहन** द्वारा लिखित दायभाग ग्रंथ पर आधारित है। इस प्रकार के परिवार बंगाल और असम में पाए जाते हैं। इनकी मुख्य विशेषताएं हैं कि इनमें पिता के मरने के बाद ही पुत्र का संपत्ति पर अधिकार होता है, पिता के जीवित रहते पुत्र संपत्ति के बंटवारे की मांग नहीं कर सकता है, पिता संपत्ति का निरंकुश अधिकारी होता है। अपनी संपत्ति को मनमाने ढंग से खर्च कर सकता है। पुत्र का उसमें भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं होता है, पिता के मरने पर पुत्र ना होने पर उसकी पत्नी को मिलती है, इसमें पुरुष के साथ साथ स्त्रियाँ भी संपत्ति में उत्तराधिकारी होती हैं।

एक लंबे समय तक संपत्ति की दृष्टि से परिवार इन दो भागों में बाँटा हुआ था, किंतु सन **1956** के **"हिंदू अधिकार अधिनियम"** ने यह भेद समाप्त कर देश में एक सी व्यवस्था लागू कर दी है और स्त्री-पुरुषों को संपत्ति में समान अधिकार प्रदान किए हैं।

2.1.6 संयुक्त परिवार के कार्य भूमिका एवं महत्व -

1. बच्चों का समुचित पालन-पोषण - संयुक्त परिवार बच्चों के पालन पोषण के लिए उत्तम स्थान है। ऐसे परिवार में वृद्ध सदस्य जैसे-दादा, दादी, नाना, नानी भी होते हैं जो कठोर परिश्रम तो नहीं कर पाते परंतु सुगमता से बालकों की देखभाल कर लेते हैं। उनके सामाजिकरण एवं शिक्षण में भी योगदान देते हैं। सहयोग और सामंजस्य बच्चा परिवार से ही सीखता है। वर्तमान में एकांकी परिवारों में पति और पत्नी दोनों के कामकाजी होने के कारण बच्चों के समुचित देखरेख में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न हो रही है। इस परिस्थिति में संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

2. प्रशिक्षण एवं समाजीकरण का उत्तम स्थल - संयुक्त परिवार में विभिन्न सदस्यों के संपर्क में रहते हुए बालकों को शिक्षा प्राप्त होती है, बड़े-बूढ़ों के अनुभवों का उन्हें लाभ मिलता है। समय-समय पर उनका मार्गदर्शन होता रहता है। यह परिवार समाजीकरण में भूमिका निभाते हैं। ऐसे परिवार में सद्गुणों का विकास होता है। यहां वे सहयोग, त्याग, सहनशीलता, परोपकार, सेवा आदि का पाठ सीखते हैं जिसके कारण ऐसे परिवारों के सदस्यों में व्यक्तिवादी प्रवृत्ति नहीं पनप पाती है। यहां उनमें सामूहिकता एवं समष्टिवाद की भावना का विकास होता है।

3. धन का उचित उपयोग - संयुक्त परिवार में एक सामान्य कोष होता है जिसमें से सदस्यों की आवश्यकतानुसार चाहे वह कमाता हो या नही, धन खर्च किया जाता है। कर्ता के नियंत्रण के द्वारा अनावश्यक खर्चों से बचा जाता है। परिवार में आय और संपत्ति पर किसी भी सदस्य का विशेषाधिकार नहीं होता है इसलिए सभी सदस्य समान रूप से लाभ के भागीदार होते हैं। लोग अपनी क्षमता अनुसार आय प्रदान करते हैं और आवश्कतानुसार खर्च करते हैं।

4. संपत्ति के विभाजन से बचाव - संयुक्त परिवार में सदस्य सम्मिलित रूप से रहते हैं जिससे संपत्ति के विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार संयुक्त संपत्ति का उपयोग व्यापार अथवा किसी धंधे में करके संपत्ति में और अधिक बढ़ोतरी की जा सकती है। संयुक्त परिवार कृषि के लिए और भी अधिक उपयोगी प्रमाणित हुए हैं क्योंकि इन्होंने भूमि के विभाजन पर रोक लगाकर उत्पादकता को बढ़ाने में सहयोग दिया है। संयुक्त संपत्ति होने के कारण अनावश्यक खर्चों पर भी रोक लगी है और कोई भी उस संपत्ति का मनमाना प्रयोग नही कर सकता। अतः हम देखते हैं कि संयुक्त परिवार में संपत्ति की सुरक्षा भी होती हैं।

5. श्रम विभाजन - इरावती कर्वे के अनुसार संयुक्त परिवार में श्रम विभाजन के बहूत लाभ प्राप्त हो जाते हैं। सब सदस्यों को उनकी योग्यता को ध्यान में रखकर ही कार्य दिया जाता है। वृद्ध, कमजोर, शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को बिना उन पर अनावश्यक भार डालें, उनकी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य दिए जाते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार में पुरुष धन उपार्जन का कार्य करते हैं और स्त्रियां बालकों के पालन पोषण का कार्य तथा घर की देखभाल करती हैं। आर्थिक क्रियाओं में भी योग देती हैं। श्रम के उचित विभाजन के परिणाम स्वरुप

सबकी कार्यकुशलता बनी रहती हैं और परिवार को श्रम विभाजन का पूर्ण लाभ मिल पाता है।

6. आपत्तियों का पारिवारिक बीमा - संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए बीमा कंपनी के रूप में कार्य करता है। यदि किसी सदस्य की नौकरी छूट जाए, कोई दुर्घटनाग्रस्त, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने में अयोग्य हो जाए तो यह व्यवस्था उन सब की देखभाल और सेवा सुश्रूषा करता है, उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करता है। व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है, व्यक्तित्व के स्वास्थ्य विकास में योग देता है। अनाथ बच्चों, विधवाओं और वृद्धों के लिए संयुक्त परिवार उत्तम आश्रय स्थल है। यहां इन सब की आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाती है और उनका सम्मान भी बना रहता है।

7. अनुशासन एवं नियंत्रण - संयुक्त परिवार में सभी सदस्य मुखिया के आदेशानुसार कार्य करते हैं। इस कारण इस प्रकार के परिवारों में नियंत्रण बना रहता है। एकांकी परिवार में बड़े-बूढ़े व्यक्ति के न होने के कारण व्यक्ति सापेक्ष रूप से स्वतंत्रता पूर्वक आचरण करता है, उस पर अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों का प्रभाव बहुत कम होता है। संयुक्त परिवार में प्रत्येक को मुखिया के आदेशानुसार ही कार्य करना होता है और उनके नियंत्रण में रहना पड़ता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों का एक दूसरे पर अंकुश बना रहता है।

8. संस्कृति की रक्षा - भारतीय संस्कृति की निरंतरता और स्थायित्व को बनाए रखने में संयुक्त परिवार का अपूर्व योगदान रहा है। ए परिवार अपने सदस्यों को प्रथाओं, परंपराओं, रूढ़ियों और सामाजिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। विविध सामाजिक और धार्मिक उत्सव के माध्यम से संयुक्त परिवार, व्यवहार के सामान्य प्रतिमानों को बनाए रखते हैं। संयुक्त परिवार इन सबको पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी संतानों को स्थानांतरित करते हैं।

9. राष्ट्रीय एकता - को प्रोत्साहन एवं देश सेवा-संयुक्त परिवार की संरचना ही कुछ इस प्रकार की होती है कि व्यक्ति उसमें स्वतः ही त्याग, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग आदि सीखता है। इन भावनाओं के कारण राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। संयुक्त परिवार में रहकर कुछ सदस्य अपना जीवन देश सेवा में भी लगा सकते हैं क्योंकि संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने से वे पारस्परिक दायित्वों से मुक्त हो सकते हैं, सार्वजनिक कल्याणकारी कार्य, समाज सेवा और देश सेवा भी कर सकते हैं।

2.1.7 संयुक्त परिवार के दोष

विविध क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों एक समुचित प्रभाव भारतीय परिवार पर पड़ा है। वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण के कारण आर्थिक व्यवस्था में कई क्रांतिकारी परिवर्तन आए हैं, स्त्रियों को अधिकार प्राप्त हुए हैं, लोगों की धार्मिक विश्वासों में अंतर आया है, विकसित एवं विकासशील देश आधुनिकीकरण की ओर बढ़े हैं, विवाह और पारिवारिक जीवन के संबंध में विचारों और अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन आया है। पुराने आदर्श प्रतिमान और नियंत्रण का प्रभाव कम होता जा रहा है परंतु उनके स्थान पर जो नवीन प्रतिमान का विकास हुआ है वह संतोषजनक नहीं है। वर्तमान युग में संयुक्त परिवार का परंपरागत संगठन बदलती हुई परिस्थितियों से अनुकूलन करने में धीरे-धीरे असफल सिद्ध हो रहा है। भारत में जैसे-जैसे रूढ़ियों का प्रभाव बढ़ा और अशिक्षा में वृद्धि हुई, संयुक्त परिवार के परंपरागत आदर्श एक संकीर्ण विचारधारा में परिवर्तित होने लगे। संयुक्त परिवार की जिस व्यवस्था का निर्माण सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक स्थायित्व के लिए

हुआ था उसी व्यवस्था में रूढ़ियों और कर्मकांडों में अभूतपूर्व वृद्धि करके एक जटिल समस्या का रूप ले लिया है। पणिक्कर का कथन है कि भारत में अनेक बुद्धिजीवी आज भी संयुक्त परिवार को इस आधार पर उपयोगी मानते हैं कि इसने व्यक्तिगत स्वार्थों का दमन करने और वृद्धों, बेरोजगारों तथा असहायों का सामाजिक बीमा करने में महत्वपूर्ण योग दिया है परंतु वास्तविकता यह है कि संयुक्त परिवार का प्रेरणा स्रोत मात्र अपने ही परिवार के कल्याण में ही वृद्धि करता है देश और समाज के नही। अतः यह माना जा सकता है कि वर्तमान परिस्थितियों में संयुक्त परिवार व्यवस्था समाज के लिए उपयोगी न रहकर अनेक दोषों से युक्त एक विघटित संस्था बन चुकी है। संक्षिप्त रूप में इसके कुछ दोष है-

1. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि
2. कुशलता में बाधक
3. गतिशीलता में बाधक
4. व्यक्तित्व के विकास में बाधक
5. द्वेष और कलह का केंद्र
6. अत्यधिक संतानोत्पत्ति
7. स्त्रियों की दुर्दशा के लिए उत्तरदाई
8. गोपनीय स्थान का अभाव
9. सामाजिक समस्याओं को प्रोत्साहन
10. शुष्क एवं नीरस वातावरण
11. कर्ता की स्वेच्छाचारिता

2.1.8 संयुक्त परिवार के बदलते प्रतिमान

वर्तमान में औद्योगिकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप न केवल व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ी है बल्कि एक ही जाति और परिवार के लोगों के व्यवसाय और आय में काफी अंतर आया है। उनके सामाजिक प्रस्थिति में ही नही बल्कि उनके दृष्टिकोण में भी काफी भिन्नता आयी है। उच्च शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण व्यक्ति में उदार, तार्किक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पनपा है जिसका स्पष्ट प्रभाव पारिवारिक संरचना पर भी देखने को मिलता है। आधुनिक भारत में संयुक्त परिवार संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा है। इसके ढांचे, कार्य, आदर्श और नैतिकता में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। **विलियम गुडे** का कथन है कि परिवार से संबंधित परिवर्तनों का विश्लेषण करना इसलिए अत्यधिक कठिन हो जाता है कि परिवार के भूतकालीन रूप को हम अधिक स्पष्ट रूप से नहीं जानते हैं। जो कुछ और लेख प्राप्त होते हैं वह भी एक समय विशेष की संपूर्ण पारिवारिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।इस कठिनाई के बीच संयुक्त परिवार में होने वाले समस्त परिवर्तनों को हम निम्नांकित रूप से स्पष्ट कर सकते हैं-

1. परंपरागत विचार प्रतिमानों में परिवर्तन - लोगों ने परंपरागत विचारों को त्याग कर नए विचारों को धीरे धीरे ग्रहण करना शुरू किया है और कुछ समय के पश्चात ए नए विचार पुराने व्यवहार प्रतिमानों को प्रभावित कर

पाते हैं। एक पीढ़ी के लोग जब नवीन विचारों को ग्रहण कर लेते हैं तो उनके व्यवहार में थोड़ा बहुत परिवर्तन आता है परंतु उसके बाद वाली पीढ़ी में यह परिवर्तन तेजी से आता है। जिन नवीन विचारों ने भारत में पारिवारिक प्रतिमानो को परिवर्तित करने में योग दिया उनमें से मुख्य हैं- प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के पूर्ण स्वतंत्रता और अवसर प्राप्त हो। वर्तमान समय में यौन संबंधी परंपरागत दृष्टिकोण में अंतर आया है, प्रेम विवाह का महत्व बढ़ा है, धार्मिक परंपरा का महत्व कम हो रहा है और धार्मिक निरपेक्षवाद की प्रक्रिया तीव्र हो रही है। लोग प्रजातांत्रिक और समाजवादी दृष्टिकोण को अपना रहे हैं फलस्वरूप सामाज एक पवित्र परिवार से धर्मनिरपेक्ष परिवार की ओर बढ़ रहा है। धर्म निरपेक्ष परिवार में व्यक्ति परिवर्तनों को सुगमता से स्वीकार कर लेता है।

2. संयुक्त परिवार के स्वरूपात्मक प्रतिमानों में परिवर्तन

औद्योगिकरण व नगरीकरण के कारण देश की आर्थिक संरचना में मुद्रीकरण की ओर कदम बढ़ा रहे हैं और राजनीतिक संरचनाओं का विस्तार होता जा रहा है। व्यवसायिक सुविधाओं के बढ़ने से एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य अलग-अलग व्यवसायों में अलग-अलग स्थानों पर कार्य करने लगे हैं। उनकी आय में भी काफी असमानता पाई जाती है। परिणाम यह हुआ है कि संयुक्त प्रकार के जीवन की विशेषताएं समाप्त होने लगी है और एक ही परिवार के सदस्यों के हितों, दृष्टिकोण तथा आय में विभेद पैदा हो गए हैं। नई शिक्षा व्यवस्था के कारण पुरानी और नई पीढ़ियों के दृष्टिकोण में अंतर उत्पन्न हुआ है। जाति संरचना में भी परिवर्तन हुए हैं, जाति बंधन शिथिल होते जा रहे हैं तथा अंतर्जातीय विवाह होने लगे हैं। विभिन्न जाति के नव विवाहित लड़के लड़कियों के लिए संयुक्त परिवार में अपना अनुकूलन करना कुछ कठिन रहता है, ऐसी दशा में अंतर्जातीय विवाह के बढ़ने के साथ-साथ परिवार के प्रतिमान और सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आना स्वभाविक है।

3. संयुक्त परिवार के संरचनात्मक प्रतिमानों में परिवर्तन -

अ. परिवार के आकार में परिवर्तन- आकार का अर्थ परिवार में सदस्यों की संख्या से है।

जहां पहले पति पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त तथा रक्त एवं विवाह संबंधी बहुत सारे नाते रिश्तेदार परिवार में रहते थे अब वही परिवार का आकार पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चों तक सीमित रह गया है। इसका तात्पर्य है कि अधिकांश संयुक्त परिवार एकांकी परिवार में विभाजित हो रहे हैं।

ब. कर्ता की सत्ता का ह्रास - वर्तमान परिवारों में कर्ता का आदेश न तो अंतिम है न हीं उनको ईश्वरीय आदेश के रूप में देखा जाता है। आयु की अपेक्षा व्यक्तिगत योग्यता को परिवार में अधिक महत्व दिया जाने लगा है। समस्या का हल केवल कर्ता के द्वारा न होकर सभी के लिए और सभी के द्वारा होता है। परिवार की परंपरागत व्यवस्था में ह्रास हो जाने के कारण सभी सदस्य समान अधिकारों की मांग करने लगे हैं और इस प्रकार संयुक्त परिवार अधिनायकवाद की सीमा के बाहर जनतांत्रिक आदर्शों की ओर उन्मुख हो रहा है।

स. स्त्रियों की शक्ति में वृद्धि - आधुनिक परिवार स्त्री को घर की चारदीवारी के अंदर बंद रखकर कुलवधू का तथाकथित सम्मान नहीं देना चाहते हैं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में पुरुष के समान अधिकार प्रदान करने के पक्ष में हैं। स्त्रियों में स्वयं सामाजिक चेतना बढ़ी है। जीवन की जटिलताओं में वृद्धि होने से स्त्रियों ने सभी कार्यों को करना प्रारंभ कर दिया है जिससे परिवार की बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। परिवार में आज स्त्री की स्तिथि एक सहयोगी तथा मित्र की है किसी सेविका कि नही।

द. विवाह के स्वरूप में अंतर - संयुक्त परिवार की संरचना का आधार अंतर्जातीय विवाह और कुलीन विवाह की पद्धतियां थी। आधुनिक परिवारों का संगठन सामाजिक और वैधानिक रूप से केवल एक विवाह के द्वारा ही संभव है। इस विशेषता ने परिवार के आकार को और भी छोटा कर दिया है, इसके अतिरिक्त विलंब विवाह के प्रति बढ़ती हुई रूचि के कारण परिवार परंपरा पर आधारित न होकर जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होने लगा है।

य. अस्थायित्व - आधुनिक परिवार की संरचना अपेक्षाकृत अधिक अस्थाई हो गई है। सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होने से तथा परिवार का आकार छोटा रह जाने के कारण सरलतापूर्वक स्थान परिवर्तित किया जाने लगा है। स्त्रियों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करने के कारण कभी-कभी तो पति-पत्नी और बच्चों को एक दूसरे से काफी दूर रहना पड़ता है। पति-पत्नी को वैधानिक रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाने से परिवारों की स्थिरता किसी भी समय समाप्त हो सकती है। बहुत से परिवारों द्वारा किराए के मकानों और होटलों में रहने के कारण घर अथवा गृहस्थी जैसी भावनाओं का प्रभाव निरंतर कम होता जा रहा है।

र. पारिवारिक संबंधों में परिवर्तन - व्यक्तिवादिता और निजी संपत्ति की भावना ने परिवार के सदस्यों के बीच ही औपचारिक संबंधों विकसित किया है। संबंधों के इस नवीन रूप ने सदस्यों की परंपरागत स्थिति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न किए है। वास्विकता तो यह है कि व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के सामने पारस्परिक कर्तव्य की भावना धुंधली होती जा रही है। परिवार की नियंत्रण शक्ति बहुत कम रह जाने के कारण परिवारों की संरचना एक औपचारिक संगठन के रूप में बदलने लगी है।

ल. सामूहिकता में कमी - परंपरागत संयुक्त परिवार की एकता में सामूहिक निवास, सामूहिक संपत्ति एवं सामूहिक भोजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, किंतु वर्तमान में परिवार के सदस्यों द्वारा अलग-अलग स्थानों पर रहने के कारण सामूहिक पूजा एवं रसोई तो सम्भव नहीं है और संपत्ति का भी विभाजन होने लगा है। इससे परिवार की सामूहिकता समाप्त हुई है व एकांकी प्रवृत्ति प्रबल हुई है।

4. परिवार के प्रकार्यात्मक प्रतिमानों में परिवर्तन –

1. सर्वप्रथम संयुक्त परिवारों के सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आज अधिकांश परिवार व्यक्ति की परंपरागत संस्कृति की शिक्षा नहीं बल्कि अपने सदस्यों के व्यवहार के नए आदर्श और संस्कृति के परिवर्तित रूप की शिक्षा देना को आवश्यक समझते हैं। कुछ समय पहले तक सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य धर्म और प्रथाओं से नियंत्रित होते रहते होते थे लेकिन आज प्रथा, परंपरा धर्म, रीति-रिवाज व लोकाचारों के बंधन ढीले पड़ते जा रहे हैं। शिक्षा के प्रभाव से रूढियों के स्थान पर तर्क में वृद्धि हो रही है। परिवार में सभी सदस्य को पूर्ण स्वतंत्रता मिली है, इसके परिणामस्वरूप सदस्यों की व्यक्तिगत रूचि और नवीन आदर्शों का महत्व कहीं अधिक बढ़ गया है। इससे परिवार के परंपरागत नियंत्रण में कमी आई है। व्यक्ति की स्थिति को निर्धारित करने का परंपरागत कार्य आज परिवार द्वारा नहीं होता है, बल्कि संस्थाएं इस कार्य को करने लगे हैं। यही कारण है कि आज परिवार और व्यक्ति दो इकाई बन गए हैं और परिवार का विघटन होने से व्यक्ति का विघटन होना अब आवश्यक नहीं रह गया है।

2. धार्मिक कार्य में परिवर्तन भी अब परिवार निरंतर स्पष्ट होते जा रहे हैं। कुछ समय पहले तक संयुक्त परिवार के संगठन का आधार धर्म का पालन था लेकिन आज तर्क का महत्व बढ़ने तथा स्थान परिवर्तन में वृद्धि होने से

परिवार के धार्मिक कार्यक्रम कम होते जा रहे हैं। वर्तमान जीवन में धर्म का अर्थ तत्कालीन कर्तव्य भावना से है और इस प्रकार आधुनिक परिवारों के धार्मिक कार्यों में इनकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए महत्वपूर्ण संशोधन हुए हैं। यही कारण है कि परिवार में धार्मिक उत्सव का महत्व कम होता जा रहा है।

3. परिवार के आर्थिक कार्य में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व तक सभी प्रमुख आर्थिक क्रियाएं संयुक्त परिवार द्वारा ही की जाती थी। विशेष रूप से सदस्यों के बीच श्रम विभाजन करना और जीविकोपार्जन के साधनों का निर्धारण करना परिवार का दायित्व था लेकिन व्यक्तिवादिता, निहित स्वार्थ और निजी संपत्ति की भावना के कारण आर्थिक क्रियाओं का चुनाव और उसके लाभ अथवा हानि का दायित्व व्यक्तिगत आधार पर ही निर्धारित होता है। इसके पश्चात यह भी सच है कि आर्थिक उत्पादन का दायित्व भले ही परिवार से अन्य संस्थाओं को हस्तांतरित हो जाए लेकिन उपभोग की इकाई के रूप में परिवार का महत्व आज भी बना हुआ है।

4. परिवार के मनोरंजन संबंधी कार्य की प्रकृति में भी आधारभूत परिवर्तन हुए हैं। प्राथमिक रूप से संयुक्त परिवार मनोरंजन का एक मात्र स्थान थे। अवकाश के समय में सभी सदस्य एक स्थान पर बैठ कर स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त करते थे। आधुनिक युग में मनोरंजन का संपूर्ण कार्य क्लबों, नाटकघरों, चलचित्रों, टेलीविजन और मित्र संगोष्ठियों ने ले लिया है। कुछ लोगों का तो यहां तक विचार है कि इस कार्य का परिवार से कोई संबंध नहीं रह गया है। वास्तव में आज मनोरंजन के कुछ कार्य परिवार को प्राप्त हो रहे हैं और कुछ कार्य संस्थाओं को स्थानांतरित हो रहे हैं। इस प्रकार परिवार के मनोरंजन संबंधी कार्यों का केवल रूपांतरण हुआ है उनके महत्व में कोई कमी नहीं आई है।

5. संयुक्त परिवार के अन्य कार्यों में भी परिवर्तन आया है जैसे शैक्षणिक कार्यों, संरक्षण देने वाले कार्यों तथा व्यक्तित्व के विकास संबंधित कार्य में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान परिवारों में सभी सदस्यों का जीवन इतना जटिल और व्यस्त होता जा रहा है कि उनसे अनौपचारिकता की आशा रखना व्यर्थ है। परिवार के नियंत्रण शक्ति में भी कमी हो जाने से परिवार द्वारा सदस्यों को संरक्षण देने का प्रश्न ही नहीं उठता। परिवार के सभी नियम इतने रूढ़िगत समझे जाने लगे हैं कि अब उनके द्वारा सदस्यों के स्वार्थ प्रधान और दिखावटी संबंधों को नियंत्रित करना लगभग असम्भव सा हो गया है। वास्तविकता यह है कि व्यक्तित्व का विकास और संरक्षण की सुविधाएं राज्य के हाथों में चली गई हैं और प्रत्येक व्यक्ति के सामने राज्य के नियमों से अभियोजन (adjustment) करने का प्रश्न उठता है, परिवार से नहीं।

2.1.9 संयुक्त परिवार: विघटन व कारण

क्या भारतीय संयुक्त परिवार विघटन की प्रक्रिया में है? संयुक्त परिवार की संरचना और कार्यों में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संयुक्त परिवार में विघटित हो रहे हैं अथवा नहीं, यद्यपि कुछ विद्वानों का विचार है कि परिवार में होने वाले परिवर्तनों को विघटन की प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता लेकिन वास्तविकता यह है कि यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से संयुक्त परिवारों के विघटन की ओर संकेत करते हैं। संयुक्त परिवार में व्यक्ति की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति ना होने के कारण इसे एक अनुपयोगी संस्था के रूप में देखा जाने लगा है। संयुक्त परिवारों का यह विघटन सदस्यों के परंपरागत कार्यों, पारस्परिक संबंधों, परिवार के अधिकार व्यवस्था, व्यवसाय तथा संपत्ति संबंधित अधिकारों के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता

है। संयुक्त परिवार के विघटन के कारण क्या-क्या हैं इस पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मत दिए हैं। **बाटोमोर** का कहना है कि संयुक्त परिवार का विघटन केवल औद्योगिकरण से संबंधित दशाओं का ही परिणाम नहीं बल्कि आजकल संयुक्त परिवार आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हो चुके हैं। **पणिक्कर** का विचार है कि संयुक्त परिवारों के विघटन का आधारभूत कारण इसके द्वारा अपने सदस्यों पर आवश्यकता से अधिक नियंत्रण लगाना और इस प्रकार उनके सामाजिक संबंधों का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित बना देना है। **के. एम. कापड़िया** ने नई न्याय व्यवस्था, शिक्षा के प्रसार तथा परिवर्तित मनोवृतिओं को संयुक्त परिवार के विघटन का प्रमुख कारण माना है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले जिन प्रमुख कारकों का उल्लेख किया है इन्हें संक्षेप में निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:-

1. सर्वप्रथम आज संयुक्त परिवारों के आकार में ह्रास हुआ है। यह परिवर्तन इस सीमा तक तो हो गया है कि आज व्यक्ति अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहकर ही अपने परिश्रम का पूर्ण उपयोग करने के पक्ष में होता जा रहा है।
2. व्यक्तिवादिता में वृद्धि होने से सदस्यों में भी द्वितीयक संबंधों का विकास हुआ है। विवाह संबंध तक व्यवसायिकता की भावना से प्रभावित होते जा रहे हैं।
3. संयुक्त परिवारों में अब धर्म, अनुष्ठान और त्योहारों को जीवन का एकमात्र आधार नहीं समझा जाता फलस्वरूप धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ी है। इस प्रकार धर्म और अर्थ जैसी पुरुषार्थ तथा यज्ञों की पूर्ति करना परिवार का वास्तविक कार्य नहीं रहा है। शिक्षा के विकास के कारण अब धर्म के रूढ़िवादी भ्रांति से दूर होती जा रही है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के सदस्यों की एकता के सूत्र में आज रखने का कोई प्रभाव पर शेष नहीं रह गया है।
4. परंपरागत रूप से परिवार व्यवस्था को बनाए रखने में कर्ता के पूर्ण प्रभुत्व का बहुत बड़ा योगदान था। वर्तमान परिस्थितियों में कर्ता की स्वेच्छाचारिता समाप्त हो गई है क्योंकि परिवार के किसी सदस्य को आर्थिक, समाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्रों में कर्ता के आदेश का पालन करना अनिवार्य नही रह गया है और न ही परिवार के सदस्य को संपत्ति में से अपना हिस्सा लेने से रोका जा सकता है।
5. संयुक्त परिवारों की संरचना में भी परिवर्तन यह हुआ है। वर्तमान में युवा सदस्यों के अधिकारों में अभूतपूर्व वृद्धि होता जा रहा है। अधिकांश परिवारों में जीविका उपार्जित करने का कार्य युवा सदस्यों के हाथों में आ गया है और उनके फलस्वरूप उनकी परिवारिक स्थिति पहले की तुलना में काफी अच्छे हो गयी है।
6. वर्तमान अधिनियम के कारण संपत्ति अधिकारों में परिवर्तन हो जाने से संयुक्त परिवारों के परंपरागत संस्तरण को बनाए रखना कठिन हो गया है। आज परिवारों के सभी सदस्यों को समान पारिवारिक अधिकार प्राप्त है, चाहे वह विवाहित हो अथवा अविवाहित, बूढ़ा हो या युवा स्त्री हो या पुरुष। इस स्थिति ने संयुक्त परिवार की परंपरागत संरचना पूर्णतया विघटित कर दिया है।
7. वर्तमान संयुक्त परिवार परंपरागत व्यवसाय को छोड़कर अनेक व्यवसाय द्वारा जीविका उपार्जित करने लगे हैं। इस प्रकार परिवार में सदस्यों की स्थिति का निर्धारण उनकी योग्यता व कुशलता के आधार पर

होने लगा है। इन सभी परिवर्तनों ने संयुक्त परिवार की आंतरिक संरचना को बिल्कुल विघटित कर दिया है। इसी के फलस्वरूप समाज का एक बड़ा भाग अब संयुक्त परिवार को एक अनुपयोगी संस्था के रूप में देख रहा है।

उपरोक्त सभी कारकों के अलावा कुछ अन्य कारण भी हैं जिसने संयुक्त परिवार के विघटन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है –

1. औद्योगिकरण तथा नगरीकरण
2. जनसंख्या में वृद्धि
3. पाश्चात्य आदर्शों का प्रभाव
4. संयुक्त परिवारों के कार्यों में कमी
5. द्वितीयक संस्थाओं में वृद्धि
6. परिवहन व संचार में विकास
7. स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार
8. संयुक्त परिवारों का विघटित पर्यावरण
9. वर्तमान कानूनों का प्रभाव

2.1.10 परिवर्तन के दौर में संयुक्त परिवार का स्थायित्व

शोध कार्यों से प्रकट होता है कि संयुक्त परिवार पर अनेक आधुनिक शक्तियां अपना प्रभाव डाल रही हैं, किंतु वर्तमान में नगरीय क्षेत्रों के शिक्षित परिवारों में भी संयुक्त परिवार अभी तक समाप्त नहीं हुए हैं। अभी तक संयुक्त परिवार के संबंध में जो कुछ तत्थ उपलब्ध हैं, वह अपर्याप्त हैं और उसके आधार पर भारत में परिवार के भविष्य के संबंध में कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों की वैज्ञानिक दृष्टि से तुलना करना भी कठिन है, क्योंकि अध्ययनों में संयुक्त परिवार की समान परिभाषा नहीं अपनाई गई है। **डॉ. आर. एन. सक्सेना** के अनुसार, वर्तमान संयुक्त परिवार का वास्तविक रूप एक परिवार के सदस्यों के पारस्परिक संबंधों में हैं न की सम्मिलित निवास स्थान, संपत्ति और रसोई में। यह तय है कि आज संयुक्त परिवार विभाजन की संख्या बढ़ गई है पर प्रत्येक संयुक्त परिवार कालांतर में कई नए संयुक्त परिवारों को जन्म देता है। कुछ भी हो, आज भी हिंदू परिवार वृद्ध माता-पिता को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है और व्यक्ति को आर्थिक और सामाजिक संरक्षण भी। विधवा एवं तलाकशुदा स्त्रियों को बहुधा अपने माता-पिता के परिवार में शरण मिलती है और आज भी ऐसे कितने ही परिवार मिलेंगे जिनमे पुत्रियों या बहनों की संतानें परिवार के सदस्य होते हैं।

वर्तमान समय में संयुक्त परिवार के परंपरागत लक्षणों जैसे कई पीढ़ियों के सदस्यों का एक साथ रहना, एक ही रसोई में बना खाना, संपत्ति का सहस्वामित्व, धार्मिक एवं अन्य पारिवारिक अनुष्ठानों में सम्मिलित रूप से भाग लेना आदि में परिवर्तन हो रहे हैं। कुछ समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि कई भाईयों के अलग-अलग रहने के उपरांत भी यदि वे पारस्परिक पारिवारिक संबंधों, सामान्य संपत्ति एवं पारस्परिक कर्तव्य परायणता के आधार पर एक सूत्र में बंधे हुए हैं तो भी उन्हें संयुक्त परिवार का सदस्य

माना जाएगा। **डॉ. इंद्रदेव** ने संयुक्त परिवार के भविष्य के संबंध में लिखा है कि परिवार के ढांचे में विघटन अवश्य हो रहा है पर उसके कार्यात्मक पक्ष में नहीं। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि संयुक्त परिवार टूट कर सीधे शुद्ध व्यक्तिगत परिवार नहीं बन रहे हैं बल्कि परिवार के बहुत से ऐसे प्रकार बन रहे हैं जो न पूरी तरीके से एक में रखे जा सकते हैं और न दूसरे में।

इन्हें मध्यवर्ती प्रकार (Intermediary Types) कहा जा सकता है। भारत में जो नवीन प्रकार के परिवार बन रहे हैं उन्हें चाहे किसी भी नाम से क्यों ना पुकारा जाए इतना निश्चित है कि उन्हें संयुक्त परिवार की एकांकी इकाइयों को अधिक स्वतंत्रता देनी होगी। परिवारिक मामलों में स्त्री की राय को महत्व देना होगा और संबंधों की जटिल व्यवस्था में युवा सदस्यों को भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना होग। **डॉ. कपाड़िया** ने शोध कार्यों के आधार पर लिखा है कि हिंदू मनोवृत्तियां आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं फिर भी आज की बदली हुई परिस्थितियों में नगरीय क्षेत्रों में संयुक्त परिवार को अपने परंपरागत रूप में बनाए रखना संभव नहीं है। इतना अवश्य है कि ग्रामीण समाज की संरचना और कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था आज भी संयुक्त परिवार को बनाए रखने में समर्थ हैं। **डॉ. योगेंद्र सिंह** ने परिवर्तित परिवारिक संरचना के संबंध में बतलाया है कि भारत में संयुक्त परिवारों की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन एक समन्वयात्मक प्रतिमान का अनुसरण कर रहे हैं, एक ऐसा प्रतिमान जो कि भारतीय समाज में संरचनात्मक परिवर्तन में सर्वमान्य है। जीवनसाथी के चुनाव में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धांत का, विशेषतः नगरीय परिवार में, आज बढती हुई मात्रा में माता-पिता की स्वीकृति द्वारा समाधान किया जा रहा है। मध्यमवर्गीय घरों में पत्नी को बाहर दफ्तरों एवं स्कूलों में काम करने की स्वतंत्रता पति की स्वीकृति और कभी-कभी पति के या पत्नी के माता-पिता की स्वीकृति हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद भी संयुक्त परिवार की परंपरागत विश्व दृष्टि अब भी पाई जाती है।

आंद्रे बिताई ने बताया है कि हिंदू समाज में अलग-अलग क्षेत्रों में परिवार संरचना भिन्न-भिन्न रही है। यह मान्यता है कि संपूर्ण हिंदू समाज में संयुक्त परिवार प्रतिमान ही पाया जाता है, वास्तविकता की दृष्टि से सही नहीं है। बड़े संयुक्त परिवार जिनको हम परंपरागत रूप से हिंदू समाज के विशिष्ट लक्षण के रूप में मानते हैं, वास्तव में उसके किसी भी भाग में संबंधित रहे हैं। आपने बतलाया है कि उत्तरी भारत के गांव में बड़े संयुक्त परिवार राजपूत, जाट, भूमिहार तथा अन्य भूस्वामी जातियों से परंपरागत रूप से संबंधित रहे हैं। कुछ व्यापारिक समुदाय भी बड़े परिवारों से संबद्ध दिखाई पड़ते हैं। इन वर्षों में किए गए ग्राम अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भूस्वामी जातियों में बड़े परिवार अधिक सामान्य हैं, जबकि निम्न जातियों में नाभिकीय परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक है। **विलियम जे गुडे** ने भारतीय परिवार के संबंध में निष्कर्ष के रूप में बतलाया है कि एक निश्चित दिए हुए समय पर, अधिकांश भारतीय परिवारों के संयुक्त बनावट नहीं है। यह तथ्य फिर भी यह प्रमाणित नहीं करता की संयुक्त परिवार में काफी परिवर्तन आया है, क्योंकि अधिकांश परिवार भूतकाल में भी संयुक्त नहीं थे। फिर भी भारतीय मूल्य और प्रवृतियां अभी सामान्यतः संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं और संयुक्त परिवार में अनेक संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हैं।

विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार परिवर्तन के मध्य में हैं। इसके विभिन्न संरचनात्मक पक्षों में परिवर्तन दिखलाई पड़ रहा है। इसके कई कार्य परिवर्तित

परिस्थितियों में बदल गए हैं फिर भी संयुक्त परिवार टूटा नहीं है बल्कि चक्रीय प्रक्रिया के माध्यम से अपनी निरंतरता को बनाए रख सका है। **आर. पी. देसाई** तथा अन्य समाजशास्त्रियों का कथन है कि नाभिक परिवार संयुक्त परिवार के परिवर्तन चक्र में एक अवस्था है। संयुक्त परिवार से पृथक होने वाले निर्मायक भाग प्रारंभ में नाभिक परिवारों के रूप में होते हैं और कालांतर में वे संयुक्त परिवार के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार विकास का नवीन चक्र पुनः प्रारंभ हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाभिक परिवार को एक नवीन प्रकार की परिवारिक संरचना मानने के बजाय संयुक्त परिवार व्यवस्था का एक भाग माना जाना चाहिए।

2.1.11 सारांश (Conclusion)

आंद्रे बिताई ने भारत में पारिवारिक जीवन और संरचना के संबंध में लिखा है कि शताब्दियों के महान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तनों के माध्यम ने भारत के स्थाई पारिवारिक जीवन व संरचना की एक लंबी विरासत रही है और पारिवारिक दृढ़ता का भाव एक पुष्टिदायक शक्ति के रूप में रहा है, जिसने भारतीय लोगों के दैनिक जीवन को अर्थपूर्ण बनाया है। भारत में परिवार का परंपरागत प्रतिमान संयुक्त प्रकार का रहा है। **डेविड** और वीरा मेस ने लिखा है की आजकल नागरिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है जो पारिवारिक जीवन के प्रतिमान को प्रभावित किए हैं। वर्तमान समय में शिक्षा संबंधी सुविधाओं,नौकरी प्राप्त करने के अवसरों तथा सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के कारण भारत में पारिवारिक संरचना काफी प्रभावित हुई है। **ए. आर. देसाई** ने लिखा है कि परंपरागत संयुक्त परिवार और परिवारवादी ग्रामीण ढांचे में गुणात्मक परिवर्तन आ रहा है। वर्तमान सामाजिक जीवन में संयुक्त परिवारों का रूप इतना बदल चुका है कि हमारी सामाजिक संरचना में कोई विशेष स्थान नहीं रह गया है। लेकिन जैसा कि **कपड़िया** का मत है कि हिंदू मनोवृति आज भी संयुक्त परिवारों के पक्ष में है। कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि अधिकांश व्यक्ति आज भी संयुक्त परिवारों में रुचि लेते हैं। इस आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय सामाजिक संरचना में संयुक्तता की लहर है। यद्यपि संयुक्त परिवार की संरचना ऐसे बहुत सारे दोषों से युक्त हैं, जो समाज के सर्वांगीण विकास में बाधक रहे हैं, फिर भी हमारी वर्तमान आवश्यकता यह है कि संयुक्त परिवारों के अवगुणों और रूढ़िगत संरचना को समाप्त करके इसे इसके मौलिक रूप में अपनाया जाए, जिससे समाजवाद के आधार पर व्यक्तियों को व्यापक सुरक्षा एवं विकास का सामान अवसर प्राप्त हो सके। यह सर्वमान्य तथ्य है कि समाज और व्यक्ति का हित संगठित इकाइयों में अधिक सुरक्षित है छोटी-छोटी इकाइयों में नहीं।

2.1.12 बोध प्रश्न

1. संयुक्त परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
2. संयुक्त परिवार की संरचनात्मक व्याख्या कीजिए एवं इसमें हो रहे आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए?
3. हिंदू संयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षणों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।

4. भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं? क्या कार्यों की दृष्टि से भी संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं? सकारण उत्तर दीजिए।
5. संयुक्त परिवार के विघटन के कारणों पर विस्तृत प्रकाश डालिए।
6. संयुक्त परिवार विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहा है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
7. संयुक्त परिवार के गुण एवं दोषों की समीक्षा कीजिए।
8. संयुक्त परिवार एक उपयोगी संस्था के रूप में किस प्रकार से लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। स्पष्ट कीजिए।
9. संयुक्त परिवार के कौन-कौन से प्रकार हैं? विस्तार से उल्लेख करिए।
10. वर्तमान परिस्थितियों में संयुक्त परिवार व्यवस्था समाज के लिए उपयोगी न रहकर अनेक दोषों से युक्त एक विघटित संस्था बन चुकी है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।

2.1.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मुखर्जी, नाथ. रवींद्र. (2001). *भारतीय समाज व संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
2. गुप्ता, एम. एल. एवं. शर्मा, डी. डी. (2008). *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन.
3. अहूजा, राम. (1999). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. नई दिल्ली : रावत पब्लिकेशन.
4. मुखर्जी, नाथ. रवींद्र. (1999). *सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
5. सिंधी, कुमार. नरेंद्र. एव. गोस्वामी, वसुधाकर. (2000). *समाजशास्त्र विवेचन*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
6. लवानिया, एम. एम. एवं. जैन, के. शशी. (1999). *ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रिसर्च पब्लिकेशन.
7. शर्मा, के. एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
8. अग्रवाल, डॉ. कृष्ण, गोपाल. (1995). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. आगराः ओम प्रिंटिंग प्रेस.
9. गुप्ता, मोतीलाल. (2001). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
10. कपाड़िया, एम. के. (2000). *भारत में विवाह एवं परिवार*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
11. अहूजा, राम. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
12. दोषी, एल. एस. एवं. जैन, सी. पी. (2016). *रूरल सोशियोलॉजी*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
13. महाजन, धर्मवीर. एवं. महाजन, कमलेश. (2015). *भारतीय समाजः मुद्दे एवं समस्याएं*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

इकाई: 2 विवाह: हिंदू विवाह (अर्थ, प्रकार एवं बदलते प्रतिमान)

इकाई की रूपरेखा

2.21 उद्देश्य
2.2.2 भूमिका
2.2.3 विवाह: अर्थ एवं परिभाषा
2.2.4 विवाह: विशेषताएं एवं उद्देश्य
2.2.5 विवाह के प्रकार
2.2.6 हिंदू विवाह: अर्थ एवं परिभाषा
2.2.7 हिंदू विवाह: विशेषताएं एवं उद्देश्य
2.2.8 हिंदू विवाह के स्वरूप
2.2.9 हिंदू विवाह के बदलते प्रतिमान
2.2.10 बोध प्रश्न
2.2.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन विद्यार्थियों के लिए निम्नांकित रूप से लाभप्रद होगा -

1. विवाह की परिभाषा, विशेषता एवं उद्देश्यों के बारे में विस्तृत जानकारी ले पाएंगे।
2. विवाह के संपूर्ण प्रकारों की विस्तृत विवेचना, विद्यार्थियों का इस संदर्भ में ज्ञानवृद्धि करेगा।
3. हिंदू विवाह की परिभाषा, विशेषता एवं उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त होगी जिससे विद्यार्थी विवाह एवं हिंदू विवाह में विभेद को समझ पाएंगे।
4. हिंदू विवाह के स्वरूपों को विस्तृत व्याख्या के अध्ययन से विद्यार्थी यह समझ पाएंगे की हिंदू धर्म में प्राचीनकाल से अब तक कौन-कौन सी विवाह पद्धतियाँ स्थापित रही हैं तथा वर्तमान में कौन सा स्वरूप अस्तित्व में है।
5. वर्तमान समय में विवाह संस्था की संरचना, उद्देश्य, कार्य प्रणाली एवं आवश्यकताओं में आए परिवर्तन के बारे में ज्ञान प्राप्त होगा।
6. विद्यार्थी इस तथ्य का भी आलोचनात्मक परीक्षण कर पाएंगे कि वर्तमान में भी हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है अथवा नहीं।

2.2.2 प्रस्तावना

मानव की विभिन्न प्राणी-शास्त्रीय आवश्यकताओं में यौन संतुष्टि एक आधारभूत आवश्यकता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी यौन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं लेकिन उसमें इसका केवल दैहिक आधार

होता है। जहाँ तक बात मानव समाज की है तो यहाँ इसका आधार मात्र दैहिक न होकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी है। मानव समाज की निरंतरता के उद्देश्य से ही विवाह, परिवार व नातेदारी जैसी व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हो या नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से पाया जाता है। वास्तव में विवाह परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हैं और उन्हें समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में योग देते हैं।

भारत में विवाह के क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएं, पायी जाती हैं। प्राचीन काल से ही यहाँ विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, प्रजातियों, भाषाओं एवं मतों से संबंधित लोग रहते आए हैं जिनकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, संस्कृतियों, संस्थाओं एवं जीवन दर्शन में भिन्नता पायी जाती है। इस भिन्नता ने यहाँ की विवाह संस्था को भी प्रभावित किया है। भारत में विवाह के अनेक रूप जैसे एक-विवाह, बहुपति विवाह, द्वि-विवाह एवं बहुपत्नी विवाह आदि पाये जाते हैं। कुछ समाजों में तो विवाह को एक संस्कार माना गया है तो कुछ में एक सामाजिक समझौता।

2.2.3 विवाह: अर्थ एवं परिभाषा

विवाह का शाब्दिक अर्थ है, "उद्वह" अर्थात् "वधू को वर के घर ले जाना।"

("उद्वाहतत्व,तेन भार्यात्व सम्पादकं ग्रहणं विवाहः" मनुस्मृति, 3/2.)

मानव समाज में विवाह संस्था के प्रादुर्भाव के बारे में 19वीं शताब्दी में **वेखोफन** (1815-188. ई.), **मॉर्गन** (1818-1881 ई.) तथा **मैकलीनान** (1827-8159) ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया था कि मानव समाज की आदिम अवस्था में विवाह का कोई बंधन नहीं था, नर-नारियों को यथेच्छित कामसुख का अधिकार था। ऐसा माना जाता है भारत में श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम विवाह की मर्यादा स्थापित की। चीन, मिश्र, युनान के प्राचीन साहित्य में भी कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं। इनके आधार पर लार्ड एवबरी, फिसोन, हाविट, टेलर, स्पेंसर, जिलन कोव लेवस्की, लिरयर्ट आदि पश्चिमी विद्वानों ने भी विवाह की आदिम दशा "कामचार" की अवस्था मानी। क्रोपारकिन ब्लाख और व्रफाल्ड ने प्रतिपादित किया कि प्रारंभिक, कामचार की दशा के बाद बहुपत्नी अर्थात् अनेक पत्नियाँ रखने की प्रथा विकसित हुई और इसके बाद सभ्यता विकास के चरण में एक पत्नी विवाह का प्रचलन हुआ।

इन सभी विवेचनाओं का खण्डन करते हुए बेस्टरमार्क, लौंग, ग्रास, काले जैसे समाजशास्त्रियों ने लिखा है कि इस कल्पना का हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं हैं कि भूतकाल में कभी कमाचार की सामान्य दशा प्रचलित थी। इनका मानना था कि विवाह की संख्या मानव समाज में जीवशास्त्रीय आवश्यकताओं से उत्पन्न हुई है। इसका मूल कारण अपनी जाति को सुरक्षित बनाए रखने की चिंता है। इनका तर्क था कि यदि पुरूष यौन संबंधों के बाद पृथक हो जाए, संतान उत्पन्न होने पर उसके समर्थ एवं बड़ा होने तक उसका पोषण न किया जाए तो मानव जाति का अवश्यमेव उन्मूलन हो जाएगा। अतः आत्म संरक्षण की दृष्टि से विवाह संस्था की उत्पत्ति हुई है। यह केवल मानव समाज में ही नहीं, अपितु मनुष्य के पूर्वज समझे जाने वाले गोरिल्ला, चिंपाजी आदि में भी पाई जाती है।

परिभाषाएं

विभिन्न विद्वानों ने हिंदू विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया है -

लूसी मेयर, के अनुसार "विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री-पुरूष का ऐसा योग है जिसमें स्त्री से जन्या बच्चा माता-पिता की वैध संतान माना जाय' इस परिभाषा में विवाह को स्त्री व पुरूष के ऐसे संबंधों के रूप में स्वीकार किया गया है जो संतानों को जन्म देते हैं, उन्हें वैध घोषित करते हैं तथा इसके फलस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों को समाज में कुछ अधिकार एवं परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं।"

(लूसी मेयर, सामाजिक, नृ-विज्ञान की भूमिका, हिंदू अनुवाद, पृ. 9.)

डब्ल्यू एच.आर. रिवर्स, के अनुसार "जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन संबंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जाती है।"

(डब्ल्यू एच.आर. रिवर्स, सामाजिक संगठन, हिंदू अनुवाद, पृ. 29)

बेस्टरमार्क, के अनुसार "विवाह एक या एक से अधिक पुरूषों का एक या एक से अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह संबंध है, जिसे प्रभा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।"

(बेस्टरमार्क, द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज, वाल्यूम, पृ. 26)

बोगार्ड्स, के अनुसार "विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की संस्था है।"

(ई. एस बोगार्डस, सोशियोलॉजी, 1957, पृ. 75)

मजूमदार एवं मदान, के अनुसार "विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो विषमलिंगियों को यौन क्रिया और उससे संबंधित सामाजिक-आर्थिक संबंधों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"

(मजमूदार एवं मदान, एन इन्ट्रोडक्शन इ सोशल एन्थ्रोपॉलजी, पृ. 76)

एच.एम. जानसन, के अनुसार "विवाह के संबंध में अनिवार्य बात यह है कि यह एक स्थायी संबंध है, जिसमें एक पुरूष और एक स्त्री, समुदाय में अपनी प्रतिष्ठा को खोए बिना संतान उत्पन्न करने की सामाजिक स्वीकृति प्रदान करते हैं।"

(जॉनसन, सोशियोलॉजी : ए सिस्टमैटिक इन्ट्रोडक्शन, पृ. 146)

हॉबल, के अनुसार "विवाह सामाजिक आदर्श-मानदण्डों की वह समग्रता है जो विवाहित व्यक्तियों के आपसी संबंधों को, उनके रक्त संबंधियों, संतानों तथा समाज के साथ संबंधों को परिभाषित और नियंत्रित करती है।"

(हॉबल, मैन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड, पृ. 1.5)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि विवाह दो विषमलिंगियों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक-धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है। स्त्री- पुरूषों एवं

बच्चों को विभिन्न सामाजिक व आर्थिक क्रियाओं में सहगामी बनाना, संतानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन-पालन एवं समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं।

2.2.4 विवाह:- विशेषताएं (characteristics of marriage)

1. विवाह एक मौलिक और सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है जो प्रत्येक देश, काल, समाज और संस्कृति में पायी जाती है।
2. विवाह दो विषमलिंगियों का संबंध है अर्थात् विवाह के लिए पुरूष व स्त्री का होना आवश्यक है। ये हो सकता है कि कहीं एक पुरूष का एक या कई स्त्रियों से अथवा एक स्त्री का एक या अधिक पुरूषों के साथ विवाह हो।
3. विवाह को मान्यता उसी समय प्राप्त होती है जब उसे समाज की स्वीकृति मिलती है। यह स्वीकृति प्रथा कानून के द्वारा या धार्मिक संस्कार के रूप में हो सकती है।
4. विवाह संस्था के आधार पर लैंगिक या यौन संबंधों को मान्यता प्राप्त होती है।
5. बेस्टमार्ग ने विवाह को एक सामाजिक संस्था के अतिरिक्त एक आर्थिक संस्था भी माना है। इसका कारण यह है कि विवाह संबंध के आधार पर पति-पत्नी के सांपत्तिक अधिकार भी निश्चित होते हैं।
6. विवाह संस्था की एक विशेषता यह है कि यह यौन इच्छाओं की पूर्ति के साथ-साथ संतानोत्पत्ति एवं समाज के निरंतरता को बनाए रखने की आवश्यकता की पूर्ति भी करती है।
7. यह संस्था व्यक्ति के विकास की जैविक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं
8. विवाह संस्था व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में योग देती है।
9. विवाह से संबंधित पद्धतियाँ विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक समाज की विवाह पद्धति उस समाज की प्रथाओं, मान्यताओं और संस्कृति पर निर्भर करती है और ये अलग-अलग समाजों में भिन्न-भिन्न होती है।
10. विवाह का संबंध स्थायी माना जाता है तथा परिवार की उत्पत्ति की मौलिक इकाई माना जाता है।

विवाह के उद्देश्य या महत्व (Aims or Importance Marriage)

मरडाक ने 250 समाजों का अध्ययन करने पर सभी समाजों में विवाह के तीन उद्देश्यों का प्रचलन पाया।

(1) यौन संतुष्टि

(2) आार्थिक सहयोग

(3) संतानोत्पत्ति, समाजीकरण एवं लालन-पोषण। संक्षेप में विवाह के उद्देश्यों को हम निम्न प्रकार से प्रकट कर सकते हैं -

1. यौन इच्छाओं की पूर्ति एवं समाज में यौन क्रियाओं का नियमन करना।

2. परिवार का निर्माण करना एवं नोतदारी का विस्तार करना।
3. वैध संतानोत्पत्ति करना व समाज की निरंतरता को बनाए रखना।
4. संतानों का लालन-पालन एवं समाजीकरण करना।
5. स्त्री-पुरूषों में आर्थिक सहयोग उत्पन्न करना।
6. मानसिक संतोष प्रदान करना।
7. माता-पिता एवं बच्चों में नवीन अधिकारों एवं दायित्वों को जन्म देना।
8. संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरण करना।
9. धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति करना।
10. सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विवाह केवल वैयक्तिक संतुष्टि का साधन मात्र ही नहीं है वरन् यह एक सामाजिक क्रियाविधि भी है। जिससे समाज की संरचना को सुदृढ़ता प्राप्त होती है। मजूमदार और मदान का कहना है कि विवाह से वैयक्तिक स्तर पर शारीरिक (यौन) और मनोवैज्ञानिक (संतान प्राप्ति) संतोष प्राप्त होता है।

2.2.5 विवाह के प्रकार (Types of Marriage)

मानव समाज के विकास के साथ-साथ विवाह के भी विभिन्न प्रकार अस्तित्व में आए हैं। पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के प्रमुख प्रकारों को हम निम्नांकित प्रकार से रेखांकित कर सकते हैं-

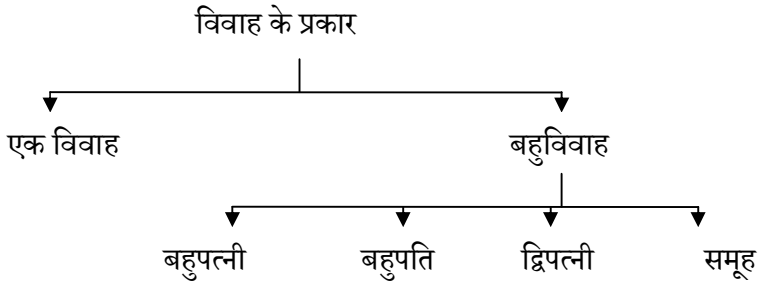

(1) एक विवाह (Monogamy):- एक विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक स्त्री का विवाह एक समय में एक ही पुरूष से किया जाता है। **बुकेनोविक** के अनुसार वह विवाह एक विवाह है जिनमें एक स्त्री का विवाह एक समय में एक ही पुरूष के साथ किया जाय जिसमें न केवल एक पुरूष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पती हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य

विवाह न करे। विवाह की यह प्रथा सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। वर्तमान में विवाह का यह आदर्श रूप संवैधानिक मान्यता प्राप्त स्वरूप है। **बेस्टरमार्क** का मानना था कि "एक विवाह ही विवाह का आदि-स्वरूप है।" मैलिनोवस्की का भी मानना था कि" एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा या और रहेगा।" शिक्षा एवं सभ्यता के विकास के साथ-साथ एक विवाह का प्रचलन बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान में "**हिंदू विवाह अधिनियम, 1955**" के द्वारा एक विवाह को आवश्यक कर दिया गया है।

एक विवाह असम की खासी, बिहार की संथाल और केरल की कादर जनजातियों में पाया जाता है। "हो" जनजाति में अत्यधिक कन्यामूल के कारण वहाँ एक पुरूष के लिए एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना असंभव है, इस कारण वे भी एक प्रकार से एक विवाही हैं।

एक -विवाह के लाभ (Merits of Monogamy):-

1. एक विवाह से निर्मित परिवार अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है।
2. ऐसे विवाहों से निर्मित परिवारों में स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची होती है।
3. एकल-विवाही परिवारों में बच्चें का लालन-पोषण, समाजीकरण एवं शिक्षा का कार्य उचित ढंग से संपन्न होता है।
4. एक-विवाही परिवारों में संघर्ष के अभाव में मानसिक तनाव भी कम पाया जाता है।
5. एक-विवाही परिवार का जीवन-स्तर ऊँचा होता है।
6. एक-विवाही परिवारों में संतानों की संख्या कम होती है, अतः परिवार छोटा एवं सुखी होता है।

एक-विवाह के दोष (Demerits of Monogamy)

1. एक-विवाह के कारण यौन अनैतिकता में वृद्धि होती है। इसमें अतिरिक्त यौन संबंध (Extra Merital Sex relation) के अवसर बढ़ जाते हैं।
2. किसी एक व्यक्ति के न रहने पर परिवार का संतुलन बिगड़ता है।
3. ऐसे विवाह से सृजित परिवार में एकाधिपत्य की प्रवृत्ति पायी जाती है और स्त्रियों का शोषण होता है।

एक विवाह इन कमियों की तुलना में इसमें लाभ अधिक है इसलिए वर्तमान में लगभग विश्व के सभी देशों में एक-विवाह प्रथा पर अधिक जोर दिया जाता है।

बहुर्विवाह (Polygamy):-

जब एकाधिक पुरूष अथवा स्त्रियाँ विवाह बंधन में बँधते हैं तो ऐसे विवाह बहुविवाह कहे जाते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं-

(1) बहुपति विवाह

(2) बहुपत्नी विवाह

(3) द्विपत्नी विवाह

(4) समूह विवाह

1. बहुपति विवाह (Polyandry):-

डॉ. रिवर्स (सामाजिक संगठन, पृ. 34), "एक स्त्री का कई पुरुषों के साथ विवाह संबंध बहुपति विवाह कहलाता है।"

मिचेल (Mitchel), "एक स्त्री द्वारा एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरूषों से भी विवाह करना या एक समय पर दो से अधिक पुरूषों से विवाह करना बहुपति विवाह है।"

(जी.डी. मिथेल, डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी, पृ. 134)

डॉ. के. एम. कपाड़िया (मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पृ. 134), "बहुपति विवाह एक प्रकार का संबंध है, जिसमें एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।

यह प्रथा मुख्यतः भारत के खस, टोडा, कोटा आदि जनजातियों में पायी जाती है तथा अन्य बहुधा प्रकार की जनजातियों में जैसे- एस्कीयमों लोगों में आर्थिक व्यवस्था खराब होने के कारण यह प्रथा पायी जाती है। **ग्रीक** के अनुसार उत्तर नाइजीरिया की ग्वारी जाति में, पूर्वी अफ्रिका का वाहुमा जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। यह विवाह भी दो रूपों में पाये जाते हैं।

(I) भ्रातृक बहुपति विवाह (Praternal Adelphic Polyandry):- एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं अथवा सबसे बड़े भाई की पत्नी स्पष्टः ही अन्य भाइयों की पत्नी मानी जाती है। इसे ही भ्रातृक बहुपति विवाह कहते हैं।

जैसे- खास, टोडा, कोटा, पंजाब के पहाड़ी, भागों, लद्दाख कांगड़ जिले के स्पीती और लाहौर परगनों में यह पाया जाता है।

(II) अभ्रातृक बहुपति विवाह (Non Fraternal Adelohic Polyandry):- इस प्रकार के विवाह में पति परस्पर भाई नहीं होते हैं। स्त्री बारी-बारी से समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के पास रहती है। यह प्रथा प्रायः टोडा तथा नायरों में पायी जाती है।

बहुपति विवाह के कारण (Cause of Polandry):-

1. वेस्टरमार्क के अनुसार बहुपति विवाह का मुख्य कारण लिंग विवाह का असंतुलन है।
2. समनर, कनिघम, डॉ. सक्सेना ने निर्धनता को इस प्रकार के विवाहों के लिए उत्तरदायी माना है।
3. जनसंख्या को मार्यादित रखने की इच्छा के कारण भी बहुपति विवाह का पालन किया जाता है।
4. कई समाजों में बहुपति विवाह का कारण वधु मूल्य की अधिकता है।
5. संपत्ति के विभाजन को रोकने के लिए भी बहुपति विवाह का प्रचलन पाया जाता है।
6. भौगोलिक परिस्थितियां एवं धार्मिक कारण भी बहुपति विवाह के लिए उत्तरदायी है।

बहुपति विवाह के गुण (Marits of Polyandry):-

1. इस विवाह के कारण कम संताने पैदा होती है जो जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने में सहायक है।

2. इसके कारण संपत्ति की संयुक्तता बनी रहती है तथा कृषि योग्य भूमि का भी बँटवारा नहीं होने पाता।

3. इस विवाह के कारण परिवार का विभाजन एवं विघटन नहीं हो पाता है।

4. इस प्रथा के कारण परिवार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं आर्थिक क्रियाओं के संपादन में भी सभी का सहयोग प्राप्त होता है।

दोष (Demerits):-

1. इस तथ्य की पुष्टि नहीं हुई है फिर भी माना जाता है कि इस विवाह के कारण स्त्रियों में बाँझपन आ जाता है।
2. इस विवाह में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक जीवित रहते हैं क्योंकि वंश को चलानें के लिए लड़कियों को पैदा होते ही मार दिया जाता है। इस कारण यहाँ यौन असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।
3. इस विवाह में एक स्त्री कई पुरूषों के साथ संबंध रखती है जिसके कारण कई प्रकार के यौन रोग भी पनपने लगते हैं।

(2) बहुपत्नी विवाह (Polygyne):- इस प्रकार के विवाहों में एक पुरूष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है। **कपाड़िया** का मत है कि भारत में बहुपत्नी विवाह का प्रचलन वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित है। अल्टेकर का मत है कि, बहुपत्नी प्रथा धनी, शासक एवं अभिजात वर्गों के लोगों में सामान्य थी, बहुपत्नी विवाह भी दो रूपों में पायी जाती है- सीमित एवं असीमित।

सीमित बहुपत्नी प्रथा में एक स्त्री के मरने पर ही दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। **असीमित** बहुपत्नी प्रथा में स्त्री के बांझ होने पर या अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए पुरूष एक से अधिक विवाह करते हैं। मनु, कौटिल्य, आपस्तम्ब आदि ने सैद्धांतिक रूप से बहुपत्नी विवाह को स्वीकार किया है। भारत में बहुपत्नी प्रथा हिंदू व मुसलमानों के अतिरिक्त नागा, गोंड, भील, बैंगा आदि जनजातियों में पाया जाता है। बंगाल में अनुलोम व कुलीन तथा दक्षिण में नंबूदरी ब्राह्मणों में भी यह प्रथा पायी जाती है। वर्तमान में बहुपत्नी प्रथा कानूनी एवं सामाजिक रूप से समाज में प्रतिबंधित है।

बहुपत्नी विवाह के कारण (Causes of Polygyny):-

1. **पुत्र प्राप्ति के लिए:-** एक स्त्री से संतान न होने पर अथवा पुत्र न होने पर भी इसका विवाह किए जाने की प्रथा है। इसे समाज तथा स्मृतिकारों ने भी मान्यता प्रदान की है।
2. **आर्थिक कारण:-** विषय भौगोलिक परिस्थितियों के कारण आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार के कई सदस्यों के सहयोग से ही संभव हो पाता है। परिवार में अधिक स्त्रियाँ होने पर उन्हें भी खेती, उद्योग एवं गृह कार्यों में लगाकर उनसे आर्थिक सहयोग लिया जाता है।
3. अधिक पत्नियाँ रखना कुलीन समाजों में सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक है।
4. लिंग असमानता/विषमता के कारण जहाँ पुरूषों की संख्या कम है वहाँ बहुपत्नी विवाह प्रचलित है।
5. कामवासना व यौन अनुभव ने भी बहुपत्नी प्रथा को विकसित किया है।

6. बहुत समाजों में "साली प्रथा" भी प्रचलित है जिसमें एक व्यक्ति को अपनी पत्नी के सभी बहनों से शादी करना होता है।
7. युद्ध एवं आक्रमण के समय भी स्त्रियों को अपहरण करके विवाह कर लिया जाता था जिसे बहुपत्नी विवाह का ही स्वरूप माना जाता है।

बहुपत्नी विवाह के लाभ (Merits of Polygyng):-

1. बच्चों का लालन-पालन एवं समाजीकरण आसानी से होता है।
2. परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग प्राप्त होता है।

दोष या हानियाँ (Demerits of Polygyny):-

बहुपत्नी विवाह के लाभ अत्यंत कम हैं परंतु इसके दोष बहुत ज्यादा हैं जो इस प्रकार हैं -

1. बहुपत्नी विवाह के कारण परिवार में संघर्ष, ईर्ष्या एवं वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न होता है।
2. कई पत्नियाँ होने पर परिवार में संतानों की संख्या बढ़ जाती है। अधिक संतानों की शिक्षा-दीक्षा एवं देखभाल करना प्रायः कठिन होता है।
3. ऐसे विवाहों के कारण स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा समाज में गिर जाती है और उनका शोषण बहुत बढ़ जाता है।
4. एकाधिक पत्नियाँ होने पर स्त्रियों की संपूर्ण संतुष्टि नहीं हो पाती जिससे व्यभिचार बढ़ने की संभावना रहती है।
5. समाज में विधवा स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है।

(3) द्विपत्नी विवाह (Biogamy):-

इस प्रकार के विवाह में एक पुरूष एक साथ दो स्त्रियों से विवाह करता है। कई बार पहली स्त्री से संतान न होने पर दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया जाता है। झारेगन तथा एस्कीमो जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है। परंतु वर्तमान में इस विवाह पर भी कानूनी प्रतिबंध लगा हुआ है। यह अपराध की श्रेणी में आता है।

(4) समूह विवाह (Group Marriage):-

समूह विवाह में पुरूषों का एक समूह, स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह का प्रत्येक पुरूष समूह की प्रत्येक स्त्री का पति होता है। परिवार और विवाह की प्रारंभिक अवस्था यही रही होगी, ऐसा उद्विकासियों का मानना है। यह प्रथा आस्ट्रेलिया की जनजातियों में पायी जाती है। वेस्टरमार्क का मत है कि ऐसे विवाह तिब्बत, भारत एवं श्रीलंका के बहुपतित्व वाले समाजों में पाये जाते हैं।

2.2.6 हिंदू विवाह: अर्थ एवं परिभाषा:-

हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में हिंदू जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। "शतपथ ब्राह्मण" में कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप से पति का अर्धांश है। अतः जब तक पुरूष पत्नी प्राप्त नहीं

करता एवं संतान उत्पन्न नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। हिंदू विवाह ने जहाँ एक ओर व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, त्यागमय जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योग दिया है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हिंदू विवाह संस्था का सामाजिक संरचना में एक विशिष्ट स्थान है। यह पूरे भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधार शिला है क्योंकि विवाह के द्वारा एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है जो अन्य सभी आश्रमों का मूल है। प्रत्येक हिंदू के लिए विवाह एक अनिवार्य कर्तव्य माना गया है। हिंदुओं में चार पुरूषार्थ- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की व्यवस्था की गयी है। जिनकी पूर्ति गृहस्थ आश्रम में ही संभव है। इस प्रकार हिंदू धर्म में प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण-पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण चुकाने का भार माना गया है। इन सभी ऋणों से मुक्त होने के लिए विवाह करके संतानोत्पत्ति करना आवश्यक है। शास्त्रों के अनुसार पति-पत्नी व बच्चों से युक्त मानव ही संपूर्ण मानव है। वेदों में अविवाहित पुरूष व स्त्री को अपवित्र माना गया है क्योंकि वह धार्मिक दृष्टि से अपूर्ण है तथा संस्कारों में भाग नहीं ले सकता है। अतः ऐसा माना जा सकता है कि हिंदू विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, पुत्र प्राप्ति, पारिवारिक सुख, सामाजिक एकता, पितृ ऋण से मुक्ति, पुरूषार्थ की पूर्ति, समाज की निरंतरता, सामाजीकरण, लालन-पोषण इत्यादि के उद्देश्य से किया जाता है।

हिंदू विवाह की परिभाषाएं (Definitions of Hindu Marriage):-

आर. एन. शर्मा:- हिंदू विवाह की परिभाषा एक धार्मिक संस्कार के रूप में की जा सकती है जिसमें धर्म, संतानोत्पत्ति तथा रति के भौतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक उद्देश्यों से एक स्त्री और एक पुरूष स्थायी संबंध में बंध जाते हैं।

मेघातिथ के अनुसार, "विवाह कन्या को पर बनाने के लिए एक निश्चित क्रम में की जाने वाली अनेक विधियों से संपन्न होने वाला पाणिग्रहण संस्कार है जिसकी अंतिम विधि सप्तर्षि दर्शन है।"

डॉ. के. एम. कपाडिया, के अनुसार- विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म था। हिंदू विवाह को परिभाषित करते हुए आप लिखते हैं कि हिंदू विवाह एक संस्कार है।"

इस प्रकार हिंदू विवाह स्त्री-पुरूषों का पति-पत्नी के रूप में एक अलौकिक, अविच्छेद और शाश्वत मिलन है जिसे तोड़ना अधार्मिक माना जाता है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना होगा कि हिंदूओं में एक विवाह को ही आदर्श माना गया है।

2.2.7 हिंदू विवाह: विशेषताएं एवं उद्देश्य हिंदू विवाह की विशेषताएं (Characteristics of Hindu Marriage)

1. हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।
2. हिंदू वैवाहिक संबंध सामाजिक समझौता न होकर एक स्थायी बंधन होता है।
3. हिंदू विवाह में अर्द्ध नारीश्वर की कल्पना की गयी है। जिसके अंतर्गत स्त्री और पुरूष के शरीर व आत्मा का इस प्रकार समन्वय होता है कि वो एकाकार हो जाते हैं। अर्थात् एक ही शरीर मगर स्त्री व पुरूष में विभाजित (अर्द्धनारीश्वर)
4. वैवाहिक संबंध की प्रकृति स्थायी होने के कारण सुदृढ़ पारिवारिक व सामाजिक जीवन का विकास होता है।
5. हिंदू विवाह को मानवीय व्यक्तित्व के विकास का साधन माना गया है।
6. हिंदू विवाह जन्म-जन्मांतर का संबंध माना गया है।
7. हिंदू विवाह का उद्देश्य धर्म का पालन करते हुए प्रजाति की निरंतरता को बनाए रखना है।

हिंदू विवाह के उद्देश्य (Aims of Hindu Marriage):-

इसके तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं-

(1) धार्मिक कार्यों की पूर्ति (Performance of Religious Duties):-

धार्मिक कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए जीवन साथी प्राप्त करने हेतु विवाह किया जाता है। विवाह के अभाव में एक हिंदू अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता और हिंदू धर्म में विभिन्न कर्तव्यों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया गया है ये धार्मिक कर्तव्य "यज्ञ" कहे गए हैं। इन यज्ञों को संपन्न करने के लिए पत्नी का होना आवश्यक है। हिंदू समाज में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पाँच महायज्ञ ब्रह्मयज्ञ, देव यज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ करना आवश्यक बताया गया है। अविवाहित व्यक्ति इन कार्यों की पूर्ति नहीं कर सकता है। और इस प्रकार उसका कर्म पूर्ण नहीं होगा। डॉ. सम्पूर्णानंद ने हिंदू विवाह के इस उद्देश्य के संबंध में कहा है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पत्नीहीन मनुष्य यज्ञ का अधिकारी नहीं होता है। यज्ञ केवल उस कृत्य को नहीं कहते जिसमें मंत्र पढ़कर अग्नि में आहुति डाली जाती है, जो कोई भी काम शुरू विवेक से किया जाए वह सभी कृत्य यज्ञ हो सकता है परंतु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परमार्थ के लिए किया जाए।

(2) प्रज्ञा या पुत्र-प्राप्ति (Progeny):- हिंदू विवाह का दूसरा उद्देश्य संतानोत्पत्ति माना गया है और पुत्र-प्राप्ति को विशेष महत्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि पुत्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुत्र जब तक अपने पितरों को तर्पण और पिंडदान प्रदान नहीं करता, तब तक उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र की कामना की गयी है। पाणिग्रहण के अवसर पर मंत्रों के माध्यम से यही सिद्ध किया जाता है कि वैवाहिक संबंध उत्तम पुत्र प्राप्ति के लिए बनाया जा रहा है। मनुसंहिता और महाभारत में भी पुत्र शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पुत्र वह है जो अपने माता-पिता को नर्क में जाने से बचाए। इस प्रकार पितृ यज्ञ को संपन्न करने और पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र की उत्पत्ति

आवश्यक मानी गयी है। परिवार और समाज की निरंतरता को ध्यान में रखकर ही संभवतः हिंदू शास्त्रकारों ने विवाह के इस लक्ष्य को इतनी महत्व दी है।

(3) रति (Sex Pleasure):- रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से यौन इच्छाओं की पूर्ति करना। साधारणतः "काम" अथवा यौन इच्छाओं की पूर्ति सभी समाजों में विवाह के रूप में मान्य है परंतु इस सुख को धार्मिक रूप से उपनिषदों में सबसे बड़े आनंद के रूप में महत्ता प्रदान की गयी है। रति का तात्पर्य धर्मानुसार "काम" से है न कि व्यभिचार या वासना से है। हिंदू धर्म शास्त्रों ने जहाँ मनुष्य में यौन, इच्छाओं की तृप्ति आवश्यक बताया गया है वहीं साथ ही यह प्रतिबंध भी लगाया गया है कि उसे केवल अपनी पत्नी के साथ इस प्रकार का संबंध बनाना चाहिए और वह भी उत्तम पुत्र की प्राप्ति की कामना के साथ। हिंदू विवाह में तीन उद्देश्यों में महत्व की दृष्टि से इसे निम्न अर्थात् तृतीय स्थान दिया गया है।

इस संबंध में डॉ. कपाड़िया का यह कथन उल्लेखनीय है कि यद्यपि काम विवाह का एक उद्देश्य अवश्य है किंतु इसे निम्न स्थान इसलिए दिया गया है जिससे स्पष्ट हो कि यह विवाह का अत्यंत ही कम वांछनीय उद्देश्य है।"

2.2.8 हिंदू विवाह के स्वरूप (Forms of Hindu Marriage):-

यहाँ पर हिंदू विवाह के "स्वरूप" शब्द का प्रयोग वैवाहिक संबंध में बँधने की पद्धति को व्यक्त करने की दृष्टि से किया गया है। (विद्यार्थी इस बात का ध्यान रखें कि हिंदू विवाह में मात्र एक विवाह को ही मान्यता दी गयी है।) मनु और अनेक स्मृतिकारों ने हिंदू विवाह के आठ और वशिष्ठ ने छः प्रकार बताएं हैं। **मनुस्मृति** के अनुसार हिंदू विवाह के **आठ स्वरूपों में प्रथम चार प्रकार के स्वरूपों को प्रशस्त या उच्च श्रेणी का विवाह कहा जाता है जिसका अर्थ है ऐसे विवाह जो अच्छे माने जाते हैं तथा धर्मानुकूल होते हैं। तथा अन्य चार प्रकार के विवाह से अप्रशस्त या निम्न श्रेणी का विवाह कहा जाता है।**

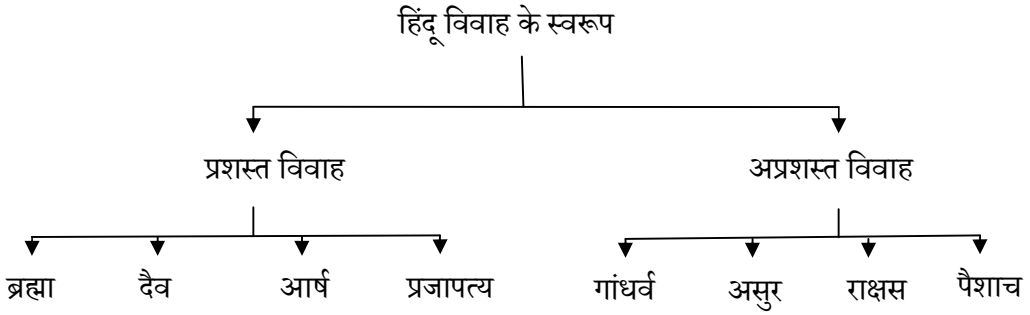

(1) ब्रह्म विवाह:- यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु के अनुसार वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण, आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या दान करना ही ब्रह्म विवाह है। याज्ञवल्क्य के अनुसार इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।

(2) दैव विवाह:- गौतम एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार वेदों में दक्षिणा देने के समय यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलंकारों से सुसज्जित कन्या का दान ही दैव विवाह है। मनु लिखते हैं कि सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं। प्राचीन समय में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्व था। जो ऋषि या पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को संपन्न कराता, यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देते थे।

(3) आर्ष विवाह:- इस प्रकार के विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि दो गाय लेकर कन्यादान करना आर्ष विवाह कहलाता है। मनु के अनुसार गाय और बैल का एक युग्म वर के द्वारा धर्म कार्य हेतु कन्या के लिए देकर विधिवत कन्यादान करना ही आर्ष विवाह कहलाता है। चूँकि आर्ष का अर्थ "ऋषि" होता है अतः जब कोई ऋषि कन्या के पिता को गाय व बैल मेरे के रूप में देता है तो समझ लिया जाता है कि वह विवाह का इच्छुक है। इसलिए आर्ष विवाह को ऋषि विवाह भी कहा जाता है।

(4) प्रजापत्य विवाह:- यह विवाह लगभग ब्रह्म विवाह के समान है। अंतर मात्र यह है कि ब्रह्म विवाह में पिता योग्य वर की खोज स्वयं करता है जबकि प्रजापत्य विवाह में वर स्वयं कन्या से विवाह की याचना करता है और कन्या इस शर्त पर विवाह करती है कि उसके जीवित रहते वह दूसरा विवाह नहीं करेगा। इसमें कन्या का पिता आदेश देते हुए कहता है, "तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न संतानें अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होती है।

(5) गंधर्व/गांधर्व विवाह:- मनु लिखते हैं कि कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक स्नेह द्वारा काम युक्त भावों से किया जाने वाला विवाह गांधर्व विवाह होता है। **याज्ञवल्क्य** के अनुसार पास्परिक स्नेह द्वारा होने वाले विवाह गांधर्व विवाह कहलाता है। प्राचीन समय में गांधर्व जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किए जाने के कारण ही ऐसे विवाहों का नाम गांधर्व रखा गया, वात्स्यायन ने अपने "कामसूत्र" में इसे आदर्श विवाह माना है। दुष्यंत व शकुंतला का विवाह गांधर्व विवाह का उत्तम उदाहरण है।

(6) असुर विवाह:- मनु के अनुसार कन्या के परिवार एवं स्वयं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहलाता है। इसमें कन्या का मूल्य देना उसका सम्मान करना है साथ ही कन्या के परिवार को उसके चले जाने की क्षतिपूर्ति है।

(7) राक्षस विवाह:- मनु कहते हैं कि मारकर, अंग-छेदन करके, घर को तोड़कर, हल्ला करती हुई, रोती हुई कन्या को बलात् हरण करके लाना और फिर विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार युद्ध में कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है। महाभारत में ऐसे अनेक विवाह के उदाहरण देंखे जा सकते हैं। राक्षस विवाह में वर एवं वधु पक्ष के बीच परस्पर मारपीट एवं लड़ाई-झगड़ा होता है। इस प्रकार का विवाह क्षत्रियों में अधिक होने के कारण इसे "क्षात्र-विवाह" भी कहा जाता है।

(8) पैशाच विवाह:- मनु कहते हैं कि सोयी हुई, उन्मत, घबड़ायी हुई, मदिरा पान की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह कहलाता है। यह विवाह सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में ब्रह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ, प्रजापत्य को मध्यम, आर्ष, असुर तथा गांधर्व को निम्न कोटि का बताया है। राक्षस विवाह को अधम तथा पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट माना है। वर्तमान में ब्रह्म, असुर, गांधर्व कहीं-कहीं पैशाच विवाह प्रचलित है। दैव, आर्ष, प्रजापत्य व राक्षस विवाह लगभग समाप्त हो चुके हैं।

2.2.9 हिंदू विवाह के बदलते प्रतिमान (Changing Pattern of Hindu Marriage):-

परिवर्तन का नियम एक सार्वभौमिक व शाश्वत नियम है। स्वतः हर व्यवस्था व हर संस्था में परिवर्तन होता रहता है। हिंदू-विवाह की संरचना और परंपरागत नियमों में भी परिवर्तन की प्रक्रिया अनवरत रूप से जारी है जिसके कारण इसके आदर्शों व मान्यताओं में काफी अंतर आ गया है। आज हम संक्रमण के स्तर से गुजर रहे हैं जिसमें पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव और व्यक्तिवादी धारणाओं के कारण शास्त्रीय विधि-विधानों के पुर्नपरीक्षण, सरलीकरण और सुधार पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है। इसके फलस्वरूप न केवल विवाह से संबंधित मान्यताओं में परिवर्तन हुआ है बल्कि नवीन अधिनियमों के द्वारा इन परिवर्तनों को कानूनी रूप देने की भी व्यवस्था कर दी गयी है। इस प्रकार विवाह से संबंधित परिवर्तनों को निम्नांकित क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) हिंदू विवाह अब धार्मिक संस्कार नहीं:- प्राचीन हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार था, उसमें विवाह से संबंधित अनेक धार्मिक क्रियाओं का समावेश था। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार अब विवाह स्त्री-पुरूष के बीच एक कानूनी समझौता बन गया है।

(2) विवाह संबंधी निषेधों में अंतर:- प्राचीन काल में हिंदू विवाह से संबंधित गोत्र, जाति, प्रवर आदि अनेक निषेधों का पालन करना पड़ता था। इससे विवाह का दायरा बहुत सीमित था, किंतु नवीन विधानों में गोत्र, जाति, प्रवर से संबंधित बंधन समाप्त कर दिए गए हैं और कोई भी हिंदू, जैन, बौद्ध, सिख परस्पर विवाह कर सकते हैं। वर्तमान में अंतर्जातीय विवाहों को वैधानिक स्वीकृति मिल गयी है। यद्यपि इससे विवाह के क्षेत्र में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया हैं। फिर भी अंतर्जातीय विवाह एवं अंतर-धर्म विवाहों के पक्ष में जनमत तैयार होने लगा है। जिससे विवाह का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ हैं।

(3) विवाह-विच्छेद:- अब तक हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार एवं जन्म-जन्मांतर का बंधन माना जाता है जिसे कभी भी भंग नहीं किया जा सकता, किंतु हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 ने दोनों ही पक्षों को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में तलाक देने की सुविधा प्रदान की है। इससे स्त्रियों का शोषण समाप्त हुआ है और उनके अधिकारों में वृद्धि हुई है।

(4) सामाजिक व मानसिक सुरक्षा:- इस अधिनियम में पागल, कोढ़ी व गुप्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के विवाह पर रोक लगा दी गयी है। पहले ऐसे व्यक्ति धन व शक्ति बल पर विवाह कर कन्याओं का जीवन नष्ट कर दिया करते थे।

(5) विवाह के नियमों में एकरूपता:- हिंदू विवाह अधिनियम से पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले हिंदुओं के विवाह संबंधी नियमों में अनेक भिन्नताएं थी। निताक्षरा और दायभाग नियमों द्वारा नियंत्रित परिवारों के रीति-रिवाजों में अंतर था। इस अधिनियम के द्वारा संपूर्ण भारत में निवास करने वाले हिंदुओं पर विवाह के संदर्भ में एक सा नियम लागू हो गया।

(6) समूह विवाह:- वर्तमान में कम खर्च एवं समय की बचत के कारण समूह विवाह का प्रचलन बढ़ गया है। कई शहरों में संकट काल के दौरान दहेज से मुक्ति पाने के लिए संपन्न लोगों द्वारा समाज के कल्याण के उद्देश्य से सामूहिक विवाह का आयोजन किया है। यह भी वैवाहिक स्वरूपों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

(7) अंतर्जातीय विवाह:- विवाह का दायरा बढ़ने से एवं कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होने से वर्तमान में अंतर्जातीय एवं अंतरधर्म विवाह भी होने लगे हैं जो पहले निषिद्ध माने गए थे।

(8) पत्नी की स्थिति में अंतर:- वर्तमान में विवाह में पति-पत्नी को समान स्तर प्रदान किया गया है। प्राचीन विवाहों में स्त्री को एक दासी या अनुचरी के रूप में माना गया था, किंतु अब पति की सहचरी, मित्र अथवा साथी मानी जाती हैं। परिवार एवं समाज में उसकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई है।

(9) प्रेम विवाह:- वर्तमान में प्रेम विवाह का प्रचलन बढ़ा है। सह शिक्षा, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, चल-चित्र एवं मास-मीडिया आदि के प्रभावों के कारण ऐसे विवाहों को प्रोत्साहन मिला है। नवीन कानून भी उसमें बाधक नहीं बन रहा हैं बल्कि उसे प्रोत्साहन ही दे रहा है। यद्यपि ऐसे विवाहों की संख्या बहुत कम है।

(1.) बेमेल विवाह की समाप्ति:- पहले दहेज से बचने एवं कुलीन विवाह का प्रथा का पालन करने के कारण बेमेल विवाह हो जाते थे। वर एवं वधु के आयु में 20 वर्ष का अंतर होता था। किंतु अब वर एवं वधू द्वारा जीवन-साथी का चुनाव स्वयं द्वारा किए जाने एवं अंतर्जातीय विवाह के कारण ऐसे विवाह प्रायः समाप्त हो गए हैं।

(11) जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता:- प्राचीन समय में विवाह साथी का चयन एवं चुनने का दायित्व परिवारजनों पर रहता था। अतः वर-वधु अपने हिसाब से जीवन साथी चुनने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे, किंतु अब वे स्वयं अपनी इच्छानुसार जीवन-साथी का चयन एवं विवाह करने लगे हैं तथा इसमें परिवार एवं नातेदारों का हस्तक्षेप कम हो रहा है।

(12) विवाह की अनिवार्यता की समाप्ति:- प्राचीन समय में एक हिंदू के लिए विवाह एक अति आवश्यक धर्म था जो ऋणों से मुक्ति दिलाने एवं पुरूषार्थ की पूर्ति के लिए करना होता था। किंतु विवाह में धार्मिक पक्ष की शिथिलता के साथ-साथ विवाह की अनिवार्यता भी समाप्त हो रही है। और कई स्त्री-पुरूष अविवाहित भी रहने लगे हैं। रास ने बताया है कि वर्तमान में अब कई युवक-युवतियाँ विवाह के अनिच्छुक हैं। वे इसे अपनी स्वतंत्रता पर कुठाराघात समझते हैं।

(13) दहेज पर प्रतिबंध:- "दहेज निरोधक अधिनियम, 1961" के अनुसार दहेज लेना व देना दोनों ही कानूनी अपराध माना गया है। यद्यपि यह आशा की गयी थी कि शिक्षा में प्रसार के साथ-साथ दहेज प्रथा भी घट जाएगी किंतु देखा यह गया है कि लड़के की शिक्षा के आधार पर दहेज की मांग बढ़ी है। फिर भी सकारात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि आज का युवा वर्ग दहेज विरोधी हो रहा है। अंतर्जातीय विवाहों की वृद्धि के साथ-साथ दहेज की भी समाप्ति होगी, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

(14) बाल विवाह की समाप्ति:- नवीन विवाह अधिनियम के अनुसार वर की आयु 21 वर्ष तथा वधू की आयु 18 वर्ष तय करके बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। इससे पूर्व बाल-विवाह का प्रचलन चरम पर था। इस नियम के बाद शहरों में बाल विवाह की प्रवृत्ति काफी कम हुई है। परंतु गाँवों में अब भी बाल विवाह का प्रचलन देखने को मिल रहा है। शहरों में शिक्षा के प्रसार व चेतना के विकास के साथ-साथ बाल विवाह समाप्त हो रहे हैं व इसके स्थान पर विलम्ब विवाह की मात्रा बढ़ रही है। ऐसा माना जाता है कि विलम्ब विवाह से दंपत्ति के स्वास्थ्य की रक्षा, स्वस्थ संतान, व्यक्तित्व के विकास एवं जीवन साथी के चुनाव में सहायता मिलती है।

(15) एक विवाह का प्रचलन:- हिंदू विवाह अधिनियम, 1935 के द्वारा बहुपत्नी एवं बहुपति विवाह को समाप्त कर उसके स्थान पर एक विवाह को मान्यता दी गयी। अब कोई भी पक्ष पहले के विवाह साथी के जीवित रहते हुए बिना तालक के दूसरा विवाह नहीं कर सकता। हालाकि यह एक वैधानिक पक्ष है। व्यवहार में तो अब भी बहुत कम ही सही लेकिन समाज में बहुपत्नी पक्ष, कुलीन विवाह, बहुपति प्रथा का प्रचलन पाया जाता है।

(16) विधवा विवाह की स्वीकृति:- हिंदुओं में कुछ समय पूर्व तक विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने की स्वीकृति नहीं थी किंतु अब कानून द्वारा ऐसे विवाहों को मान्यता प्रदान की गयी है और उसे संपत्ति का अधिकार भी दिया गया है। वर्तमान में लोग विधवा पुर्नविवाह के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण भी अपना रहे हैं।

(17) विवाह के उद्देश्यें में अंतर:- पहले हिंदू समाज में विवाह का प्रथम उद्देश्य धार्मिक कार्यों का संपादन माना जाता था, परंतु वर्तमान में प्रथम उद्देश्य संपूर्णतः समाप्त हो चुका है तथा दूसरा व तीसरा उद्देश्य अर्थात् यौन इच्छाओं की पूर्ति व संतानोत्पत्ति का महत्व बढ़ता जा रहा है।

हिंदू विवाह: एक धार्मिक संस्कार (Hindi Marriage : A Religious Sacrament):-

हिंदू विवाह के उद्देश्य एवं विविध स्वरूपों से स्पष्ट है कि यह एक धार्मिक संस्कार है, कोई समझौता मात्र नहीं। हिंदू विवाह में प्रारंभ से लेकर अंत तक अनेक प्रकार के धार्मिक विधि विधानों, अनुष्ठानों एवं आदर्शों की प्रधानता पायी गयी है। हिंदू विवाह के उद्देश्यों से जीवन में धार्मिकता को एक पवित्र व अटूट बंधन माना गया है जिसे इच्छानुसार कभी भी तोड़ना अनुचित और पाप समझा जाता है। हिंदू विवाह व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करता है उसे आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित व अवसर प्रदान करता है, धार्मिक मान्यताओं के अनुसार कर्तव्य पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। हिंदू विवाह की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं -

(1) विवाह का प्रमुख आधार धर्म (Religion as Main Basis of Marriage):-

हिंदू विवाह के उद्देश्यों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि यहाँ विवाह का मुख्य आधार धर्म है। प्रत्येक हिंदू के लिए अपनी पत्नी सहित पंच महायज्ञ करना आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। हिन्दु धर्मशास्त्रों के अनुसार बिना पत्नी के काई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता। यहाँ विवाह मुख्य रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। डॉ. कपाड़िया ने उचित ही लिखा है, "यह स्पष्ट है कि जब हिंदू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य, सन्तानोत्पाद को इसका दूसरा श्रेष्ठ उद्देश्य माना तो स्वभाविक रूप से विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। विवाह की इच्छा रति या संतानोत्पत्ति के लिए इतनी अधिक नहीं की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कर्तव्यों के पालनार्थ के लिए एक साथी प्राप्त करने के लिए।"

विवाह का दूसरा उद्देश्य संतानोत्पत्ति माना गया। मोक्ष प्राप्ति के लिए परिवार में पुत्र का होना आवश्यक समझा जाता था। विवाह का तीसरा उद्देश्य-रति जिसे अधिक महत्व नहीं दिया गया, इसलिए इसका स्थान सबसे निम्न है। इस विवरण से स्पष्ट है कि विविध धार्मिक क्रियाओं के संपादन की दृष्टि से विवाह एक आवश्यक संस्कार है।

(2) विवाह की अविच्छेद प्रकृति (Irrevocable Nature of Marriage):-

हिंदू विवाह एक ईश्वर-इच्छित पवित्र बंधन के रूप में माना जाता है जो कभी तोड़ा नहीं जा सकता। हिंदू विवाह में बँधने वाले लोग मृत्यु-पर्यन्त तक एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। विवाह हिंदू धर्म में जन्म-जन्मांतर का संबंध माना गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जन्म जन्मांतर के साथी फिर से मिल जाते हैं। विवाह की इस अविच्छेद प्रकृति के कारण ही पति-पत्नी एक-दूसरे से अनुकूलन करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ व्यक्ति को सामंजस्य द्वारा विवाह को सफल बनाने के लिए प्रेरित किया गया है। दाम्पत्य जीवन में त्याग को महत्व देते हुए एक-दूसरे के अनुसार स्वयं को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण संभवतः प्राचीन भारतीय परिवार में दाम्पत्य जीवन में संभवतः संघर्ष व अलगाव की संभावना नहीं पायी जाती थी अतः यह एक धार्मिक रूप से पवित्र गठबंधन है जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

(3) ऋणों से मुक्त होने हेतु विवाह आवश्यक (Marriage-essential for Getting Rid of Rins):-

धर्मशास्त्रों में विवाह को स्वर्ग का द्वार माना गया है। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए विवाह आवश्यक है और बिना गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किए ऋणों से मुक्त होना संभव नहीं है। व्यक्ति पर जन्म से अनेक ऋण रहते हैं और विवाह करके ही वह पंचमहायज्ञों द्वारा विविध ऋणों से छुटकारा पा सकता है। विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त किए बिना व्यक्ति वानप्रस्थ व सन्यास आश्रम के दायित्वों को भी पूर्ण नहीं कर सकता। धार्मिक साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विवाह किए बिना तपस्वियों एवं ऋषियों तक को स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

(4) विवाह के लिए आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान एवं संस्कार (Necessary Rituals and Ceremonies for Marriage):-

पी.वी.काणे कहते थे कि हिंदू विवाह संपन्न होने के लिए लगभग 39 प्रमुख अनुष्ठानों एवं संस्कारों की आवश्यकता होती है। इन धार्मिक कृत्यों को पूर्ण किए बिना हिंदू विवाह संपन्न नहीं माना जाता। ये सब कृत्य धार्मिक विश्वासों से परिपूर्ण है और इससे स्पष्ट पता चलता है कि वैवाहिक जीवन में धार्मिक कृत्यों को प्रधानता दी गयी है। यहाँ विवाह से संबंधित कुछ प्रमुख संस्कारों का वर्णन किया किया जा रहा है ताकि विवाह की धार्मिक प्रसंस्कारों का वर्णन किया जा रहा है ताकि विवाह की धार्मिक प्रकृति को समझा जा सके-

वाग्दान:- इस अनुष्ठान में वर पक्ष की तरफ से रखा गया विवाह-प्रस्ताव कन्या पक्ष द्वारा स्वीकार किया जाता है। वैदिक मन्त्रों एवं गृह सूत्रों में वर पक्ष द्वारा विवाह का प्रस्ताव रखने एवं कन्या पक्ष द्वारा इसे स्वीकार करने की व्यवस्था पायी जाती है परंतु आजकल प्रस्ताव कन्या पक्ष द्वारा किया जाता है व स्वीकृति वर पक्ष देता है।

कन्यादान:- पिता अपनी पुत्री को धार्मिक भाव से धार्मिक अनुष्ठानों व मंत्रों के साथ पति को समर्पित करता है और पति इसी भाव से इसे स्वीकार करता है। यहाँ पिता अपनी कन्या को दान के रूप में देता हुआ वर से यह आश्वासन मांगता है कि वह धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति में कभी भी अपनी पत्नी का त्याग नहीं करेगा तथा पत्नी भी यह प्रण लेती है कि वह आजीवन अपने पति की संगिनी बनी रहेगी।

विवाह होम:- पवित्र अग्नि की साक्षी में विवाह संपन्न होता है। वर एवं वधु अग्नि में अनेक आहुतियाँ देते हैं। इस समय यह प्रार्थना की जाती है कि अग्नि कन्या की रक्षा करें, उसकी संतान को परमात्मा लंबी आयु दे, वह जीवित रहने वाली संतान की माता से और पुत्र संबंधी सभी आनंद प्राप्त करे। अग्नि को देवता मानकर उसे आहुतियाँ देकर एक समृद्ध और आदर्श गृहस्थ जीवन की कामना की जाती है।

पाणिग्रहण:- पाणिग्रहण का तात्पर्य दूसरे के हाथ को ग्रहण करना है। इसमें वर वधू का हाथ पकड़कर सात मंत्रों का उच्चारण करता है। ये मंत्र प्रतिज्ञा के रूप में है। वर वधू से कहता है कि, "मैं तेरा हाथ पकड़कर सुख की इच्छा करता हूँ, वृद्धावस्था तक तू मेरे साथ रहना, तेरा पोषण करना मेरा धर्म है और मेरे संतान को जन्म देते हुए तूम सौ वर्षों की दीर्घायु प्राप्त करना।" इन पवित्र वेद-मंत्रों से जहाँ गृहस्थ आश्रम के दायित्वों का बोध होता है वहीं यह भी स्पष्ट होता है कि विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

अग्नि परिणयन:- इसमें वर व वधु अग्नि की परिक्रमा करते हैं और अग्नि को साक्षी मानकर वर कहता है कि, "मैं सामवेद के समान प्रशंसित हूँ तू ऋग्वेद के समान प्रशंसित है, तू पृथ्वी और मैं सूर्य के समान हूँ, हम दोनों प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर उत्तम प्रजा उत्पन्न करें, हमारे बहुत से पुत्र हों, हम और हमारे पुत्र सौ वर्षों तक जीवित रहें।"

अश्यारोहण:- इसके अंतर्गत कन्या का भाई कन्या का पैर उठाकर पत्थर की शिला पर रखवाता है। इस अवसर पर वर वधू से कहता है कि हे देवी-तू इस पत्थर पर चढ़ और इस पत्थर के समान ही धर्म कार्यों में दृढ़ बनी रहे। यहाँ वधू से सब परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक मुकाबला करने के लिए कहा गया है।

लाजाहोम:- इसमें वर वधू पूर्व दिशा की ओर मुँह करके खड़े हो जाते हैं फिर वधू अपने भाई से खील (भूना हुआ चावल) लेकर अग्निकुंड में डालते हुए तीन मंत्रों का उच्चारण करती हैं। कन्या ईश्वर की आज्ञा पालन के लिए पिता को छोड़कर प्रतिकुल में जाने को तैयार है। वह देवताओं से प्रार्थना करती है कि उसका पति दीर्घजीवी हो, पिता व पति दोनों पक्ष धन-धान्य से परिपूर्ण हो तथा पति के साथ उसका प्रेम सर्वदा बढ़ता रहे।

सप्तपदी-ग्रन्थि:- बंधन किए हुए वर वधू का उत्तर दिशा की ओर सात पैर चलना ही सप्तपदी है। प्रत्येक पैर साथ-साथ बढ़ते हुए मंत्रोंच्चारण किया जाता है। इन सात मंत्रों में वर वधू की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व स्वयं ग्रहण करता है और अन्न प्राप्ति, शारीरिक व मानसिक बल, धन, सुख, संतान, प्राकृतिक सहायता व सखा भाव की कामना करता है। यहाँ यह भी कामना की जाती है कि उन दोनों के मन एक-दूसरे के अनुकूल बना रहे।

इन सब धार्मिक विधियों को संपन्न करने के पश्चात ही हिंदू विवाह पूर्ण माना जाता है। इन विधियों पर आधारित हिंदू विवाह निश्चित रूप से धार्मिक संस्कार है।

(5) पतिव्रता का आदर्श (Ideal of Pativrata):-

हिंदू विवाह के द्वारा पत्नी आदर्श पतिव्रता के रूप में कार्य करती है। पति की सेवा और उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना वह अपने जीवन का प्रथम कर्तव्य समझती है। वह पति को परमेश्वर के रूप में मानती हुई उसकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखती है और उसके लिये हर प्रकार का त्याग करना अपना परम धर्म समझती है। पतिव्रता का यह आदर्श विवाह की धार्मिक प्रकृति को व्यक्त करता है।

(6) पत्नी के लिए संबोधक शब्द (Addressing Words for Wife):-

पत्नी के लिए सम्बोधक शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि विवाह रति अर्थात् काम इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि धार्मिक कृत्यों को पूर्ण करने के लिए किया गया है। पत्नी के लिए धर्म-पत्नी, सह धर्मचारिणी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों का तात्पर्य धार्मिक कार्यों में सहयोग देने वाली पत्नी से है।

(7) स्त्री के लिए एक मात्र संस्कार (The Only Sanksar for Women):-

एक हिन्दु पुरूष अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के संस्कार संपन्न करता है। इन संस्कारों से उसका शुद्धिकरण एवं व्यक्तिगत का विकास होता है। किंतु स्त्री के जीवन काल में विवाह ही एक मात्र संस्कार है, अन्य संस्कार उसके द्वारा नहीं किए जाते।

(8) ब्राह्मणों की उपस्थिति (Presence of Brahmins):-

हिंदू समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विवाह कार्य, उन्हीं के द्वारा संपन्न कराया जाता है। किसी कार्य में ब्राह्मण की उपस्थिति उस कार्य की पवित्रता एवं गरिमा को बढ़ाने वाली होती है।

(9) वेद मंत्रों का उच्चारण (Recitation of Vedi Mantas):-

विवाह के समय वैदिक रीति-रिवाजों का पालन और वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों को हिंदुओं में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो कुछ लिखा है, वह ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अतः वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाने में योग देता है।

(1.) अग्नि की साक्षी (Presence of Fire):-

ब्राह्मणों एवं वेदों की भाँति अग्नि को भी पवित्र माना गया है। इसकी साक्षी में ही वर-वधू विवाह में बंधन मे बांधते हैं। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती है, उसको गृहस्थ सदैव अपने घर में जलाये रखते हैं। साथ ही वर-वधू के सुख एवं संपन्न जीवन के लिए अग्नि से कई प्रकार की प्रार्थना की जाती है।

इन तथ्यों से हिंदू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्वतः ही स्पष्ट है, अतः यह कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक संस्कार है। इसे एक सामाजिक समझौता नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि आधुनिक कानून के रचयिताओं ने कुछ अंशो में इसे एक समझौता माना है, परंतु न्यायालयों ने इसे एक संस्कार के रूप में स्वीकृति दी है। हिंदू कानून से संबंधित ग्रन्थों में बताया गया है कि सभी हिंदुओं के लिए, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हो, विवाह एक आवश्यक संस्कार या धार्मिक कृत्य है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 द्वारा यद्यपि स्त्री-पुरुषों को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो चुका है, तथापि विवाह, विवाह-विच्छेद का अधिकार प्राप्त हो चुका है तथापि विवाह को मात्र समझौता नहीं मानकर एक संस्कार के रूप में माना जाता है। पी.एच. प्रभु ने हिंदू-विवाह की प्रकृति के संबंध में लिखा है- "हिंदू के लिए विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह संबंध में जुड़ने वाले पक्षों का संबंध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।"

2.2.10 बोध प्रश्न

1. "हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. हिंदू विवाह के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए भारत में वर्तमान में विवाह के कौन-कौन से स्वरूप प्रचलित है?
3. विवाह के अर्थ, उद्देश्य एवं विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करें।
4. विवाह कितने प्रकार के होते है? विस्तृत प्रकाश डालते हुए प्रत्येक प्रकारों की व्याख्या करें।
5. हिंदू विवाह किसे कहते हैं? इसकी विशेषताओं एवं उद्देश्यों का वर्णन करें।
6. वर्तमान समय में हिंदू विवाह संस्था में कौन-कौन से परिवर्तन हुए हैं? इसकी व्याख्या करें।
7. विवाह के सामाजिक महत्व की व्याख्या करें।

2.2.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. शर्मा, के.एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
2. अग्रवाल, कृष्ण. गोपाल. (1995). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. आगराः ओम प्रिंटिंग प्रेस.
3. गुप्ता, मोतीलाल. (2001). *भारत में समाज*. जयपुर: हिंदू ग्रंथ अकादमी राजस्थान.
4. कपाड़िया, के.एम. (2000). *भारत में विवाह एवं परिवार*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
5. आहूजा, राम. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
6. दोषी, एस. एल. एवं. जैन, पी.सी.(2016). *रूरल सोशियोलॉजी*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन.
7. महाजन, धर्मवीर, एवं. महाजन, कमलेश, (2015). *भारतीय समाज: मुद्दे एवं समस्याएं*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
8. बघेल, डी. एस. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. वाराणसी: विजय प्रकाशन मंदिर.
9. श्रीवास्तव, कुमार. सुरेंद्र. एवं. सिंह, प्रसाद. राघव. (1999). *प्राचीन भारतीय राज्य व समाज*. इलाहाबाद: विजय प्रकाशन मंदिर.
10. मुखर्जी, नाथ. रविन्द्र. (2001). *भारतीय समाज व संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.

इकाई: 3 मुस्लिम विवाह: अर्थ, भेद एवं विवाह विच्छेद

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य

2.3.1. प्रस्तावना

2.3.2. मुस्लिम विवाह: अर्थ एवं परिभाषा

2.3.3. मुस्लिम विवाह: उद्देश्य एवं शर्ते

2.3.4. मुस्लिम विवाह के भेद

2.3.5. मुस्लिम विवाह में विवाह विच्छेद (तलाक)

2.3.6. मुस्लिम विवाह से संबंधित समस्याएं

2.3.7. हिंदू एवं मुस्लिम विवाह: अंतर एवं समानताएं

2.3.8. निष्कर्ष

2.3.9. बोध प्रश्न

2.3.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.3.0. उद्देश्य:-

यह इकाई विद्यार्थियों के लिए निम्नांकित रूप से लाभप्रद होगा-

1. इस इकाई द्वारा मुस्लिम विवाह के संपूर्ण अर्थो व विभिन्न विद्वानों का इस पर दिए गए परिभाषाओं के बारे में जानकारी होगी।
2. मुस्लिम विवाह के क्या-क्या शर्त होते हैं? इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी।
3. इस इकाई में मुस्लिम विवाह के उद्देश्य व इसके प्रकारों की संपूर्ण व्याख्या मिलेगी।
4. मुस्लिम विवाह में तलाक के स्वरुपों की जानकारी होगी।
5. मुस्लिम विवाह में क्या-क्या समस्याएं होती हैं? इस बिंदु पर भी विद्यार्थियों को नए ज्ञान की प्राप्ति होगी।
6. इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थियों में हिंदू एवं मुस्लिम विवाह में क्या अंतर होता है, इस संदर्भ में ज्ञान प्राप्त होगा।

2.3.1. प्रस्तावना:-

मुस्लिम संस्कृति में विवाह जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं को समझने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम पुरातन अरबी व्यवस्था के संदर्भ में इनकी प्रकृति को समझने का प्रयास किया जाए। इस्लाम धर्म की स्थापना हजरत मुहम्मद (57.-63.) द्वारा मक्का में की गयी लेकिन अरब की सनातनी धार्मिक व्यवस्थाओं से हजरत मुहम्मद के विचार कुछ भिन्न होने के कारण उनका व्यापक विरोध हुआ। फलस्वरूप मदीना में उन्हें शरण लेनी पड़ी और बाद में इसी स्थान से इस्लाम धर्म का व्यापक प्रसार

हुआ। इस्लाम क्योंकि प्राचीन अरबी धर्म का संशोधित रूप है इसलिए आज भी मुस्लिम सामाजिक संस्थाओं व सामान्य व्यवस्था पर पुरातन अरबी व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। **रॉबर्टसन स्मिथ** ने प्राचीन अरब समाज में प्रचलित विवाह के तीन लक्षण बताएं हैं-

1. स्त्री अपने पति का चुनाव करने में स्वतंत्र थी
2. स्त्री पति को अपने निवास पर बुलाती और जब चाहे उसे निकालकर बाहर कर देती थी।
3. उनकी संतानें स्त्री के संबंधियों के संरक्षण में पलती थी इस प्रकार के विवाह को **"बीना विवाह (Beena Marriage)"** कहा जाता था। समय के साथ इस विवाह में परिवर्तन हुआ और इसका स्थान "बाल विवाह" या "आधिपत्य विवाह" ने ले लिया। जहाँ एक तरफ इस्लाम धर्म में आए नवीन परिवर्तनों ने स्त्री की विवाह संबंधी स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया। स्त्री पति के घर रहने लगी और संताने पति के गोल से संबंधित हुई। अब परिवार में पुरुष का आधिपत्य एवं स्वेच्छाचारिता कायम हुई, स्त्री का विवाह-विच्छेद का अधिकार समाप्त हुआ। फिर भी विवाह का यह नया रूप पुरानी पद्धति से पूर्णततः स्वतंत्र नहीं हुआ। यही कारण है कि कुछ मुस्लिम परिवारों में "मुताह के रूप में अस्थायी विवाह आज भी प्रचलित है। अतः स्पष्ट है कि अरब समाज में विवाह के क्षेत्र में स्त्री काफी स्वतंत्रता थी परंतु कालांतर में विवाह क्षेत्र में पुरुष का आधिपत्य होने के कारण वह एक से अधिक वैवाहिक संबंध स्थापित करने लगा अर्थात् बहुपत्नी विवाह का प्रचलन प्रारंभ हुआ। विवाह-विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विवाह-विच्छेद की दृष्टि से भी पुरुष को विशेष अधिकार प्राप्त हो गया और वह स्वेच्छानुसार अपनी पत्नी को तलाक देने लगा।

अरब समाज में विवाह के क्षेत्र में स्त्री के अधिकार सीमित हो जाने से उनकी स्थिति में गिरावट आयी और उसकी स्थिति दयनीय होती गयी। विवाह का इच्छुक व्यक्ति स्त्री के पिता अथवा किसी संबंधी को कन्या मूल्य चुका कर या मेहर की राशि अदा कर स्त्री के साथ विवाह कर सकता था। युद्ध में स्त्री को प्राप्त कर अथवा कन्या मूल्य चुका कर स्त्री के साथ विवाह कर लेना, स्त्री के प्रति पुरुष का संपत्ति भाव व्यक्त करता है। **डॉ. कपाड़िया** ने लिखा है कि, "किसी अतिथि के प्रति आथित्य भाव का प्रकट करने के लिए अपनी पत्नी को उसे प्रदान करने का रिवाज अरब लोगों में था। श्रेष्ठ संतान चाहने वाला अरब पत्नी को किसी महान पुरुष के साथ रहने को कह देता। पति कुछ समय के लिए अन्यत्र चला जाता और अपनी पत्नी के पास उसी समय लौटता जब गर्भावस्था काफी विकसित हो जाती। जब कोई अरबी यात्रा के लिए बाहर जाता तो अपनी पत्नी को अपने किसी मित्र को सौंप जाता। अरबी पुरुष का अपनी पत्नी के सतीत्व को संबंध में कोई विचार नहीं था। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वह उसे अपनी संपत्ति समझता था। स्वामी के रूप में अपनी पत्नी (संपत्ति के समान) के उपयोग के लिए वह सर्वश्रेष्ठ निर्णायक था।"

यदि हम भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में इस्लाम मे विवाह का अध्ययन करें तो समझ आता है कि लंबे समय तक हिंदू के संपर्क में रहने के कारण मुस्लिम विवाह पद्धति में हिंदू विवाह पद्धति के कई तत्व प्रवेश कर गए हैं। इन दोनों विवाहों में कुछ समानताओं का कारण यह भी है कि वे मूलतः हिंदू थे

और धर्म परिवर्तन कर मुसलमान हो गए। इस प्रकार भारतीय मुस्लिम विवाह पद्धति पर हिंदू व इस्लाम दोनों ही धर्मों का प्रभाव पड़ा है।

2.3.2. मुस्लिम विवाह: अर्थ एवं परिभाषा:-

मुस्लिम विवाह को "निकाह" कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है-नर-नारी का विषयी समागम। मुस्लिम विवाह को एक धार्मिक संस्कार नहीं बल्कि एक सामाजिक समझौता माना जाता है। मुस्लिम कानून के अनुसार, विवाह एक सामाजिक या बिना शर्त का दीवानी समझौता है। जिसका उद्देश्य घर बसाना, संतानोत्पत्ति और उन्हें वैधता प्रदान करना है। समझौते के रूप में मुस्लिम विवाह के लिए एक ओर से प्रस्ताव होना तथा दूसरी ओर से इस प्रस्ताव की स्वतंत्र स्वीकृति मिलना आवश्यक है। समझौते में प्रतिफल के रूप में धन का होना आवश्यक है। मुस्लिम विवाह के लिए लड़के वाले पक्ष की ओर माँग के रूप में निकाह का प्रस्ताव रखा जाता है तथा लड़की दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों की उपस्थिति में प्रस्ताव को स्वीकार करती है, लड़के वाला पक्ष प्रतिफल के रूप में कुछ धन जिसे "मेहद" कहते हैं लड़की को देने का वायदा करता है। हैदे नामक विद्वान ने मुस्लिम विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते है कि, "यौन संबंधों, बच्चों के प्रजनन और वैधता को कानूनी रूप प्रदान करने से उद्देश्य से विवाह एक समझौता है और साथ ही इसका उद्देश्य से विवाह एक समझौता है और साथ ही इसका उद्देश्य समाज के हित मे पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न संतति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को निर्धारित कर सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित करना है।"

डी. एफ. मुल्ला, के अनुसार- "निकाह (विवाह) एक विशिष्ट समझौता है जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना एवं उन्हें वैध घोषित करना है।"

(D.P. Mulla, Principle of mohamedan Law Page No.- 323)

अमीर अली के अनुसार- "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी पुरोहित (मुल्ला) की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।"

(अमीर अली, द स्प्रिट ऑफ इस्लाम, पृ. 257)

के. एम. कपाड़िया, के अनुसार "इस्लाम में विवाह एक अनुबंध (Contract) या समझौता है जिमसें दो साक्षियों के हस्ताक्षर होते हैं। इन अनुबंध का प्रतिफल "मेहर" अर्थात् वधू को भेंट की जाती है।

(कपाड़िया, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, पेज- 201)

इस प्रकार मुस्लिम विवाह को दो विषम परिस्थितियों के बीच एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः इनमें भी भारतीय समझौता अधिनियम की सभी आवश्यक बातें मौजूद हैं, जैसे –

(1) समझौते के लिए किसी भी पक्ष से एक प्रस्ताव रखा जाय।

(2) इस प्रस्ताव को दोनों पक्षों की ओर से स्वतंत्र स्वीकृति प्राप्त हो।

(3) समझौता करने के लिए दोनों पक्ष सक्षम हो अर्थात् वे अल्प वयस्क या पागल न हो। यदि कोई अल्पवयस्क है तो इस स्थिति में उनके संरक्षक द्वारा इसकी स्वीकृति प्रदान की जाए।

(4) समझौते के प्रतिफल के रूप में कुछ धन हो।

मुस्लिम विवाह पर मुस्लिम सुख संबंधी विचार धारा का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है तथा विवाह में संविदा की यह विशेषता अबरी व्यवस्था के अनुसार स्त्री को अधिक स्वतंत्रता देने की भावना से संबद्ध है।

2.3.3. मुस्लिम विवाह: उद्देश्य एवं शर्ते (Muslim Marriage : Aim and conditions):-

मुस्लिम विवाह के उद्देश्य:-

1. स्त्री-पुरुष को यौन संबंध स्थापित करने की स्वीकृति प्रदान करना।
2. बच्चों को जन्म देना तथा उनका पालन-पोषण करना।
3. पति-पत्नी के पारस्परिक अधिकारों को "मेहर" के द्वारा स्वीकृति प्रदान करना।
4. एक संविदा के रूप में पति-पत्नी को यह अधिकार देना कि एक पक्ष द्वारा संविदा का पालन न करने पर दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है।

मुस्लिम विवाह की शर्तें :-

मुस्लिम विवाह की शर्तो के अंतर्गत उन परिस्थितियों की काफी जानकारी होगी जो मुस्लिम विवाह के लिए आवश्यक माने जाते हैं। इनकी अनुपस्थिति में विवाह मान्य नहीं होगा। अतः इसे "विवाह के निषेध" के रूप में भी समझ सकते हैं। मुस्लिम विवाह की निम्नलिखित शर्तें इस प्रकार हैं -

1. प्रत्येक मुसलमान, जो बालिग (15 वर्ष की अवस्था का) हो चुका हो तथा जो पागल न हो अर्थात् सही दिमागी संतुलन का हो, निकाह के लिए समझौता कर सकता है। पागल तथा नाबालिग बच्चों के निकाह के लिए उनके संरक्षकों (वली) की स्वीकृति आवश्यक है। विवाह के समय यदि लड़के-लड़की में कोई नाबालिग हो तो उसे बालिग या वयस्क होने पर विवाह संबंध समाप्त करने का अधिकार रहता है। इसे **खैरुल बालिग (Option of Puberty)** कहते हैं। लेकिन साधारणतः पिता या दादा द्वारा किए गए विवाह मुसलमानों में परंपरागत नियमों के अनुसार इस आधार पर समाप्त नहीं किए जाते।
2. विवाह की स्वीकृति दोनों पक्षों की स्वतंत्र इच्छा से होनी चाहिए न की धोखे या जबरदस्ती से।
3. विवाह को स्वीकृति मिलने के अवसर पर दो पुरुष गवाहों अथवा एक पुरुष और दो स्त्री गवाहों का होना आवश्यक है।
4. विवाह के लिए लड़के-लड़की की स्वीकृति 'काजी' के सम्मुख होनी चाहिए।
5. मुस्लिम समाज में एक स्त्री एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है परंतु एक पुरुष एक साथ चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है। स्त्री पहले पति से तलाक लेने या उसकी मृत्यु के बाद दूसरा विवाह कर सकती है।
6. मुस्लिम स्त्री केवल मुस्लिम पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है, परंतु मुस्लिम पुरुष कितबिया स्त्री से भी विवाह कर सकता है। जो धर्म किसी किताब पर आधारित है उसके अनुयायियों को

कितबिया कहते हैं, जैसे इसाई धर्म। मुस्लिम पुरुष को अग्नि-पूजक स्त्री के साथ सामान्य विवाह की आज्ञा नहीं दी गयी है। वह ऐसी स्त्री के साथ अस्थायी विवाह कर सकता है जिसे मुताह के नाम से पुकारते हैं।

7. विवाह की शर्त के रूप में यह आवश्यक है कि "मेहर" की राशि चुका दी गयी हो या इसको निश्चित कर लिया गया हो।
8. विवाह के समय लड़के-लड़की का सामान्य स्थिति में होना आवश्यक है अर्थात् वे मादक द्रव्य जैसे शराब आदि के नशे में न हो।
9. जो स्त्री 'इद्दत की अवधि' (चार मासिक धर्मों के बीच तीन महीने की अवधि) में हो, उसके साथ विवाह को अनियमित माना गया है।
10. अति निकट संबंधियों में विवाह वर्जित है अर्थात् निषिद्ध संबंधों की श्रेणी में आने वाले लोगों का आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं हो सकता उदाहरण के रूप में मुस्लिम लोगों में कोई भी माता, दादी, पुत्री, दोहती, सगी बहनें, चाची, मौसी तथा भाई-बहन की लड़कियों से विवाह नहीं कर सकता परंतु भाईयों की संताने आपस में विवाह कर सकते हैं।
11. मुस्लिम लोगों में तीर्थयात्रा के समय में वैवाहिक संबंध स्थापित नहीं किए जा सकते। यदि किन्ही परिस्थितियों में गर्भवती स्त्री को तलाक दे दिया गया हो तो वह स्त्री तब तक अन्य किसी से पुनर्विवाह नहीं कर सकती जब तक कि बच्चे का जन्म न हो जाए।

मुस्लिम विवाह में मेहर (Dower in Muslim Marriage)

मुस्लिम समाज में विवाह के समय लड़के की ओर से लड़की को "मेहर" अर्थात् कुछ धनराशि दी जाती है अथवा देने का वचन दिया जाता है सामाजिक और कानूनी दृष्टि से स्त्री को मेहर प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। 'मेहर' की रकम विवाह के पूर्व, विवाह के समय या उसके पश्चात् निश्चित की जा सकती है। यह एक ऐसा अधिकार चला आ रहा है जिसमें पुरुषों की स्वेच्छाचारिता तथा तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियंत्रण रहता है।

'मेहर' को इसके कुछ लक्षणों के आधार पर कन्या मूल्य कहा जा सकता है। 'मेहर' का संबंध पति के यौन अधिकार के साथ पाया जाता है। पति के साथ यौन संबंध स्थापित होने के पश्चात् ही पत्नी को मेहर की पूर्ण राशि प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। 'मेहर' नहीं देने पर पत्नी कानूनी दृष्टि से पति को यौन संबंधों से इन्कार कर सकती है। विधवा की अपेक्षा कन्या के लिए मेहर अधिक होता है। 'मेहर' का अधिकार स्वतंत्र स्त्री को ही होता है। गुलाम स्त्री के 'मेहर' की राशि प्राप्त करने का अधिकार उसके मालिक का होता है। इन लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है कि मेहर का कन्या मूल्य के साथ संबंध रहा है।

प्राचीन अरब समाज में मेहर कन्या मूल्य के रूप में था, क्योंकि उस समय यह राशि जिसे 'सदक' कहते थे, कन्या के पिता को प्रदान की जाती थी। इस्लाम में इस स्थिति में सुधार लाया गया और इस्लामी कानूनी ने कन्या मूल्य की प्रथा को परिष्कृत कर उसे 'मेहर' का रूप दे दिया। 'मेहर' को कन्या मूल्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसे प्राप्त करने का अधिकार लड़की को होता है न की उसके पिता या

अन्य रिश्तेदारों को। इसके अतिरिक्त विवाह के लिए स्वयं लड़की की स्वीकृति आवश्यक होती है। यदि मेहर कन्या-मूल्य मात्र होती तो लड़की की स्वीकृति के स्थान पर उसके पिता की स्वीकृति ली जाती और साथ ही मेहर की रकम पहले से निश्चित की जाती, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। स्वीकृति लड़की की आवश्यक होती है और मेहर की रकम का निर्धारण विवाह के बाद भी हो सकता है। अतः इन दशाओं में 'मेहर' को कन्या-मूल्य नहीं कहा जा सकता। मेहर के चार प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं –

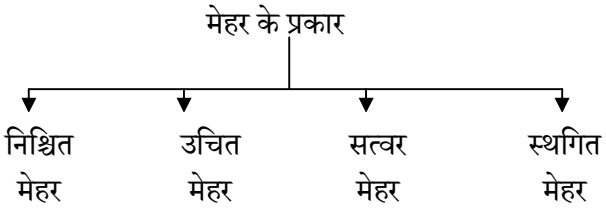

1. निश्चित मेहर (Spesified Dower):-

यह वह मेहर है जो दोनों पक्षों द्वारा विवाह के पूर्व या विवाह के समय निश्चित रूप से तय करली जाती है। कभी-कभी मेहर की राशि का निर्धारण विवाह के पश्चात् भी होता है। मेहर की राशि कम से कम पाँच व अधिक से अधिक हजारों रूपये तक होती है।

2. उचित मेहर (Proper Dower):-

यह वह मेहर है जिसे अदालत निश्चित करती है। जब विवाह के पूर्व या विवाह के समय मेहर की राशि निश्चित नहीं की जाती तो ऐसी दशा में अदालत लड़के या उसके पिता की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए और साथ में इस बात पर भी विचार करते हुए कि पत्नी की अन्य बहनों को क्या 'मेहर' मिला है? मेहर निश्चित करती है। मेहर निश्चित करने का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है जब या तो पत्नी इसके लिए माँग करे या विवाह-विच्छेद की स्थिति आ जाए। इस मेहर की राशि का निर्धारण मुस्लिम कानून 'शरीयत' के अनुसार भी हो सकता है।

3. सत्वर मेहर (Prompt Dower):-

यह वह मेहर है जो विवाह के समय या विवाह होते ही तुरंत दे दी जाती है। इस मेहर के लिए पत्नी द्वारा जब भी माँग की जाती है तब फौरन देनी पड़ती है। इस प्रकार का प्रचलन बहुत कम पाया जाता है।

4. स्थगित मेहर (Defered Dower):-

यह वह मेहर है जो विवाह के समाप्त होने पर चुकायी जाती है। विवाह या तो किसी एक पक्ष की मृत्यु होने पर या विवाह-विच्छेद होने पर समाप्त होता है। दोनों पक्ष यह निश्चित कर सकते हैं कि कितना मेहर सत्वर है और कितना स्थगित। इस प्रकार के मेहर का प्रचलन सबसे अधिक है।

2.3.4. मुस्लिम विवाह के भेद (Form of Muslim Marriage):-

मुस्लिम विवाह चार प्रकार के होते हैं।

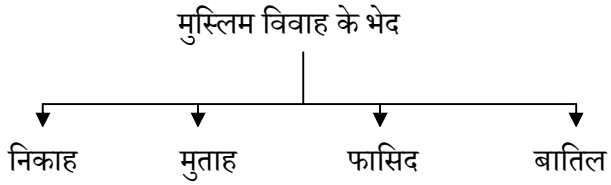

1. निकाह (Permanent Marriage):- निकाह को सही विवाह भी कहते हैं। ये साधारणतः स्थायी प्रकृति में होते हैं और पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति से होते है तथा विच्छेद नहीं होने तक चलते रहते हैं। ऐसे विवाह मुस्लिम रीति-रीवाजों के अनुसार संपन्न होते हैं मुस्लिम लोगों में विवाह का यह प्रकार सबसे अधिक प्रचलित है। सुन्नियों में विवाह के इसी प्रकार को मान्यता प्रदान की जाती है।

2. मुताह (Temporary Marriage) - यह अस्थायी प्रकार का विवाह है और केवल मुस्लिम समाज में ही मान्य है। मुस्लिम में सुन्नियों के अनुसार केवल स्थायी विवाह (निकाह) हो सकता है, परंतु शिया लोगों के अनुसार अस्थायी विवाह भी हो सकता है। जिसे मुताह (Mutah) कहते हैं। ऐसे विवाह ईरान आदि शिया देशों में पाये जाते हैं। मुताह विवाह के लिए यह आवश्यक है कि सहवास का समय निश्चित हो अर्थात् यह पहले से तय कर लिया जाता है कि यह विवाह एक दिन एक मास, एक वर्ष या कितनी अविध के लिए किया गया है। अवधि पूर्ण होने पर ऐसा विवाह स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

पति-पत्नी चाहे तो ऐसे विवाह को स्थायी स्वरूप प्रदान कर सकते है। ऐसे विवाहों में मेहर का निश्चित रूप से उल्लेख किया जाता है। मेहर के निश्चित होने के उपरांत भी सहवास का समय अनिश्चित होने पर ऐसे विवाह अवैध माने जाते है। जहाँ सहवास न किया गया हो तो भी ऐसे विवाह वैध माने जाते हैं। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों का पिता की संपत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार होता है परंतु पत्नी को न तो पति की संपत्ति में कोई हिस्सा प्राप्त होता है और न ही पति से भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। ऐसे विवाह की अवधि के पूर्ण होने से पहले ही यदि पति-पत्नी से छोड़ना चाहे तो उसे मेहर की पूरी राशि चुकानी पड़ती है। यदि पत्नी विवाह की अवधि समाप्त होने से पूर्व ही पति के साथ वैवाहिक संबंध समाप्त करना चाहे तो उसे मेहर का कुछ भाग छोड़ना पड़ता है। डॉ. कपाड़िया का मानना था कि कानूनी तौर पर शिया लोगों को ऐसे विवाह की आज्ञा प्राप्त होने पर भी भारतवर्ष में इसका प्रचलन नहीं पाया जाता है। इस्लाम का रुख तो मुताह के विरुद्ध रहा है। मुहम्मद साहब ने ऐसे विवाह को वेश्यावृत्ति की बहन कहा है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल में अरब समाज में ऐसे विवाहों का प्रचलन होने से उन्हें मुताह के लिए अपनी स्वीकृति देनी पड़ी।

3. फासिद विवाह (Irregular Marriage):- विवाह के बीच कोई कठिनाई आए अर्थात् किन्हीं कारणों से कुछ अनियमितताएं रह जाएं और उन्हें दूर किए बिना ही विवाह कर लिया जाए तो ऐसे विवाह को फासिद विवाह कहते हैं। ऐसे विवाह में आने वाली कठिनाईयों या अनियमितताओं को दूर करने पर विवाह नियमित माने जाते हैं। जैसे यदि कोई मुसलमान पाँचवी स्त्री से, किसी मूर्ति पूजक स्त्री से या बिना

गवाहों की उपस्थिति के विवाह कर ले तो ऐसा विवाह फासिद विवाह कहलाता हैं। ऐसा विवाह उस समय "सही विवाह" या नियमित विवाह हो जाता है। जब इस विवाह में आयी अनियमितता को दूर कर दिया जाता है। जैसे- पाँच स्त्री में से किसी एक को तलाक दे दिया जाय स्त्री अपना धर्म परिवर्तन करके मुस्लिम धर्म अपना ले या बाद में गवाहों की गवाही ले ली जाए।

5.बातिल या अवैध विवाह:- मुस्लिम समाज में वह विवाह जो शरीयत अधिनियम की शर्तों के अनुसार नहीं किया गया हो अथवा दूसरे शब्दों में किसी कारणवश विवाह के पूर्व या विवाह के पश्चात् ऐसे तथ्यों का ज्ञान हो जो विवाह की वैधता पर प्रहार करता हो किंतु तब भी पति-पत्नी के संबंधों को न रोका जा सकता हो अथवा वे आपस में तलाक होने पर राजी न हो तो ऐसे विवाह को अकबर या अवैध विवाह कहा जाता है। बातिल विवाह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है- अकबर तथा जोधाबाई का विवाह। प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री नर्गिस व सुनीलदत्त का विवाह भी इसी श्रेणी में आता है।

2.3.5. मुस्लिम विवाह में विवाह-विच्छेद (तलाक):- Dirorce in Muslim Marriage

मुस्लिम विवाह एक समझौता माना गया है न कि धार्मिक संस्कार। इसे जन्म-जन्मांतर का संबंध नहीं माना गया है। ऐसी दशा में मुस्लिम लोगों में इस समझौते को समाप्त करने की व्यवस्था भी की गयी है।

विवाह-विच्छेद को उनमें न्यायसंगत माना गया है। मुस्लिम समाज में, अन्य समाजों की तुलना में विवाह-विच्छेद की प्रक्रिया अत्यंत सरल है। प्राचीन अरबी समाज में **'खोल'** की प्रथा पाई जाती थी, जिसके अनुसार लड़की का पिता उसके विवाह में प्राप्त **'सदक' (वधू-मूल्य)** को लौटा कर उसे उसके पति से मुक्त करा सकता था। लेकिन धीरे-धीरे **'सदक'** का स्थान **'मेहर'** ने ले लिया और ऐसी स्थिति में सदक को लौटा कर लड़की को पति से स्वतंत्र करा लेने की प्रथा समाप्त हो गई। अब केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही पत्नी मेहर लौटा कर विवाह-विच्छेद कर सकती है और वह भी उस स्थिति में जब पति इसके लिए तैयार हो। इस्लाम और उसके कानून के अनुसार, विवाह-विच्छेद का अधिकार पुरुषों को ही दिया गया है, स्त्रियों को नहीं। पुरुष बिना अदालत की सहायता के, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। तलाक देने के लिए पति को कोई कारण बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह पत्नी को, उसके द्वारा किसी प्रकार की कोई गलती न होने पर भी, तलाक दे सकता है। स्त्री को यह अधिकार नहीं दिया गया है। वह स्वेच्छा से अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती। परंपरागत मुस्लिम नियम स्त्री को विवाह-विच्छेद का अधिकार नहीं देते। स्त्री उसी अवस्था में तलाक दे सकती है जब उसका पति इसके लिए राजी हो। जिन परिस्थितियों में स्त्री को तलाक का अधिकार दिया गया हो, वहाँ भी तलाक का स्रोत पति ही प्रतीत होता है। 'खुला' नामक विवाह-विच्छेद के प्रकार में स्त्री मेहर की राशि को लौटा कर विवाह-विच्छेद की माँग तो कर सकती है, परंतु यह होगा तभी, जब पति इसके लिए तैयार हो । अतः स्पष्ट है कि मुस्लिम परंपरागत नियम पुरुष को विवाह-विच्छेद संबंधी विशेष अधिकार प्रदान करता है, इस क्षेत्र में इस्लामी कानून का झुकाव स्पष्टतः पुरुष के पक्ष में है।

अब मुस्लिम में स्त्री भी तलाक दे सकती है, परंतु अदालत की सहायता से। मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम 1939, (Dissolution of Muslim Marriage Act 1939) के अनुसार, पत्नी भी अदालत के माध्यम से विवाह-विच्छेद कर सकती है। यद्यपि मुस्लिम समाज में स्त्री-पुरुषों को विवाह-

विच्छेद का अधिकार प्राप्त है तथापि इन विवाहों में स्थिरता दिखलाई पड़ती है। मुसलमानों में विवाह-विच्छेद अच्छा नहीं समझा गया है और विवाहों में स्थिरता दिखलाई पड़ती है। मुसलमानों में विवाह-विच्छेद अच्छा नहीं समझा गया है और वैवाहिक जीवन में सफल नहीं होने पर इसे अन्तिम साधन के रुप में बतलाया गया है। मुसलमानों में दो प्रकार से विवाह-विच्छेद हो सकता है-

(1) बिना अदालत की सहायता से अर्थात् परंपरागत प्रथागत नियमों के अनुसार, तथा

(2) अदालत की सहायता से अर्थात् कानूनी तरीके से। यहाँ सर्वप्रथम तलाक के प्रथागत स्वरुप पर विचार किया जा रहा है।

तलाक के प्रथागत स्वरुप (Customary form of Divorce)

मुस्लिम समाज में साधारणतः तलाक बिना अदालत की सहायता के होते हैं। पुरुष को इस दृष्टि से व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। तलाक के प्रथागत स्वरुप ये हैं-

1. तलाक (Talak) :- मुस्लिम कानून के अनुसार काई भी स्वस्थ मस्तिष्क वाला मुसलमान, जो वयस्क है (15 वर्ष की आयु प्राप्त है), कारण बतलाए बिना भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। यह तलाक केवल शब्दों के उच्चारण-मात्र से ही पूर्ण हो जाता है। यदि पति दबाव या नशे की हालत में या पत्नी की अनुपस्थिति में 'तलाक' का उच्चारण कर देता है, तो भी तलाक वैध माना जाता है। शिया कानून के अनुसार तलाक के लिए दो योग्य गवाहों की उपस्थिति में तलाक का उच्चारण आवश्यक है, परंतु सुन्नी कानून के अन्तर्गत गवाहों की कोई जरुरत नहीं है। तलाक की घोषणा स्वयं या अपने किसी प्रतिनिधि द्वारा की जा सकती है। तलाक लिखित रुप में भी हो सकता है और अलिखित रुप में भी। अलिखित तलाक के तीन प्रकार हैं-

(क) तलाक अहसन (Talak Ahasan) :- तलाक के इस प्रकार में पति पत्नी के **'तुहर'** (मासिक धर्म) के समय एक बार तलाक की घोषणा कर देता है। इसके बाद 'इद्दत' की अवधि में वह पत्नी के साथ यौन-संबंध स्थापित नहीं करता और इस अवधि के समाप्त होने पर तलाक हो जाता है। इद्दत तलाक की घोषणा के बाद चार मासिक धमों के बीच की अवधि को कहते हैं। यह अवधि प्रायः तीन महीने की होती है। इस अवधि में यदि पति पत्नी के साथ सहवास नहीं करता तो अवधि की समाप्ति कर तलाक हो जाता है। इद्दत की अवधि का प्रमुख लक्ष्य यह ज्ञात करना होता है कि स्त्री गर्भवती तो नहीं है। साथ ही इस अवधि में पति को अपने तलाक संबंधी निर्णय पर पुनः विचार करने का अवसर मिल जाता है। इस अवधि में यदि वह अपने निर्णय को बदलना चाहे तो पत्नी के साथ सहवास कर लेता है और ऐसी दशा में तलाक की घोषणा वापस ले ली जाती है।

(ब) तलाक हसन (Talak Hasan) :- तलाक के इस प्रकार में पति को तीन तुहरों के अवसर पर तलाक की घोषणा को दोहराना पड़ता है। इन तीनों की अवधि के बीच वह स्त्री के साथ सहवान भी नहीं करता। इस अवधि के बाद तलाकपूर्ण हो जाता है।

(स) तालक-उल-बिद्दत (Talak-ul-biddat) :- यह तलाक का अत्यन्त सरल तरीका है किसी भी मासिक धर्म के अवसर पर पति, पत्नी या उसके किसी गहवा की अनुपस्थिति में भी, तलाक की एक बार स्पष्ट घोषणा कर देता है और तालक हो जाता है। कभी-कभी एक ही मासिक धर्म के अवसर पर थोड़े-थोड़े समय के बाद तलाक की तीन बार घोषणा की जाती है और फिर तलाक पूर्ण हो जाता है। तुहर के अवसर पर तलाक की घोषणा का उद्देश्य यही है कि यह ज्ञात हो जाए कि तलाक के समय स्त्री गर्भवती तो नहीं है।

2. इला (Illa or Vow of Continence) :- जब पति कसम खाकर चार महिने या इससे अधिक समय तक, पत्नी के साथ यौन संबंध नहीं रखने की प्रतिज्ञा करता है, तो इसे 'इला' कहते हैं। इस अवधि के पश्चात् विवाह-विच्छेद हो जाता है। यदि इस काल में वह पत्नी के साथ यौन-संबंध कर लेता है तो इला टूट जाता है और ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद नहीं होता है। विवाह-विच्छेद की यह रीति अब अधिक प्रचलित नहीं है।

3. जिहर (Zihar or Illegal Comparison) :- जिहर का तात्पर्य है- गैर कानूनी तुलना के द्वारा विवाह-विच्छेद। यदि पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसी स्त्री संबंधी से करता है, जिसके साथ विवाह संबंध वर्जित है, तो पत्नी ऐसी तुलना के लिए पति को प्रायश्चित करने को कहती है। पति यदि प्रायश्चित नही करता, तो ऐसी दशा में पत्नी अदालत में विवाह-विच्छेद की माँग कर सकती है। अदालत ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद की आज्ञा दे देती है।

4. खुला (Khulla or Redemption) :- खुला विवाह-विच्छेद का वह प्रकार है, जिसमें पत्नी पति से विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना करती है और पति के वैवाहिक अधिकारों की समाप्ति के बदले में प्रतिफल के रुप में प्राप्त मेहर को वापस लौटाकर क्षतिपूर्ण का वादा करती है। यदि पति इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो विवाह-विच्छेद मान लिया जाता है।

5. मुबारत (Mubarrat or Mutual Separation) :- यही विवाह-विच्छेद पति-पत्नी की पारस्परिक सहमति (Mutual Consent) के आधार पर होता है। इसमें दोनों ओर से तलाकी इच्छा प्रकट की जाती है। 'खुला' में पत्नी पति को कुछ धन देती है, परंतु यहाँ उसे कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ऐसे विवाह-विच्छेद के लिए पत्नी को 'इद्दत' करना होता है और पति को इस अवधि में उसे अपने घर ही रखना पड़ता है।

6. लियान (Lian or False charge of Adultery) :- इसमें पति, पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है। पत्नी इस आरोप का खण्डन करती है। और अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो पति इस आरोप को वापस ले या खुदा को हाजिर-नाजिर समझकर घोषणा करे कि यह आरोप सत्य है यदि पति का आरोप झूठा सिद्ध होता है तो पत्नी को विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाता है। और वह अदालत की सहायता से विवाह-विच्छेद कर सकती है। यदि पति अपना आरोप वापस ले लेता है तो मुकदमा नहीं चलता है।

7. तलाके तफबीज (Talak Thafabeej) :- विवाह-विच्छेद के इस प्रकार में पत्नी द्वारा तलाक की माँग की जाती है। यह माँग विवाह के समय पति द्वारा पत्नी को दिए गए अधिकार के आधार पर की जाती है।

न्यायिक तलाक (Judicial Divorce) :-

शरीयत अधिनियम (**Judicial Divorce**), 1937 के पहले पत्नी दो आधारों पर विवाह-विच्छेद कर सकती थी। वे आधार ये है-

1.पति का नपुंसक होना।

2.पति द्वारा पत्नी पर लगाया व्यभिचार का आरोप गलत सिद्ध होना।

शरीयत अधिनियम, 1937 के अनुसार, **इला (Illa)** और **जिहर (Zihar)** के आधार पर भी विवाह-विच्छेद किया जा सकता है।

मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) द्वारा मुस्लिम स्त्रियों की विवाह-विच्छेद संबंधी सभी निर्योग्यताएँ एवं असमानताएँ दूर कर दी गई

है और उन्हें विवाह-विच्छेद संबंधी अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं। इन अधिकारों के प्राप्त होने से मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति में काफी सुधार हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों में तलाक एक सामान्य घटना है और विशेष रुप से पुरुषों के लिए तलाक सरल है, परंतु वास्तव में मुसलमानों में तलाक बहुत ज्यादा नहीं होते। मुहम्मद साहब तलाक के अधिकार के कम-से-क प्रयोग के पक्ष में थे। वे विवाह और परिवार को स्थायित्व पदान करना चाहते थे तथा तलाक के अधिकार और प्रयोग को सीमित। उन्होंने तलाक की आज्ञा उसी स्थिति में दी है जब दोनों पक्षों को यह भय हो कि कि वे ईश्वरीय सीमा के भीतर नहीं रह सकते। एक मुस्लिम जनश्रुति के अनुसार विवाह-विच्छेद-कानून-सम्मत तो है, परंतु ईश्वर इसे पसन्द नहीं करता। तलाक संबंधी अपने निर्णय पर पुनः विचार करने और तलाक को नियंत्रित करने के उद्देश्य से ही 'इद्देश्य से ही 'इद्दत' की अवधि पर इतना जोर दिया गया है। डॉ. कापड़िया ने बतलाया है कि ''अपने जीवन के अन्त में पैगम्बर इतने आगे बढ़ गए कि उन्होंने पंचों अथवा न्यायाधीशों के हस्तक्षेप के बिना इसका उपयोग पुरुषों के लिए करीब-करीब निषिद्ध-सा ही कर दिया।'' आपने आगे बतलाया है कि बाद के न्यायशास्त्रियों ने विवाह-विच्छेद की आवृत्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार, पति द्वारा चाहा गया तलाक वास्तव में पत्नी की सहमति के बिना निषिद्ध था। अतः ''हनाफी, मलिकी, शफी और अधिकांश शिया विवाह-विच्छेद की अज्ञा तो देते हैं, परंतु बिना कारण इसका उपयोग न्याय सम्मत नहीं मानते।'' स्पष्ट है कि, चाहे मुहम्मद साहब के पूर्व अरब समाज में विवाह-विच्छेद का काफी प्रचलन रहा तो तथापि वे इसके पक्ष में नहीं थे। उन्होंने तलाक को सीमित कर परिवारों में स्थिरता लाने का काफी प्रयास किया। कानून की दृष्टि से तलाक के संबंध में स्त्री की स्थिति निराशाजनक अवश्य प्रतीत होती है, परंतु व्यवहार में वास्तव में ऐसा नहीं है। इम्तियाज अहमद ने अपनी पुस्तक में वर्णित-विभिन्न मुस्लिम समुदायों के अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर बताया है कि तलाक अधिकतर समूहों में सामाजिक दृष्टि से अस्वीकृत है और इससे न केवल तलाक करने वाले दोनों पक्षों की बल्कि उनके परिवारों की भी सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है। यही कारण है कि मुसलमानों में तलाक बहुत कम होते हैं। साथ ही, सामाजिक प्रथा के अन्तर्गत कुछ संगठनात्मक साधनों को स्वीकार किया गया है जिनके माध्यम से स्त्री अपने पति को तलाक के लिए बाध्य कर सकती। यद्यपि इस्लामी काननू के अनुसार बहु-विवाह तथा तलाक की दृष्टि से स्त्री की स्थिति कमजोर है, लेकिन व्यवहार रुप में इन दोनों ही मामलों में सामाजिक प्रथा कानून के प्रावधानों से काफी भिन्न है।

2.3.6. मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939)

मुस्लिम समाज में पुरुषों को विवाह-विच्छेद संबंधी अनेक अधिकार प्राप्त हैं और वे इच्छानुसार, कभी भी अपनी पत्नी को तलाक दे सकते हैं, परंतु स्त्रियाँ अपने पति की इच्छा के विरुद्ध कभी भी तलाक नहीं दे सकती और वे अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहती हैं। इन निर्योग्यताओं को दूर करने के उद्देश्य से सन् 1937 में **मुस्लिम शरीयत अधिनियम (Muslim Shariat Act)** पारित किया गया। इसके अन्तर्गत मुस्लिम स्त्रियों को इला और जिहर के आधार पर विवाह-विच्छेद करने का अधिकार दिया गया है। इसके पारित होने के उपरान्त भी स्त्रियों को पुरुषों के समान विवाह-विच्छेद संबंधी अधिकार प्राप्त नहीं हुआ और अन्त में सन् **1939** में **मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम** (Dissolution of Muslim Marriage Act, 1939) पारित हुआ। यह अधिनियम मुस्लिम शरीयत अधिनियम, 1937 में संशोधन करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 के अनुसार स्त्रियों

को विवाह-विच्छेद संबंधी पूर्ण अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस अधिनियम में 6 धाराएँ हैं, जिनमें धारा 2 अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार एक स्त्री जिसका विवाह मुस्लिम कानून के अनुसार हुआ है, निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना पत्र देकर राजाज्ञा प्राप्त कर सकती है-

1. यदि पति के बारे में चार वर्ष तक कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई हो।

2. यदि पति लगातार दो वर्ष तक अपनी पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असफलत रहा हो।

3. यदि पति को सात या अधिक वर्षों के लिए जेल की सजा हो चुकी हो। इस आधार पर तलाक उस समय दिया जा सकता है, जब सात वर्ष की सजा का आखिरी फैसला हो चुका हो।

4. यदि पति तीन वर्ष से बिना किसी पर्याप्त कारण के अपने वैवाहिक कर्तव्यों को पूर्ण नहीं कर रहा हो।

5. यदि यह सिद्ध हो जाए कि पति विवाह के समय नपुंसक था और यही अवस्था ततलाक के समय भी जारी है। लेकिन पति अदालत में प्रार्थना-पत्र दे सकता है कि उसे एक वर्ष का समय और दिया जाए और यदि वह इस अवधि के पश्चात् अपने ठीक होने का प्रमाण प्रस्तुत कर दे तो तलाक की आज्ञा नहीं मिलती है।

6. यदि पति दो वर्ष से पागल हो, कुष्ठ अथवा संक्रामक यौन-रोग से पीड़ित हो।

7. यदि उसका विवाह 15 वर्ष से कम आयु में उसके पिता या अन्य संरक्षण द्वारा कर दिया गया हो और इस अवधि में पति-पत्नी का यौन-संबंध न हुआ हो तथा लड़की ने 18 वर्ष की आयु पूर्ण होने के पहले ही ऐसे विवाह के विरुद्ध प्रतिवेदन कर दिया हो।

8. यदि पति, पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करें, जैसे-

(अ) उसे प्रायः पीटता हो या अन्य प्रकार से क्रूरता का व्यवहार करता हो।

(ब) चरित्रहीन स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखता हो।

(स) पत्नी को व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने को बाध्य करता हो।

(द) उसकी संपत्ति को बेचता हो या उसके सांपत्तिक अधिकारों के प्रयोग में बाधा डालता हो।

(य) पत्नी के धार्मिक कार्यों में बाधा डालता हो,

(र) एक से अधिक पत्नियाँ रखकर कुरान के अनुसार सबके साथ समान व्यवहार न करता हो।

9. किसी अन्य आधार पर जो मुस्लिम कानून के अनुसार विवाह-विच्छेद के लिए मान्य हो।

मुस्लिम विवाह से संबंधित समस्याएँ (Problems Connected with Muslim Marriage)

मुस्लिम संस्थाओं एवं सामाजिक व्यवस्थाओं पर सनातनी अरबी व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ा है आज भी यह प्रभाव दिखलाई पड़ता है किंतु मुस्लिम विवाह का परंपरागत स्वरुप बदल रहा है। पुरुषों की स्वेच्छाचारिता पर कुछ नियंत्रण लगाये गये हैं। स्त्रियों की स्थिति कुछ ऊँची उठाई जा रही है। उन्हें विवाह, परिवार एवं संपत्ति के क्षेत्र में अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं। **शरीयत अधिनियम, 1937** व **मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939** पारित किये गये हैं। साथ ही मुस्लिम विवाह की प्रमुख बात यह है कि इसे एक सामाजिक समझौता माना गया है, धार्मिक संस्कार नहीं। अतः जब चाहे तब स्त्री पुरुष विवाह-विच्छेद कर सकते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि मुस्लिम विवाह काफी सरल है और उसमें कोई समस्या नहीं है, किंतु यहह तस्वीर का एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। व्यावहारिक दृष्टि से आज मुस्लिम विवाह भी हिंदू विवाह क समान ही अनेक गम्भीर समस्याओं का शिकार बनता जा रहा है। कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित प्रकार से हैं-

1. **'मेहर'** की समस्यामुस्लिम समाज में मेहर की प्रथा विकराल रुप ग्रहण कर चुकी है। मुस्लिम - पक्ष को मेहर की धनराशि दे दी जाती है -रा वधूपक्ष द्वा-विवाह तभी वैध माना जाता है जब वर अथवा देने का वायदा किया जाता है।

वर्तमान समय में मेहर की प्रथा अभिशाप बनती जा रही है। आज मेहर की राशि दिन-रात चौगुनी गति से बढ़ती जा रही है। इससे कई मुसलमान, जिनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होती है, वैवाहिक संबंध स्थापित करने से वंचित रह जाते हैं व धनाढ्य लोगों का ही विवाह पर एकाधिकार बन जाता है। साथ ही इससे बेमेल विवाह को भी प्रोत्साहन मिलता है।

2. **बहुपत्नी विवाह प्रथा-** मुस्लिम समाज में वैधानिक दृष्टि से एक पुरुष को चार स्त्रियों से विवाह करने की स्वीकृति प्राप्त है। इससे पुरुषों की स्वेच्छाचारिता बढ़ जाती है, वे तानाशाह बन जाते हैं और स्त्रियों पर अत्याचार किए जाते हैं। उनके प्रति भेदभाव बढ़ता जाता है, परिणामस्वरुप उन्हें पत्नीत्व का वास्तविक सुख नहीं मिल पाता। बहुपत्नी प्रथा के कारण ही पारिवारिक वातावरण कलुषित हो जाता है। वहाँ आये दिन ईर्ष्या, द्वेष, मनमुटाव, लड़ाईझगड़े पाये जाते हैं। स्त्रियों की - सामाजिक, आर्थिक स्थिति भी निम्न हो जाती है। अधिक पत्नियाँ तथा अधिक सन्तान बहुधा परिवार पर आर्थिक बोझ भी बन जाती है। ऐसी दशा में उनके रहनसहन का स्तर गिरता है-, उनके बालकों का चहुँमुखी विकास अवरुद्ध हो जाता है।
3. **बाल विवाह की समस्या -** विवाह से संबंधित एक महŸवपूर्ण समस्या बाल-विवाह की भी है। मुस्लिम संस्कृति का हिन्छू संस्कृति से लम्बे समय से सम्पर्क के कारण मुस्लिम संस्कृति में भी बाल-विवाह की कुप्रथा प्रचलित हो गयी। इस दुष्प्रथा के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य गिरा रहता है, दुर्बल सन्तानों का जन्म होता है, पारिवारिक सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई रहती है। साथ ही जनसंख्या वृद्धि को भी प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन मुस्लिम विवाह की एक शर्त के अनुसार यदि 15 वर्ष से कम आयु में विवाह किया जाय तो बालिग होने पर वर-वधू अपने विवाह को समाप्त भी कर सकते हैं।
4. **पर्दा प्रथा की समस्या :-** मुस्लिम विवाह की एक समस्या पर्दा-प्रथा है। मुस्लिम स्त्रियों को घर में बड़े-बूढ़ें से, नाते रिश्तेदारों से पर्दा करना पड़ता है। उन्हें घर से बाहर निकलते समय बुरका ओढ़ना पड़ता है, इससे स्त्रियों की निम्न स्थिति रहती है, उनकी समुचित शिक्षा-दीक्षा नहीं हो पाती, व्यक्तित्व का स्वस्थ व सन्तुलित विकास नहीं हो पाता, वे केवल घर की चारदीवारी तक ही सीमित रह जाती हैं।
5. **स्त्रियों की असंतोषजनक स्थिति :-** हिंदू स्त्रियों की भाँति मुस्लिमम स्त्रियों की स्थिति भी संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। अशिक्षा, संयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा प्रथा, बहुपत्नी प्रथा एवं आर्थिक निर्भरता के कारण स्त्रियाँ अपने अधिकार का लाभ नहीं उठा पातीं। स्त्रियों के सारे अधिकार छील लिये गये हैं और पर्दा प्रथा की आड़ में उन्हें जनान खाने में कैद करके रख दिया गया है। परिवार संबंधी वास्तविक संपत्ति तो पुरुषों के हाथ में केंद्रित रहती है और स्त्रियों को सेविका की ही भूमिका आजीवन निभानी पड़ती है।

6. **वैवाहिक अधिकारों की अव्यावहारिकता :-** मुस्लिम स्त्रियों को विवाह से संबंधित अनेक अधिकार तो दिए गए हैं, परंतु वे केवल बाहरी दिखावा मात्र हैं, व्यावहारिक दृष्टि से उनका उपयोग करना कठिन है। स्त्रियों से विवाह के पूर्व स्वीकृति ली जाती है किंतु वह एक औपचारिकता है, उसे माता-पिता की इच्छा के अनुसार स्वीकृति देनी ही पड़ती है। मेहर की राशि पर स्त्री का नहीं वरन् परिवार का ही अधिकार होता है। विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार तो है किंतु ऐसी स्त्री समाज में हीन दृष्टि से देखी जाती है। व्यवहार में तलाक के अधिकार का भी स्त्रियों द्वारा कम ही उपयोग किया जाता है।
7. **अस्थायी विवाह :-** मुसलमानों में विवाह से संबंधित एक समस्या यह है कि उनमें अस्थायी विवाह भी होते हैं जिसे **'मुताह' (Mutah)** कहते हैं। ऐसे विवाह से वैश्यावृत्ति, यौन अनैतिकता एवं बहुपत्नी विवाह जैसी समस्याएँ जन्म लेती हैं। साथ ही साथ पारिवारिक संगठन भी सन्तुलित नहीं रह पाता। मुहम्मद साहब ने भी ऐसे विवाह को वैश्यावृत्ति की बहिन कहा है।
8. **अधिक जनसंख्या :-** मुस्लिम समाज में प्रचलित बहुपत्नी विवाह व बाल विवाह की प्रथा के कारण अधिक संतानोत्पत्ति की समस्या उत्पन्न होती है। बाल-विवाह के कारण सन्तान अल्पायु में ही होना प्रारम्भ हो जाती है और देश की जनसंख्या बढ़ती जाती है जबकि वर्तमान समय में जनसंख्या की वृद्धि एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है।
9. **आर्थिक कठिनाईयाँ :-** मुस्लिम विवाह पद्धति के कारण कई बार स्त्री-पुरुषों को आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। मुस्लिम विवाह में मेहर देना अनिवार्य होता है। अतः यदि पुरुष की आर्थिक स्थिति पहले ही कमजोर हो और अल्प बचत भी वह मेहर के रुप में दे दे तो बाद में उसे आर्थिक अभाव का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार बहुपत्नी प्रथा के कारण भी परिवार में अधिक स्त्रियों व अधिक सन्तानों के होने से उनके भरण-पोषण व शिक्षा-दीक्षा की समस्या आती है।
10. **संविदात्मक विवाह :-** मुस्लिम समाज में विवाह का स्वरुप संविदा या सामाजिक समझौते का है। इसका मुख्य लक्ष्य संतानोत्पत्ति तथा वैध यौन संबंधों को धार्मिक-सामाजिक मान्यता प्रदान करना है। मुस्लिम विवाह कानून के अनुसार भी- ''स्त्री-पुरुष के बीच किया गया वह **बिना शर्त का संविदा** (Unconditional Contract) है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति कर बच्चों को वैध रुप प्रदान करना है।'' इनमें विवाह एक स्थायी बन्धन न होकर कभी भी तोड़ा जा सकने वाला समझौता मात्र होता है। इसी कारण मुस्लिम समाज में बहुपत्नी प्रथा, तलाक की प्रथा, मेहर की प्रथा, विधवा पुनर्विवाह की स्वीकृति व स्त्रियों की निम्न दा जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।
11. **सरल तालक पद्धति :-** मुस्लिम विवाह से संबंधित सबसे महत्वपूर्ण समस्या विवह-विच्छेद की है। इसमें जब चाहे तब पति पत्नी तलाक ले सकते व दे सकते हैं। सर विलियम म्योर ने लिखा है कि, ''मुहम्मद साहब ने जो स्थिति स्त्री के लिए निर्धारित की वह निम्न कोटि की है और उनके अनुसार स्त्री के भाग्य में केवल अपने स्वामी की सेवा करना लिखा है और वह भी उस स्वामी की जो बिना कोई कारण बतलाये तथा बिना एक घण्टे की पूर्व सूचना दिए पत्नी को

अलग कर सककता है।'' साथ ही तलाक से सम्बधित अधिकार एक-तरफ है। इस पूरे खेल की बागडोर पुरुष के हाथ में रहती है। पुरुष जब चाहे तब बिना बताये तीन बार 'तलाक' शब्द के उच्चारण मात्र से ही पत्नी को तलाक दे सकता है। यद्यपि पुरुष के इस वर्चस्व को 1939 के अधिनियम द्वारा समाप्त किया गया है और कुछ परिस्थितियों में स्त्रियों को भी तलाक देने का अधिकार दिया गया है, परंतु व्यावहारिक रुप से स्त्रियों द्वारा तलाक कम ही दिया जाता है। इस सरल तलाक पद्धति के कारण ही स्त्रियों को सदैव पुरुषों की दासी बनकर रहना पड़ता है। साथ ही स्त्रियों की निम्न स्थिति के लिए सरल तलाक पद्धति ही प्रमुखतः उत्तरदायी है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह पद्धति के कारण आज सम्पूर्ण मुस्लिम समाज अनेक गम्भीर दुष्परिणामों से पीड़ित है। प्रमुखतः बहुपत्नी विवाह, बाल-विवाह विवाह प्रथा, मेहर प्रथा, सरल विवाह-विच्छेद पद्धति, पुरुषों की स्वेच्छाचारिता, स्त्रियों की निम्न दशा, अधिक संतानोत्पत्ति, आर्थिक दबाव आदि समस्याओं का मुस्लिम समाज को सामना करना पड़ रहा है। यद्यपि समय परिवर्तन के साथ-साथ मुस्लिम विवाह पद्धति में भी अनेक परिवर्तन आ रहे हैं, किंतु जो परम्परा सदियों से चली आ रही है, उसे दो चार दिन में नहीं छोड़ा जा सकता।

2.3.7. हिंदू और मुस्लिम विवाह : समानताएँ एवं अंतर (Similarities & Differences between Hindu and Muslim Marriage)

हिंदू विवाह और मुस्लिम विवाह दो भिन्न संस्कृतियों की देन है और इसी कारण इन दोनों प्रकार की विवाह-पद्धतियों में अनेक अंतर पाए जाते हैं। साथ ही इन विवाह-पद्धतियों में कुछ समानताएँ भी पाई जाती है, जो इस प्रकार है-

हिंदू और मुस्लिम विवाह में समानताएँ (Similarities between Hindu and Muslims Marriage)

1. **बहुपत्नी विवाह प्रथा)Polygyny -: (**हिंदू और मुस्लिम विवाहों में पहली समानता यह है कि इन दोनों में बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन रहा है। दोनें में एक पुरुष को एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने की आज्ञा रही है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हजरत मुहम्मद ने कुरानक मुसलमान को चाशरीफ में ए-र स्त्रियों तक ही विवाह करने की आज्ञा दी है। हिंदुओं में इस प्रकार स्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई। उनमें मुख्य रुप से पुत्रप्राप्ति उद्देश्य से - में 1955 बहुपत्नी विवाह प्रथा का प्रचलन हुआ।'हिंदू विवाह अधिनियम' द्वारा हिंदुओं में बहुपत्नी विवाह पूर्णतः समाप्त कर दिए गए। अब कोई भी हिंदू एक पत्नी के जीवति रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता है। मुसलमानों में अभी भी एक पुरुष को चार स्त्रियों तक से विवाह करने की अनुमति है। आज आवश्यकता इस बात की है कि संविधान के नीतिनिर्देशक - ध्यान में रखत सिद्धान्तों को हुए प्रत्येक नागरिक के लिए सामान्य संहिता हो।
2. **बाल विवाह (Child Marriage) :-** हिंदू तथा मुसलमान दोनों में ही बाल-विवाह प्रचलित हैं। आरम्भ में मुस्लिम कानून के अनुसार बाल-विवाह अवैध थे, परंतु जब मुसलमान भारत में आये और अनेक हिंदू भी मुसलमान बन गये, तो यहाँ मुसलमानों में बाल-विवाहों का प्रचलन

हुआ। मुस्लिम विवाह कानून के अन्तर्गत, उन लोगों को जिनका विवाह 15 वर्ष की आयु के पूर्व उनके संरक्षकों द्वारा कर दिया जाता हे, इस विवाह को अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया है, जिसे 'ख्याल उल-बुलूग' कहते हैं। 1939 के 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' के अनुसार, जिनका विवाह 15 वर्ष की आयु के पूर्व हो चुका है, उन्हें 18 वर्ष की आयु के पहले, ऐसे विवाह को मानने से इन्कार कर देने का अधिकार दिया गया है।

हिंदू और मुस्लिम विवाह में अंतर (Difference between Hindu and Muslim Marriage)

हिंदू तथा मुस्लिम विवाह पद्धति में अनेक अंतर पाए जाते हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. हिंदू विवाह एक पवित्र धार्मिक संस्कर है और मुस्लिम विवाह एक समझौता है)**Hindu Marriage is a religious sacrament and Muslim Marriage is a contract** (-:हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसका मुख्य उद्देश्य पुत्रप्राप्ति है। पुत्रों का कार्य अपने - दान देकर-पितरों को पिण्ड, उनका तर्पण आदि करके उन्हें मोक्ष प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना है। दूसरी ओर मुसलमानों में विवाह एक संविदा या समझौता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य यौन संबंध तथा सन्तानोत्पादन है।-हिंदू में यौनसंबंध या रति को विवाह का अन्तिम उद्देश्य - माना गया है, जबकि मुसलमानों में यौन-संबंधों को प्रधानता दी गई है।
2. **हिंदुओं में दहेज तथा मुसलमानों में मेहर की प्रथा)Dowry among Hindus and Dower among Muslims -: (**हिंदुओं में पत्नी अपने पिता के घर से दहेज के रुप में धन लाती है, जबकि मुसलमानों में पति, पत्नी को कुछ धन राशि जिसे 'मेहर' कहते हैं, देता है या देने का वादा करता है। हिंदुओं में लड़के को दहेज दिया जाता है और मुसलमानों में पति, पत्नी को मेहर देता है। मुस्लिम समाज में विवाह एक समझौता माना जाता है और इसी कारण समझौते की आवश्यक शर्त के रुप में पति, पत्नी की मेहर देता है। हिन्छू जिस प्रकार दहेज की कुप्रथा से परेशान है, उसी प्रकार मुसलमान मेहर की प्रथा से। हिंदुओं में दहेज तथा मुसलमानों में मेहर को नियंत्रित करने के लिए आन्दोलन चल रहे हैं।
3. **विवाह में निषिद्ध संबंध)Prohibitions in Marriage -: (**हिंदुओं में सपिण्ड और सगोत्र विवाह वर्जित हैं। सपिण्ड में आजकल पिता की ओर पाँच तथा माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक के लोगों में परस्पर विवाह वर्जित हैं। मुसलमानों में केवल कुछ निकट रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर सबके साथ विवाह किया जा सकता है। निषिद्ध संबंधों के कारण हिंदुओं में विवाह का क्षेत्र बहुत सीमित हैं। मुसलमानों में यह क्षेत्र इतना सीमित नहीं है, क्योंकि उनमें कुछ अति निकट के रिश्तेदारों को छोड़कर शेष सब में विवाह हो सकते हैं।
4. **विवाह विच्छेद का अधिकार (Right to Divorce) :-** प्रचलित व्यवस्था के अनुसार, हिंदू विवाह एक अटूट बन्धन है जिसे केवल मृत्यु के बाद ही तोड़ा जा सकता है। यहाँ पति-पत्नी का संबंध जन्म-जन्मान्तर का माना जाता है, इसलिए हिंदुओं में तलाक के द्वारा इस संबंध को समाप्त करने का प्रश्न ही उपस्थिति नहीं होता। दूसरी ओर, मुस्लिम विवाह पति-पत्नी के बीच एक

समझौता है, जिसे कुछ विशेष अवस्थाओं में तोड़ा जा सकता है। इस्लाम के पुराने कानून के अनुसार, पति का तलाक संबंधी विशेष अधिकार प्रदान किए गए थे। वह केवल तीन तीन बार 'तलाक' शब्दा का उच्चारण करके ही अपनी पत्नी को छोड़ सकता था। सन् 1939 के 'मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम' के अनुसार अब पत्नी भी कुछ विशेष अवस्थाओं में न्यायालय द्वारा पति को तलाक दे सकती है। हिंदू स्त्री-पुरुषों को भी 1955 में पारित हुए 'हिंदू विवाह अधिनियम' के अन्तर्गत कुछ विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद का अधिकार दिया गया है।

5. **विधवा विवाह (Widow Marriage) :-** हिंदुओं में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 के पारित होने के उपरान्त भी विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं हो सकता है। उनमें यह धारणा प्रचलित है कि जिस लड़की को कन्यादान के रुप में एक पुरुष को दिया जा चुका है, उसे पति की मृत्यु के पश्चात् अन्य पुरुष को दुबारा दान में कैसे दिया जा सकता है? साथ ही, यहाँ विवाह को जन्म-जन्मान्तर का अटूट संबंध माना गया है। फिर ऐसी दशा में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा स्त्री पुनर्विवाह कैसे कर सकती है? मुस्लिम समाज में, विवाह के एक समझौता होने के कारण पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। वहाँ विधवा विवाह को अपवित्र या बुरा नहीं माना जाता। उनमें पति की मृत्यु के बाद कुछ निश्चित समय के पश्चात् ही एक विधवा पुनर्विवाह कर सकती है। इस प्रतीक्षा काल को 'इद्दत' कहते हैं। इद्दत का उद्देश्य यह पता लगाना है कि स्त्री अपने पहले पति से गर्भवती है या नहीं ताकि यह निश्चित करने में झगड़ा न हो कि संतान का पिता कौन है। इस इद्दत के प्रतीक्षा-काल के पश्चात् विधवा स्त्री विवाह कर सकती है। आजकल हिंदू समाज में अनेक कारणों से विधवा पुनर्विवाह को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाय यद्यपि इसका प्रचलन बहुत सीमित मात्रा में है।
6. **शिया मुसलमानों में मुताह विवाह (Mutah Marriage among Sia Muslims) :-** शिया सम्प्रदाय के लोगों में मुताह नामक अस्थायी विवाह की प्रथा है। इस विवाह में निश्चित की हुई अवधि तक पति-पत्नी एक साथ रहते हैं। इस अवधि के पश्चात् विवाह अपने आप समाप्त हो जाता है। ऐसे मुताह-विवाह स्त्री-पुरुष दोनों कर सकते हैं। हिंदुओं में इस प्रकार का कोई अस्थायी विवाह प्रचलित नहीं है।
7. **विवाह के स्वरूपों के आधार पर अंतर :-** हिंदुओं में विवाह के आठ स्वरुप प्रचलित हैं जबकि मुसलमानों में तीन प्रकार के विवाह (निकहा, मुताह एवं फासिद) ही पाये जाते हैं।
8. **इद्दत का अंतर :-** मुसलमानों में तलाक के लिए स्त्री को इद्दत की अवधि का पालन करना होता है अर्थात् तालक के बाद तीन मासिक धर्म की अवधि तक वह किसी से पुनर्विवाह नहीं कर सकती। किंतु हिंदुओं में इद्दत की अवधि जैसे कोई चीज प्रचलित नहीं है।
9. **वैवाहिक प्रक्रियाओं के आधार पर अंतर :-** मुसलमानों में विवाह का प्रस्ताव वर-पक्ष द्वारा वधू-पक्ष की तरफ रखा जाता है। जिसकी स्वीकृति एक ही बैठक में गवाहों के समक्ष होना जरुरी

है। हिन्छुओं में विवाह का प्रस्ताव लड़की वालों की ओर से रखा जाता है, उसमे गवाह एक आवश्यक पक्ष नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू और मुस्लिम विवाह पद्धतियों में समानताएँ कम और असमानताएँ अधिक हैं।

2.3.8. सारांश :-

लेम्बेट ने बताया है कि सुन्नी सूरती बोहरा स्त्रियों के द्वारा विवाह के समय लोकगीतों के गाये जाने की प्रथा समाप्त हो रही है। और इस अवसर पर लड़की के घर कत्वाली के कार्यक्रम का स्थान धार्मिक प्रवचन लेते जा रहे हैं। इस्लामीकरण एवं धर्म निरपेक्ष शिक्षा के बढ़ने के साथ-साथ विवाहह से संबंधीत कुछ प्रथाओं और अनुष्ठानों को छोड़ा जा रहा है लेकिन उनमें अन्य प्रथाओं और रीति-रिवाजों का अब भी पालन किया जा रहा है। मुस्लिम में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जहाँ पर्दा प्रथा का प्रचलन कुछ कम हुआ वहाँ लड़के-लड़कियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है परिणामस्वरुप उनमें भी अब प्रेम विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं यद्यपि ऐसे विवाहों की संख्या अभी बहुत सीमित हैं।

मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 के अन्तर्गत पुरुषों के समान अब स्त्रियों को भी कुछ आधारों पर तलाक देने का अधिकार प्राप्त हो गया है। मुस्लिम में विशेषतया नगरीय क्षेत्रों में विवाह की आयु बढ़ रही है। इनमें बाल विवाहों का प्रचलन कम हो रहा है। यद्यपि मुस्लिम कानून के अनुसार एक पुरुष एक समय में चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है किंतु वर्तमान में एक विवाह की प्रवृत्तिआर्थिक कारणों से बढ़ती जा रही है।

हिंदुओं में दहेज की भांति मुसलमानों में मेहर की राशि में काफी वृद्धि हुई हैं, इसका एक लाभप्रद परिणाम यह हुआ है कि पुरुषों के तलाक देने के अधिकार पर कुछ नियंत्रण लगा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव, नवीन शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के प्रभाव एवं हिंदुओं के सम्पर्क के कारण परंपरागत मुस्लिम विवाह में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, यद्यपि मुस्लिम विवाह की संरचना में अधिकांशतः निरन्तरता देखने को मिलती है। पिछड़ेपन एवं शिक्षा के अभाव के कारण अधिकांश मुस्लिम विवाह आज भी परंपरागत तौर तरीकों से ही सम्पन्न होते हैं।

मुस्लिम समुदायों में इस्लामीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रियाएं भी चल रही हैं। जिनका कारण विस्तृत सामाजिक शक्तियाँ है। इम्तियाज अहमद ने बताया है कि मुस्लिम प्रथाएं और रीति-रिवाज इस्लामीकरण के परिवर्तनकारी प्रभावों में उपरान्त भी अपने अस्तित्व को सफलतापूर्वक बनाये हुए हैं। डॉ0 अग्रवाल ने भी अपने अध्ययन के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है। सारांश के रुप में यह कहा जा सकता है कि इस्लामीकरण ने मुस्लिम धर्म व संस्था में परिवर्तन तो आया है परंतु अब भी वो अपने अस्तित्व को बचाये हुये हैं।

2.3.9 बोध प्रश्न

1. भारत में मुस्लिमम विवाह और तलाक को नियमित करने संबंधी कानून प्रावधानों की विवेचना कीजिए?
2. मुस्लिम समाज में तलाक लिये जाने की विधि को समझाइए?
3. मुस्लिम एवं हिंदू विवाह में अंतर को स्पष्ट करें।
4. मुस्लिम विवाह पर एक लेख लिखिए।
5. मेहर पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
6. मुस्लिम विवाह एवं तलाक के सभी प्रकारों का उल्लेख करें।
7. मुस्लिम विवाह के उद्देश्य एवं शर्तो पर प्रकाश डालिये।

2.3.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. शर्मा, के. एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
2. अग्रवाल, गोपाल. कृष्ण. (1995). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. आगरा: ओम प्रिन्टिंग प्रेस.
3. गुप्ता, मोतीलाल. (2001). *भारत में समाज*. जयपुर: राजस्थान. हिंदी ग्रंथ अकादमी.
4. कपाड़िया, के. एम. (2000). *भारत में विवाह एवं परिवार*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
5. अहूजा, राम. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन्स.
6. Ahuja, Ram. (2010). *Indian Social System*. New Delhi : Rwat Publication.
1. Bhartiya, V.P. (2014). *Muslim Law*. Lucknow: Eastern Book Company.
7. महाजन, धर्मवीर. एवं महाजन, कमलेश. (2015). *भारतीय समाज : मुद्दे एवं समस्याएं दिल्ली*: विवेक प्रकाशन.
8. बघेल, डी. एस. (1999). *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*. वाराणसी: विजय प्रकाशन मंदिर.

इकाई: 4 नातेदारी: अवधारणा, व्यवस्था एवं आयाम

इकाई की रूपरेखा

2.4.1 उद्देश्य
2.4.2 प्रस्तावना
2.4.3 नातेदारी व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा
2.4.4 नातेदारी के प्रकार
2.4.5 नातेदारी की श्रेणियाँ
2.4.6 नातेदारी की संज्ञाएं
2.4.7 नातेदारी के नियामक व्यवहार या रीतियाँ
2.4.8 नातेदारी: भूमिका एवं महत्व
2.4.9 बोध प्रश्न
2.4.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.4.1 उद्देश्य

1. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थियों को निम्नांकित बिंदुओं के बारे में ज्ञानवर्धन होगा।
2. नातेदारी का अर्थ इसके उद्देश्य एवं महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त होगी।
3. भारतीय समाज में नातेदारी के प्रकारों का विस्तृत विवरण प्राप्त होगा।
4. नातेदारों की श्रेणियों के बारें में ज्ञान प्राप्त होगा। नातेदारों के संबोधन एवं उनके मध्य पनपने वाले व्यवहारों से संबंधित ज्ञान की प्राप्ति होगी।
5. जीवन में नातेदारी की भूमिका एवं उसके कार्य कौन-कौन से हैं? इस इकाई में इस तथ्य की भी जानकारी होगी।

2.4.2 प्रस्तावना

सभी मानव समाजों में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक ग्रामीण हो या नगरीय, नातेदारी व्यवस्था सर्वव्यापी है। नातेदारी एवं विवाह जीवन के मूल लक्ष्य हैं। समाज की निरंतरता एवं यौन इच्छा विवाह नामक संस्था को जन्म देती है और विवाह से परिवार एवं नातेदारी व्यवस्था विकसित होती है। सृष्टि के प्रारंभ से ही व्यक्तियों को समूह में रहने को प्रेरित करने में दो बातों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। प्रथम आर्थिक हित एवं द्वितीय सामाजिक सुरक्षा। परिणामस्वरूप परिवार से लेकर राष्ट्र तक के छोटे-बड़े समूहों एवं समुदाय के निर्माण को प्रेरणा मिली। इन सभी व्यवस्थाओं में सुरक्षा एवं स्थायित्व की दृष्टि से नातेदारी सर्वाधिक विश्वसनीय संस्था है। व्यक्ति राष्ट्र, धर्म, प्रदेश आदि सब कुछ बदल सकता है लेकिन नातेदारी नहीं। नातेदारों के साथ जो आत्मीयता रहती है उसी से संबंध मजबूत होते हैं व एक सशक्त सामाजिक संबंधों पर आधारित समाज की रचना होती है।

परिवार की भांति नातेदारी भी सामाजिक संगठन का मौलिक और प्राचीन आधार है। आधुनिक शोध कार्यों से यह ज्ञात होता है कि आदिम समाजों में लोगों को प्राथमिक संबंधों में बोधने वाला आधार नातेदारी ही था। यही कारण है कि आदिकाल से परिवार सामाजिक संगठन का आधार रहा है और नातेदारी उसका मुख्य सिद्धांत। नातेदारी, अधिकारों, कर्तव्यों व दायित्वों-सुविधाओं की वह व्यवस्था है जो न केवल परिवार के सदस्यों के संबंधों को परिभाषित करता है वरन् कई पारिवारिक इकाईयों के संबंधों को भी प्रकट करता है। यह व्यक्तियों और परिवारों को जोड़ने वाली एक कड़ी है।

2.4.3 नातेदारी व्यवस्था: अर्थ एवं परिभाषा

नतेदारी को समझे बिना हम किसी भी समाज के आन्तरिक स्वरूप को एवं सामाजिक अंतः क्रियाओं को अच्छी तरह से नहीं समझ सकते। सामाजिक अंतः क्रियाओं को समझे बिना हम किसी समाज को नहीं पहचान सकते। नातेदारी, विवाह, परिवार मानवशास्त्रीय अध्ययन की केंद्रीय विषय वस्तु रही है। अनेक मानवशास्त्रियों ने विश्व के विभिन्न भागों में बसने वाली जनजातियों के समाजों का अध्ययन कर अपनी रचनाएं प्रस्तुत की और इस विषय में हमारे ज्ञान में वृद्धि किया। इनमें मैक्लेनन, हेनरीमेन, लुईस मॉर्गन, रेडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की, ईवान्स प्रिचाई, मुरडॅक, लेवी स्ट्रास, लुई ड्यूमा आदि मानवशास्त्री प्रमुख हैं, जिन्होंने इस विषय पर गहनता से अध्ययन किया है। नातेदारी से संबंधित कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं-

चाल्स विनिक (**Dictionary of Anthropology,Page3.2**), के अनुसार - "नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त उन संबंधों को समाविष्ट द्वारा मान्यता प्राप्त उन संबंधों को समाविष्ट करते है जो अनुमानित तथा रक्त संबंधों पर आधारित हो।"

मजूमदार व मदान, के अनुसार - "सभी समाजों में मनुष्य अनेक प्रकार के बंधनों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते हैं। इन बंधनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आधारभूत बंधन वह है जो सन्तानोत्पत्ति पर आधारित होता है- सन्तानोत्पत्ति मानव की स्वभाविक इच्छा है और यही नातेदारी कहलाता है।"

रेडक्लिफ ब्राउन, के अनुसार - "नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश संबंध है जो कि सामाजिक संबंधों के परंपरागत संबंधों का आधार है।"

लूसीमेयर, के अनुसार - "नातेदारी में सामाजिक संबंधों को जैविक संबंधों में व्यक्त किया जाता है।"

(लूसीमेयर, सामाजिक विज्ञानों की भूमिका हिंदू, अनुवाद, पेज-65)

डॉ. रिवर्स, के अनुसार - "नातेदारी की मेरी परिभाषा उस संबंध से है जो वंशवालियों के माध्यम से निर्धारित व वर्णित की जा सकती है।"

(डॉ. रिवर्स, सोशल आर्गनाइजेशन, पेज-41)

रॉबिन फॉक्स, के अनुसार - "नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक अथवा कल्पित समरक्ता वाले व्यक्तियों के मध्य संबंध से है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नातेदारी में वे व्यक्ति सम्मिलित होते है जिनसे वंशावली के आधार पर संबंध होता है। वंशावली संबंध परिवार से उत्पन्न होता हैं और परिवार विवाह से उत्पन्न होता है। इस प्रकार रक्त संबंधों को नातेदारी की आंतरिक व्यवस्था और विवाह संबंधों को बाध्य व्यवस्था कहते है। **लेवी स्ट्रास** ने नातेदारी को केवल रक्त संबंध पर आधारित ही नहीं वरन् उनके अनुसार समाज का कोई भी स्वीकृत व्यक्ति नातेदार बन सकता है।

2.4.4 नातेदारी के भेद या प्रकार (Types of Kinship)

सामाजिक संबंधों में से सार्वभौमिक और आधारभूत संबंध में हैं जो प्रजनन पर आधारित होते है। प्रजनन की कामना दो प्रकार के संबंधों को जन्म देती है।

1. माता-पिता एवं संतानों के बीच तथा भाई-बहन के बीच बनने वाले संबंध इन्हें समरक्तता के संबंध (Consanguineous Relations) कहते है।
2. पति-पत्नी के मध्य बनने वाले संबंधों एवं दोनों पक्षों के बीच बनने वाले संबंध को विवाह संबंध Affinal Relation) कहते हैं।
3. इन सबके अलावा समाज में कुछ ऐसे संबंध होते है जो न तो रक्त संबंधी होते हैं और न हीं वैवाहिक संबंधी फिर भी ये नातेदारों की श्रेणी में आते हैं और समाज द्वारा मान्य होते हैं। ऐसे संबंधों को **कल्पित नातेदारी** (Fictional Kinship) कहते हैं।

1. विवाह संबंधी नातेदारी (Affinal Relation)

प्रजनन पर आधारित नातेदारी के संबंधों में विवाह संबंध है जो विषम लिगिंयों के बीच समाज की स्वीकृति के परिणामस्वरूप स्थापित होता है। पति-पत्नी ही विवाह संबंधी नही हैं वरन् उन दोनों के परिवारों के अनेक संबंधी भी परस्पर विवाह संबंधी होते हैं, जैसे- सास, ससुर, फूफा, बहू, दामाद आदि।

इन संबंधों को दो व्यक्तियों के संदर्भ में ही प्रकट किया जाता है। इन सभी संबंधियों के बीच संबंध का आधार रक्त न होकर वैवाहिक ही माना जाएगा।

हम इस तथ्य को इस प्रकार भी समझ सकते है कि पति-पत्नी रक्त की दृष्टि से एक-दूसरे से पृथक है लेकिन विवाह के आधार पर एक-दूसरे से प्रगाढ़ रूप से जुड़े है। इन दोनों के मिलने से दो परिवारों का संबंध भी हो जाता है जो परिवार के संबंधी हो जाते है। विवाह संबंधी नातेदारी में "सामाजिक पक्ष" अति महत्वपूर्ण है।

2. रक्त संबंधी नातेदारी (Consan guanacos Kinsheption)

इसके अंतर्गत वे लोग आते हैं जोकि समान रक्त के आधार पर एक-दूसरे से संबंधित हों। उदारहण के लिए माता-पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाईयों से या दो भाई-बहन के बीच का संबंध रक्त के आधार पर ही आधारित है। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि रक्त संबंधी नातेदारों में रक्त संबंध वास्तविक भी हो सकता है और नहीं भी। दूसरे शब्दों में रक्त संबंध केवल प्राणिशास्त्रीय आधार पर ही नहीं, समाजशास्त्रीय आधार पर भी स्थापित हो सकता है। उदाहरणार्थ जिन समाजों में बहुपति विवाह का प्रचलन है वहाँ प्राणिशास्त्रीय आधारों पर यह निश्चित करना असंभव था कि कौन सा बच्चा किस पति का है इसलिए वहाँ पर प्राणिशास्त्रीय पितृत्व को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व को अधिक महत्व दिया जाता है।

नीलगिरि की बहुपति विवाह टोडा जनजाति में सामाजिक पितृत्व का निर्धारण एक विशेष प्रथा "परसुतपिकी" द्वारा होता है। जो पति गर्भवती स्त्री को उसके गर्भाकाल के पाँचवे महीने में धनुष-बाण भेंट करता है। वही उस स्त्री की होने वाली सभी संतानों का पिता तब तक बना रहता है जब तक कोई दूसरा पति इस प्रकार का संस्कार न कर लें। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कुल की स्त्रियां दूसरे कुल की भावी पटिनयाँ समझी जाती हैं इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरूषों के लिए, जो उनकी माताओं के भावी पति हो सकते हैं, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते है।

3.काल्पनिक नातेदारी (Fictional Kinship)

रक्त संबंधियों के बीच सदा ही प्राणिशास्त्रीय संबंध होना आवश्यक नहीं है। इनके बीच काल्पनिक संबंध भी हो सकते है। इसके अंतर्गत किसी को गोद लेने अथवा अपना लेने से यह काल्पनिक नातेदारी बन जाएगी। इस प्रकार की नातेदारी में संबंध न तो वैवाहिक होते है और न ही रक्त संबंधी हाँ परंतु इन संबंधों को कानूनी या फिर सामाजिक मान्यता अवश्यक प्राप्त होनी चाहिए, यह अनिवार्य तत्व है। उदाहरण- यदि एक बच्चा किसी दंपत्ति के द्वारा गोद लिया जाता है तो वह उस दंपत्ति का पुत्र तो होगा, उसे सारे सामाजिक व कानूनी अधिकार प्राप्त होगा मगर उसके द्वारा बनाए जाने वाले संबंध रक्त संबंधी व वैवाहिक न होकर काल्पनिक नातेदारी होगी।

2.4.5 नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)

सभी नातेदारों से संपर्क निकटता एवं घनिष्ठता का नहीं होता। कुछ अधिक घनिष्ठ होते है तो कुछ कम। मुरडॉक ने नातेदारी की श्रेणियों का गहन अध्ययन किया है और लिखा है कि इस प्रथा संपर्क,

घनिष्ठता, निकटता एवं आत्मीयता के आधार पर विवाह संबंध, रक्त संबंध एवं काल्पनिक संबंधों के स्वरूपों के आधार पर नातेदारी को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं –

1. प्राथमिक नातेदारी (Primary Kinship)

2. द्वितीय नातेदारी (Secondary Kinship)

3. तृतीयक नातेदारी (Tertiary Relation)

1. प्राथमिक नातेदारी (Primary Kinship)

इसके अंतर्गत हमारे वे संबंधी आते हैं जो एक दूसरे से प्रत्यक्ष व घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं। इनसे संबंधों को प्रकट करने के लिए कोई और संबंधों को प्रकट करने के लिए कोई और संबंधी बीच में नहीं होता है और जिनके साथ रक्त या विवाह के आधार पर नातेदारी होती है। एक परिवार में आठ प्रकार के प्राथमिक संबंधी हो सकते हैं, जिनमें सात रक्त से संबंधित एवं एक विवाह से संबंधित होता है। जैसे- पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-भाई, भाई-बहन, बहन-बहन ये सभी सात संबंध रक्त संबंधी है।। आठवा संबंध पति-पत्नी का होता है जो रक्त संबंधी न होकर वैवाहिक होता है।

2. द्वितीयक नातेदारी (Secondary Kinships)

इसके अंतर्गत वे नातेदार आते हैं जो प्राथमिक नातेदारों से सीधे जुड़े होते हैं। अर्थात् जो उपर्युक्त प्राथमिक संबंधियों के प्राथमिक संबंधी होते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति का दादा उसका द्वितीयक संबंधी है, क्योंकि दादा का संबंध पोते से पिता के द्वारा है और बच्चे का पिता एवं उसका पिता दो आपस में प्राथमिक संबंधी हैं। द्वितीयक नातेदारी भी रक्त संबंधी एवं विवाह संबंधी होता है। जैसे रक्त संबंधी द्वितीयक नातेदारी में चाचा-भतीजा, मामा-भांजा, नाना-नाती, नानी-नाती, दादा-पोता, दादी-पोती इत्यादि आते हैं, जबकि विवाह संबंधी नातेदारों में सास-बहु, सुसर-दामाद, साला-बहनोई, देवर-भाभी, भाभी-नंद इत्यादि। मुरडॉक ने ऐसे 33 प्रकार के द्वितीयक संबंधों का उल्लेख किया है।

3. तृतीयक संबंधी या नातेदारी (Tertiary Kinship)

इस श्रेणी के नातेदार वे हैं जो प्राथमिक नातेदार के द्वितीयक नातेदार या द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार है। उदाहरण – 'क' के भाभी की बहन 'क' के लिए तृतीयक संबंधी होगा। इसी प्रकार पिता यह पोते के लिए तृतीय संबंधी है **मुरडॉक** ने कुल 151 प्रकार के तृतीयक संबंधियों का उल्लेख किया है। इस प्रकार संबंधों की यह श्रृंखला चतुर्थ, पंचम भी जा सकती है। एक उदाहरण द्वारा नातेदारों की श्रेणियों को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है-

- माना 'शगुन' नाम की एक बच्ची है। अब उसकी माँ से उसका संबंध प्राथमिक या प्रत्यक्ष संबंध होगा। शगुन के लिए उसकी माँ प्राथमिक नातेदार होगी।
- शगुन की नानी, शगुन के लिए द्वितीयक नातेदार या द्वितीयक संबंधी होगी परंतु उसकी माँ के लिए उसकी नानी प्राथमिक नातेदार होगी।

- अब नानी का भाई, शगुन के लिए तृतीयक नातेदार होगा। नानी के लिए, नानी का भाई द्वितीयक नातेदार होगा।
- अब यदि शगुन की माँ के तृतीयक नातेदार की बात करे तो वो मामा की पत्नी होगी जो माता के लिए प्राथमिक होगी। इन संबंधों की श्रेणियाँ इसी तरह से आगे बढ़ती जाएंगी।

2.4.6 नोतदारी की संज्ञाएं (Kinship Terms)

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, "संबंध सूचक शब्द ऐसी संज्ञाएं होती हैं जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के संबंधों के उल्लेख के लिए किया जाता है।"

(डी. एन. मजूमदार एवं टी.एन. मदान, एन इन्ट्रोडक्शन इ सोशल एन्थ्रोपालजी, पेज-108)

जब हम किन्हीं लोगों के नातेदारी के नियमों तथा व्यवहारों को समझना चाहते हैं तो हमें अवश्य ही यह जानना होगा कि वे स्वजनों को किस प्रकार वर्गीकृत करते हैं, उनमें विभेद किस आधार पर करते है और उन्हें पुकारने के लिए किन शब्दों का प्रयोग करते है। नातेदारों को संबोधित करने के संज्ञा शब्द को विभिन्न श्रेणियों एवं उपश्रेणियों में विभाजित करते हैं। यह विभाजन कभी सामाजिक वास्तविकता के साथ सामंजस्य स्थापित करता है तो कभी- कभी नहीं भी करता।

नातेदारी सूचक शब्दों का अध्ययन भी उतना ही प्राचीन है जितना कि मानवशास्त्र। **मॉर्गन** पहले विद्वान थे जिन्होंने नातेदारी शब्दावली के अध्यन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। इन्होंने **न्यूयार्क राज्य** की **इराक्विस (Iroques)** का जीवनपर्यन्त अध्ययन किया और पाया कि इनका नातेदारों का नामोल्लेख करने का तरीका पश्चिमी समाजों से भिन्न है। उदारहण के तौर पर पिता को सम्बोधित करने वाले शब्द से पिता-माता के भाई को पुकारते है। माँ को पुकारने वाले शब्द से माँ की बहन को भी पुकारा जाता है। मॉर्गन ने संसार के सभी भागों में प्रचलित नातेदारी सूचक शब्दों का अध्ययन किया और उन्हें मुख्य रूप से दो भागों में बाटा है।

1. वर्गात्मक संबंध सूचक संज्ञाएं (Classificatory Terminology)

2. विशिष्टात्मक संबंध सूचक संज्ञाएं (Description terminology)

1. **वर्गात्मक पद्धति:-** इसके अंतर्गत एक शाखीय एवं भिन्न शाखीय एवं भिन्न शाखीय कई व्यक्तियों और प्रायः विवाह मूलक संबंधियों के लिए एक ही संबंध सूचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। संबंध सूचक शब्द इन सभी संबंधियों को एक वर्ग के रूप में समान मानता है। उदाहरण- असम के सेमा नागा 'अजा' शब्द का प्रयोग माँ, पिता के भाई की पत्नी एवं मौसी तीनों प्रकार संबंधियों के लिए करते हैं तथा 'अपू' शब्द का प्रयोग पिता, पिता के भाई, माँ की बहन (मौसी) के लिए करते हैं। 'आमी' शब्द बुआ और सास के लिए किया जाता है। 'कूकी' लोगो में 'हेपू' शब्द दादा, नाना, मामा, ससुर, ममेरा भाई, साला, भतीजा आदि विभिन्न आयु, वर्गों एवं पीढ़ियों के लोगों के लिए किया जाता है। अंगामी नागाओं में 'बूरी' शब्द बड़े भाई, पत्नी की बहन, ज्येष्ठ एवं उनकी पत्नी,

चाची, ताई आदि सभी के लिए किया जाता है। यहाँ हम देखते है कि विपरीत लिंगीय शब्दों के लिए एक ही शब्द काम में लिया जाता है।

2. **विशिष्ट या वर्णनात्मक या व्यक्तिकात्मक पद्धति -** इस पद्धति के अंतर्गत संबोधन शब्द यथार्थ सूचक होते है और केवल उन्ही व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होते हैं जिनके संदर्भ में या जिनको संबोधित करते हुए बात की जाती है। उदाहरण - पिताजी, माता जी, पुत्र, पुत्री इत्यादि इन सभी शब्दों का अर्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति या संबंधी से है जो समाज में भी उसी संबंध से जाना जाता है।

2.4.7 नातेदारी के नियामक व्यवहार या रीतियां (Kinship Usages)

नातेदारी व्यवस्था के अंतर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों का भी समावेश होता है। हमारा किसी एक व्यक्ति से एक विशेष संबंध है तथा इससे संबंधित एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार भी होता है। उदाहरणार्थ 'अ' और 'ब' परस्पर पति-पत्नी है। इस संबंध के आधार पर उनके व्यवहारों का एक विशिष्ट योग या प्रतिमान होगा। यह नहीं हो सकता कि इन दोनों के व्यवहारों का प्रतिमान वैसा नहीं हो सकता जैसा माता-पुत्री या भाई-बहन का होगा। इसी को नातेदारी की रीतियाँ (Kinship Usages) कहते हैं। इन रीतियों में जो प्रमुख या विलक्षण है वे इस प्रकार हैं –

1. परिहार या विमुखता (Avodence) नातेदारी व्यवस्था में बहुत ही लोकप्रिय है **'परिहार'** का अर्थ यह है कि कुछ ऐसे रिश्ते है जो दो व्यक्तियों के बीच एक निश्चित संबंध तो स्थापित करते हैं पर साथ ही इस बात का निर्देश देते है कि वे एक-दूसरे से दूर रहे और पारस्परिक अंतः क्रिया में यथा संभव प्रत्यक्ष या आमने-सामने रहते हुए सक्रिय भाग न ले। इस प्रकार के संबंध पुत्र-वधू तथा सास-ससुर का संबंध बहुत ही सामान्य है। इसी प्रकार सास व दामाद का संबंध भी कुछ समाजों में परिहार के अंतर्गत ही आता है। कुछ उदाहरणों से इस प्रकार के संबंधों का स्पष्टीकरण सरलता से हो सकेगा।

यूकाधिर (Uukaghir) जनजाति में यह नियम है कि एक वधू कभी भी अपने ससुर या ज्येष्ठ के चेहरे को न देखें और न ही दामाद को अपनी सास-ससुर का चेहरा देखना चाहिए। इन संबंधियों को परस्पर यदि कुछ कहना होता है तो पर्दा करते हुए कहते है या दूसरे से कहलवा देते हैं। **ओस्ट्याक (Ostiak)** में ससुर व वधू तब तक सामने नही आते जब तक उसका बच्चा न हो जाए। अगर कभी अचानक वे एक-दूसरे के सामने आ जाए तो वधू फौरन अपना चेहना घूँघट में छिपा लेती है।

लंका की बेड्डायड जनजाति में भाई-बहन के बीच परिहार संबंध प्रचलित है। यहाँ तक कि वे एक छप्पर में नहीं सो सकते और न एक साथ भोजन कर सकते हैं। ट्रोब्रियांडा द्वीपवासियों में यदि भाई-बहन को प्रेमाचार करते हुए देख ले तो भाई, बहन व उसका पति या प्रेमी तीनों को आत्महत्या करनी पड़ती है। न्यूगिनी की बुकाऊ जनजाति में दामाद और सास-ससुर एक-दूसरे का नाम नहीं ले सकते, परस्पर भोजन नहीं कर सकते। भारतीय समाज में सास-ससुर व ज्येष्ठ से वधुये परिहार रखती है। अफ्रीका की जूलू जनजाति में दामाद अपनी सास के पास कभी नहीं जाता और कभी अगर सास उनके पास से गुजर जाती है तो जो कुछ भी दामाद के मुंह में उस समय होता है वह उसे थूक देता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न संबंधियों में इस प्रकार के परिहार क्यों प्रचलित हैं? इस विषय पर **टायलर (Tylor)** का मत है कि उपरोक्त निषेध मातृ-सत्तात्मक परिवार प्रथा के कारण है। इस प्रकार की परिवार प्रथा में वर को पत्नी के घर जाकर रहना पड़ता था जहाँ वह वर बिल्कुल अजनबी होता था। इस प्रकार उस परिवार की अन्य स्त्रियाँ, विशेषकर सास, जो परिवार की मालकिन होती थी, उस अजनवी वर से दूर रहती थी, इसी से धीरे-धीरे सास संबंधी निषेध पनपे है। इसी प्रकार पितृस्थानीय परिवारों में ससुर से संबंधित निषेधों का जन्म हुआ।

परंतु आज इस मत से बहुत से विद्वान सहमत नहीं है। होपी तथा जूनी जनजातियाँ, जो मातृस्थानीय है इस प्रकार के नियमों को नहीं मानती, आस्ट्रेलिया की जनजातियाँ, जो पितृस्थानीय है दामाद का परिहार करती है न कि वधू का! इस विषय पर फ्रेजन का मत है कि इन निषेधो का उद्देश्य यौन संबंधों को नियंत्रित करना अर्थात् निकटाभिगमन को रोकना है। श्री फ्रेजन का कथन है कि कुछ जनजातियाँ तो इस विषय में इतनी कठोर है कि भाई-बहन को अलग रखती है। यदि **फ्रेजर** के इस सिद्धांत के आधार पर सास-दमाद के परिहार को यदि मान भी लिया जाए तो इससे भी इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि ससुर-दामाद के रिश्ते में इस प्रकार का निषेध क्यों हैं?

फ्रायड (Freud) ने मनोवैज्ञानिक आधारों पर परिहार को समझाने का प्रयत्न किया है। इनके अनुसार इस प्रकार के निषेधों का एकमात्र का उद्देश्य दामाद और सास या वधू और ससुर में पारस्परिक यौन संबंधी के आकर्षण को रोकना है। यदि इस तथ्य को स्वीकार कर ले तो गारो जनजाति एवं सेमानागाओं में जिसमें एक दामाद अपनी विधवा विवाह से शादी कर सकता है। ऐसी प्राथाएं क्यों नहीं प्रचलित है। लोवी **(Lowie)** ने परिहार को सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ में देखा है। उनका कहना है कि पुत्र-पधू अन्य परिवारों से आने के कारण पति के परिवार से भिन्न प्रकार के सामाजिक सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। उसकी वेश-भूषा और शिष्टाचार संबंधी धारणाएं पति के परिवार से भिन्न होती है। परिवार में अन्य सदस्यों को उसके प्रभाव से बचाने के लिए ही पुत्रवधु और सास-ससुर परिहार पनपा। रैडक्लिफ ब्राउन का मत है कि नरिहार एक सामाजिक तथ्य है अतः इसकी व्याख्या भी सामाजिक आधार पर ही की जानी चाहिए। समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए एवं संघर्ष-असामंजस्य की स्थिति से बचने के लिए ही परिहार प्रथा का प्रचलन हुआ, चैपल तथा कून का भी यही मत था। डॉ. रिवर्स का मत है कि परिहार के व्यवहार द्वैध संगठनों के कारण पनपे होंगे।

2. परिहास या हंसी-मजाक के संबंध (Joking Relationsshipi)

नातेदारी की रीतियों में परिहास संबंध, परिहार के बिल्कुल विपरीत है। जहां परिहार दो संबंधियों को एक-दूसरे से दूर ले जाता है वहाँ परिहास संबंध दो व्यक्तियों को निकट लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को 'मधुर संपर्क या संबंध सूत्र' में बाँधता है और दोनों को एक दूसरे के साथ हँसी-मजाक करने का अधिकार देता है। **रेडक्लिफ ब्राउन** के अनुसार, "परिहास संबंध दो व्यक्तियों का वह संबंध है जिसमें प्रथा द्वारा दोनों पक्षों को यह छूट रहती है कि वो एक-दूसरे को तंग करके, छेड़े या उससे हँसी-मजाक करें।" परिहार में यौन संबंधी विषयों से बचने का प्रयास करते हैं जबकि परिहास संबंधों में यौन

संबंधी हँसी मजाक की उतनी ही छूट रहती है। उदाहरण- देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई, नंद-भाभी, दादा-पोता, दादी-पोता, दादा-पोती, मामा-भांजा, चाचा-भतीजा या भतीजी इत्यादि।

आदिम समाज से लेकर आधुनिक समाज तक परिहास-संबंध का अस्तित्व बरकरार है। **जैसे- दक्षिण अफ्रीका** के बहुत सी जनजातियों में मामा-भांजे में परिहास संबंध होता है। बैकाद्वीप में फूफा एवं भतीजी के बीच परिहास संबंध पाया जाता है। **अफ्रीका की सौंगा (Tsonga)** जनजाति में यदि भांजा खाना बन जाने के बाद पहुँचता है तो वह पूरा खाना खा सकता है चाहे मामा के लिए कुछ न बचे। **न्यूर** जनजाति में यदि भांजे को खाना न मिले तो उस चुल्हे पर एक निशान लगा दिया जाता है और यह मामा के लिए श्राप माना जाता है। **पोलिनेशिया तथा अफ्रीका** में मामा द्वारा यज्ञ के लिए लाए गोश्त में से भांजा कुछ भाग लेकर भाग सकता है। ट्रोब्रियांडाद्वीपवासियों में मामा-भांजे में परिहास का संबंध होता है। भारतीय जनजातियों में इस संबंध का अत्यधिक विस्तार मिलता है। जैसे- **औरो** जनजपति में दादी-पोते के मध्य विवाह संबंध पाया जाता है। **बेरियर एल्विन ने भी बैगा जनजाति** में दादी-पोता विवाह का उल्लेख किया है।

4. माध्यमिक संबोधन (Teknonoumy)

नातेदारी व्यवस्था की एक और रीति माध्यमिक संबोधन है। इस रीति को माध्यमिक संबोधन इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस रीति के अनुसार एक संबंधी को संबोधन करने के लिए दूसरे व्यक्ति को माध्यम बनाया जाता है क्योंकि उस संबंधी उसके नाम से पुकारना वर्जित है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज में पत्नी अपनी पति का नाम नहीं लेती है। पुकारने के लिए पुत्र के नाम के साथ जैसे 'शुभम के पिता' इत्यादि कहकर पुकारते हैं। **'माध्यमिक संबोधन'** अंग्रेजी शब्द टेक्नानिमी **(Teknonymy) ग्रीक भाषा में बना है। टायलर** ने सर्वप्रथम इस शब्द का मानवशास्त्रीय साहित्य में प्रयोग किया था। तथा इसका प्रचलन टायलर, फ्रेजर, लौपी ने दुनिया के कई भागों में पाया है। दक्षिण अफ्रीका, पश्चिमी कनाडा, भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी, मलया, चीन, उत्तरी साइबेरिया, ब्रिटिश, कोलंबिया, अंडमान, लंका, फिजीद्वीप, मलेशिया आदि देशों के कई जातियों व जनजातियों में इस रीति का प्रचलन पाया है।

टायलर इस रीति की उत्पत्ति मातृसत्तात्मक परिवारों के कारण माना है। ऐसे परिवारों के कारण माना है। ऐसे परिवारों में स्त्रियों की प्रधानता एवं सर्वोच्च सत्ता थी। पति बाहर का व्यक्ति होने के कारण उसकी परिवार में उच्च स्थिति नहीं थी अतः इसे द्वितीयक संबंधी माना गया। इसलिए उसे पुकारने के लिए बच्चों को माध्यम बनाती है। लोवी **(Lowie)** इसे नहीं स्वीकारते है क्योंकि यदि मातृ सत्तात्मक परिवारों को इस रीति का कारण माना जाए तो यह पितृसत्तात्मक परिवारों में क्यों हैं? वास्तव में इस रीति का प्रचलन विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न कारणों से हुआ।

5. मातुलेय (Avunculate)

यह प्रथा मातृसत्तात्मक परिवारों में पायी जाती है। जहाँ मामा अपने भांजे-भांजियों के जीवन में प्रमुख स्थान रखता है। उनकी आत्मीयता का आधार होता है। पिता से अधिक मामा का दायित्व होता है। भांजों की वफादारी पर मामा का विशेषाधिकार होता है। संपत्ति मामा से भांजे को हस्तांतरित होता है यानी भांजा मामा का वंश माना जाता है।

इस प्रकार यदि सभी पुरूष संबंधियों की तुलना में मामा का भांजे एवं भांजियों के लिए सर्वप्रथम स्थान हो तब उस प्रथा को मातुलेय कहा जाता है और मामा की ऐसी सत्ता को मातुल सत्तात्मक कहा जाता है। यदि भांजे-भांजी अपने मामा के घर पर रहकर ही बड़े होते है उसे मातृस्थानीय निवास कहते हैं। मातुलेय प्रथा मातृसत्तात्मक समाज की सामान्य विशेषता है। यदि यह प्रथा किसी पितृसत्तात्मक परिवार में भी पायी जाती है तो यह पूर्ववर्ती मातृप्रधान सामाजिक संरचना का ही अवशेष है। उत्तर-पश्चिमी अमेरिका की हैडा जनजाति में यह प्रथा है कि दस वर्ष की आयु में पुत्र-पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिए चला जाता है। वही रहकर वो परिवार और समाज की बातों को सीखता है। ट्रोब्रियंड जनजाति में भी ठीक इसी प्रकार का होता है। होपी तथा जूनी जनजातियों में पुत्र तब तक अपने पिता के घर में रहता है जब तक उसके विवाह की आयु न आ जाए।

मातुलेय प्रत्येक समाज में शांतिपूर्वक स्वीकार नहीं किया जाता है, जैसे- कभी-कभी होता यह है कि पुत्र से लगाव अधिक होने के कारण व्यक्ति अपनी संपत्ति भांजे को देखकर पुत्र को देना चाहता है इससे संघर्ष की स्थिति आ जाती है। दक्षिण अफ्रीका की घोंगा जनजाति पितृवंशीय हैं। इससे विवाह के बाद पत्नी पति के घर जाती है। बच्चें पर भी पिता का अधिकार होता है फिर भी मामा का घर उसके लिए द्वितीयक शरण स्थल होता है। कोमांचे जनजाति जो पितृवंशीय है या पितृसत्तात्मक है, मातुलेय प्रथा का प्रचलन है।

5. पितृश्वस्त्रेय (Amitate)

'मातुलेय प्रथा' के अंतर्गत माता के भाई का विशेषाधिकार होता है उसी प्रकार पितृश्वस्त्रेय प्रथा में पिता की बहन या बुआ का महत्व अधिक होता है। **डॉ. रिवर्स ने बैक्सद्वीप** में इस प्रथा का प्रचलन पाया है। वहां बालक माँ से अधिक बुआ की संपत्ति का अधिकार होता है। भारत में तोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण बुआ करती है। कुछ जनजातियों में दाहसंस्कार का अधिकार बुआ को ही प्राप्त है। सर्व श्री चैपल तथा कून का मत है कि पितृश्वस्त्रेय प्रथा के प्रचलन का कारण उन संबंधियों में पारस्परिक अंतः क्रिया को बनाए रखना है जिनमें विवाह के पश्चात् उस अंतः क्रिया के समाप्त होने की संभावना रहती है।

6. सह-प्रसविता या हकारी (Cauvade)

नातेदारी व्यवस्था के अंतर्गत तक अति निराली प्रथा 'सह-प्रसविता' है। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इस प्रथा का संबंध प्रसव काल से है। इसे प्रथा में यह आवश्यक है कि पति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी को बच्चा होने वाला हो तो वह भी उन सब कष्टों

का अनुभव करे तथा बहुत कुछ वैसा ही व्यवहार करे और दिन गुजारे, जैसा प्रसवा कर रही है। ऐसी स्थिति में पति को भी उसी प्रकार व्यवहार करना व जीवन जीना पड़ता है। फलतः जिस प्रकार प्रसवा को छूत माना जाता है उसी प्रकार उसके पति को भी कोई नहीं छूता। कुछ जनजातियों में तो यहाँ तक नियम है कि बच्चा प्रसव होने के समय जो दर्द प्रसवा को होता है वह चिखती चिल्लाती है उसी प्रकार से पति को भी उन कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। इस प्रथा के प्रचलन के संबंध में मानवशास्त्री एकमत नहीं है। कुछ विद्वानों का कथन है कि जनजातियों में इस से नुकसान पहुँचने का डर अत्यधिक होता है। इसलिए माता व पिता दोनों पर ही अनेक प्रतिबंध लगाकर उन दोनों की जादू-टोने से तब तक रक्षा करते हैं जब तक बच्चा सकुशल न पैदा हो जाए।

डॉ. दूबे ने लिखा है कि इस प्रथा के मूल में सामाजिक कारण यह दीख पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है वह सामाजिक रूप से ज्ञात हो जाता है। इसलिए वह पुरूष उस संतति का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविकीय पिता हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है। जिस प्रकार टोडा जनजाति में धनुष-बाण भेट करके पितृत्व का अधिकार प्राप्त होता है उसी प्रकार दूसरे समाजों में सह-प्रसविता पितृत्व को प्रदर्शित करने की एक सामाजिक प्रथा है।

2.4.8 नातेदारी: भूमिका एवं महत्व (Role and Importance of Kinship)

1. परिवार एवं विवाह का निर्धारण (Determination of Marriage and Family)

नातेदारी ही तय करती है कि एक व्यक्ति के विवाह का क्षेत्र क्या होगा। कौन सा विवाह निषिद्ध होगा, किसे मान्यता और किसे अधिमान्यता दी गयी है। अर्थात् अंतः विवाह, बहिर्विवाह, समलिंग, सहोदरज एवं विषमलिंग सहोदरज विवाह आदि का निर्धारण नातेदारी के आधार पर ही होता है। विवाह के आधार पर ही परिवार का निर्माण होता है। परिवार में पाये जाने वाले रक्त एवं विवाह संबंधी सदस्य नातेदार कहे जाते हैं। **रैडक्लिक ब्राउन** जैसे मानवशास्त्री ने नातेदारी व्यवस्था का प्रकार्यात्मक विवेचन किया है तथा यह बताया है कि विवाह, परिवार एवं नातेदारी एक दूसरे के महत्व से अन्य व्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

2. वंश, उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण (Determination of Rescent, Inheritance and Juccession)

नातेदारी ही वंशावली का निर्धारण करती है। वंशावली की लंबाई, प्रतिष्ठा का मापदंड होती है। परिवार, वंश, गोत्र, मातृदल एवं अर्धाश नातेदारी के विस्तृत स्वरूप हैं। भूतकाल के वंश संबंधियों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति स्वयं को इतिहासविहीन महसूस नहीं करता है। नातेदारी का प्रारंभिक अध्ययन वकीलों एवं विधिशास्त्रियों द्वारा संभवतः इसलिए किया गया कि वे अधिकार, दावे, दायित्व, पितृ अधिकार, संविदा, पितृ-बंधुता आदि का ज्ञान प्राप्त कर उसे कानूनी रूप दे सके। वे साथ ही इन नियमों की भी रचना करना चाहते थे कि कौन किसका उत्तराधिकारी होगा? किसे क्या प्राप्त होगा? यदि नातेदार के

बाद किसी अन्य को उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त होता है तब नातेदारी की व्यवस्था की जाती है और नातेदारों में वरीयता के क्रम निश्चित किया जाता है। पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परिवारों में वंश उत्तराधिकारी एवं वंश अधिकार के नियम भिन्न-भिन्न हैं। सभी प्रकार के समाजों में नातेदारी के संबंधों का उपयोग संपत्ति के स्वामी, उत्तराधिकारियों, पदाधिकारियों तथा उसके उत्तरावर्ती अधिकारियों, आदि के मध्य संबंधों को परिभाषित करने के लिए किया जाता है।

3. **आर्थिक हितों की सुरक्षा (Safe gaurd of Economic Interests)**

मुरडॉक लिखते है कि नातेदारी समूह, एक व्यक्ति नहीं वरन् रक्षा पंक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब एक व्यक्ति संकट अथवा कठिनाई में होता है या उसके किसी सांस्कृतिक दायित्वों अथवा अधिक कार्य करना होता है तो वह सहायता के लिए अपने नातेदारी समूह के पास जा सकता है। साथ ही समुदाय अथवा संपूर्ण जाति में अन्य सदस्यों की अपेक्षा नातेदारों का उसे सहायता देने का दायित्व सर्वाधिक होता है।

4. **सामाजिक दायित्वों का निर्वाह (Fulfilment of Social Responsibilities)**

लेबी कहते है कि एक रिश्तेदार दूसरे रिश्तेदार की स्वेच्छा से निःशुल्क सहायता देता है जब कि उन्हीं सेवाओं के लिए हमें बाह्य व्यक्तियों को कीमत चुकानी होती है। नातेदार एक नैसर्गिक परामर्शदाता होता है। वह कठिन परिस्थितियों में एक सहायक होता है। अर्थात् वह स्वयं का सामाजिक दायित्व निर्वाह करता है तथा दूसरों को करने में मदद करता है।

5. **मानसिक संतोष (Mantal Satisfaction)**

नातेदारी का मनोभाव एक व्यक्ति को मानसिक संतुष्टि प्रदान करता है। मानवता का इतिहास इस बात का द्योतक है कि एक लंबी अवधि तक मानव जाति नातेदारी पर आधारित समूह में रही। व्यक्ति का स्वास्थ्य, सुरक्षा, जीवन सभी कुछ नातेदारों के हाथ में था। नातेदार विहीन व्यक्ति अपने को बिना सामाजिक प्रतिष्ठा वाला एवं निवृष्ट रूप में एक मृत व्यक्ति के समान मानता था। मनुष्य की प्रकृति यह होती है कि वो अपने करीबी लोगों पर ज्यादा विश्वास करता है। इन नातेदारों में रक्त संबंधी हमारे सबसे अधिक परिचित व्यक्ति हैं क्योंकि वे हमारे ही अंग के हिस्से समझे जाते है। नातेदारों के बीच अपने को पाकर एक व्यक्ति आनंद, संतोष व सुरक्षा का अनुभव करता है।

6. **मानवशास्त्रीय ज्ञान का आधार (Basis for Anthorpological Knowledge)**

मानवशास्त्रीय अध्ययन में नातेदारी का ज्ञान एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रारंभिक मानवशास्त्रियों ने अधिकांश अध्ययन नातेदारी से ही प्रारंभ किए थे। मॉर्गन, मैक्लैनन, हेनरी मेन, लोवी, फ्रेंज बोआस, मैलिनोवस्की, रैडक्लिफ ब्राउन, इवांस प्रिचार्ड, रिवर्स, सैलिगमेन आदि प्रमुख मानवशास्त्रियों के अध्ययन एक या एकाधिक जनजातियों की नातेदारी व्यवस्था, परिवार एवं विवाह आदि से संबंधित थे। वे नातेदारी के अध्ययन के आधार पर सामाजिक संरचना को समझना चाहते थे। साथ ही वे समाज एवं संस्थाओं के विकास में भी रूचि रखते थे। नातेदारी का अध्ययन इस दिशा में

अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ। अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रारंभिक समाजों में वंशानुक्रम समूह की मूलभूत राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और क्षेत्रीय इकाईयां रही है।

मैक्लैनन ने उन अवस्थाओं का उल्लेख किया है जिनसे संपूर्ण मानवता की नातेदारी एवं विवाह की संस्थाएं गुजरी हैं। उनकी मान्यता है कि प्रारंभ में नातेदारी की गणना स्त्रियों के माध्यम से होती थी, पुरूषों के माध्यम से गणना का विकास बाद के समय में हुआ। मैक्लेनन से पूर्व हेनरी मैन ने भारोपीय परिवारों का अध्ययन किया और बताया कि पितृ-तंत्रात्मक संयुक्त परिवार पिता-पुत्रों का संपत्ति पर सम्मिलित अधिकार वाला परिवार था और भारत में ऐसा परिवार नातेदारी की प्रमुख कड़ी था।

मॉर्गन ने न्यूयार्क राज्य की इराक्विस जनजाति का अध्ययन किया। उन्होंने वर्गात्मक संज्ञा व्यवस्था के आधार पर यह माना है कि परिवार एवं विवाह का विकास आदिम यौन साम्यवाद से हुआ है। मॉर्गन से प्रेरित होकर ही एक लंबे समय तक मानवशास्त्री नातेदारी शब्दावली का अध्ययन करते रहे। इसीलिए आधे से अधिक नातेदारी का साहित्य केवल नातेदारी शब्दावली से भरा है।

लोवी एवं बोआस उद्विकासीय योजनाओं के विरूद्ध थे। मैलिनोबस्की ने ट्रोब्रियांडा द्वीपवासियों का अध्ययन कर नातेदारी के अध्ययनों को नव-जीवन प्रदान किया। अपने नातेदारी के मध्य भावनाओं एवं मनोभावनाओं का अध्ययन किया। रैडक्लिफ ब्राउन ने भी नातेदारी शब्दावली में रूचि दिखायी एवं तुलनात्मक उपागम (Comparative approach) का विकास किया। अपने अधिकारों एवं दायित्वों को स्पष्ट करने के लिए नातेदारी तंत्र एवं सामाजिक संरचना के अध्ययन पर जोर दिया।

इवांस प्रिचार्ड ने 1940 में **दक्षिणी सूडान के न्यूर जंजातियों** पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें नातेदारी समूहों पर आधारित समूहों का अध्ययन सम्मिलित था। **मेयर फोरटेस ने 1945** में टालेंसी लोगों के विवाह, वंशानुक्रम एवं नातेदारी का अध्ययन कर एक पुस्तक प्रकाशित की। **मुरडॉक** ने अपनी पुस्तक **'सोशल स्ट्रक्चर'** में उद्विकास के प्रति रूचि दिखायी। **लेवी स्ट्रास** ने नातेदारी शब्दावली, विवाह-मैत्री (Marriage allieance), विवाह द्वारा स्त्रियों के स्थान की विधियों, आदि का उल्लेख किया है। डॉ. रिवर्स एवं अनेक भारतीय मानवशास्त्रियों ने भी नातेदारी के विभिन्न पक्षों का अध्ययन कर मानवशास्त्रीय ज्ञान को समृद्ध बनाया है। नातेदारी के आधार पर मानवशास्त्र में अध्ययन के लिए माडल भी विकसित हुए जिनका उपयोग नातेदारी तंत्रों को समझने के लिए किया गया है।

2.4.9 बोध प्रश्न

1. नातेदारी को परिभाषित कीजिए। नातेदारी की संज्ञाएं या शब्दावली की विवेचना कीजिए।
2. नातेदारी का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीवन में इसके महत्व का उल्लेख कीजिए।
3. नातेदारी की रीतियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
4. 'परिहार' और 'परिहास' से आप क्या समझत हैं? ऐसे संबंधों को स्पष्ट करने हेतु तर्कों का विवरण दीजिए।

5. नातेदारी को परिभाषित कीजिए तथा सामाजिक मानवशास्त्र में इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।
6. नातेदारी की व्याख्या करते हुए इसके प्रकारों का उल्लेख करें?
7. नातेदारी को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते हुए इसका विस्तृत विवरण दें?

2.4.10 संदर्भ एवं उपयेागी ग्रंथ

1. मुखर्जी, नाथ. रवीन्द्र. (2001). *भारतीय समाज व संस्कृति*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
2. गुप्ता, एम. एल. एवं. शर्मा, डी. डी.. (2008). *भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन.
3. हूजा, राम. (1999). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.
4. मुखर्जी, नाथ. रवीन्द्र. (1999). *सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
5. सिंधी, कुमार. नरेन्द्र. एव. गोस्वामी, वसुधाकर. (2000). *समाजशास्त्र विवेचन*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
6. लवानिया, एम. एम. एवं. जैन, के. शशी. (1999). *ग्रामीण समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: रिसर्च पब्लिकेशन.

खंड 03 जाति एवं समुदाय

इकाई 1 : जाति: अवधारणा, विशेषताएं और सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

3.1.1 उद्देश्य
3.1.2 प्रस्तावना
3.1.3 जाति: अर्थ एवं परिभाषा
3.1.4 जाति व्यवस्था की विशेषताएं
3.1.5 जाति व्यवस्था के गुण
3.1.6 जाति व्यवस्था के दोष
3.1.7 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत
3.1.8 सारांश
3.1.9 बोध प्रश्न
3.1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.1.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

1. जाति व्यवस्था के अर्थ, ऐतिहासिक परिदृश्य और संरचना को समझ पाने में।
2. जाति व्यवस्था की विशेषताओं को जान पाने में।
3. जाति व्यवस्था के गुण-दोष आदि के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।
4. जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांतों तथा संबंधित परिदृश्यों के बारे में ज्ञान अर्जित कर पाने में।

3.1.2 प्रस्तावना

जाति व्यवस्था भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है और साथ ही प्रमुख भारतीय सामाजिक संस्था भी। यह व्यवस्था कितनी पुरानी है इस प्रश्न का उत्तर दे पाना अत्यंत कठिन है। प्राचीन काल से ही भारत में जाति व्यवस्था विद्यमान है और स्तरीकरण का प्रमुख आधार रहा है। संभवतः आरंभ से ही जाति हिंदू सामाजिक संरचना का मुख्य आधार रहा है। यह सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक आदि पक्षों को प्रभावित करता है और साथ ही उनसे प्रभावित भी होता है। विविध पक्षों के निर्देशन, निर्धारण व संशोधन में जाति व्यवस्था की भूमिका उल्लेखनीय रही है। स्पष्ट तौर पर यहा कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक जीवन का अध्ययन जाति व्यवस्था के अध्ययन व विश्लेषण के बिना अधूरा है। मजूमदार के अनुसार, *"भारत में जाति व्यवस्था विशिष्ट है। समान्यतः*

जातियों और संप्रदायों का परंपरागत स्थल भारत को माना जाता है। यहां तक की भारत की हवा में भी जाति घुली हुई है तथा ईसाई और मुसलमान भी इससे अछूते नहीं रहे।"

जाति एक अंतर्विवाही समूह होता है तथा इसकी सदस्यता जन्म से ही निर्धारित रहती है। साथ ही एक निश्चित व्यवसाय पर आधारित यह जाति व्यवस्था कुछ विशिष्ट अधिकारों निर्योग्यताओं के साथ-साथ सामाजिक सहवास और भोजन आदि से संबंधित निषेधों का पालन करती है। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था कुछ इस तरह से शामिल हो चुकी है कि हम इसे सामाजिक व्यवस्था के एक स्वाभाविक ढंग के रूप में अवलोकित करते हैं। परंपरागत रूप से जातियां एक स्वायत्त सामाजिक इकाइयां हैं तथा इनके अपने आचार व नियम आदि होते हैं जो कि अनिवार्य होते हैं। इनके उल्लंघन पर जाति समाज द्वारा दंड देने का प्रावधान भी है।

3.1.3 जाति: अर्थ एवं परिभाषा

'जाति' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कास्ट' (caste) का हिंदी रूपांतरण है। यह अंग्रेजी शब्द, **पुर्तगाली** भाषा के **'कास्टा' (casta)** से लिया गया है तथा इसका अभिप्राय मत विभेद और जाति से लगाया जाता है। **ग्रेसिया-डी ओरेटा** ने सर्वप्रथम 1665 में जाति शब्द की उत्पत्ति के बारे में वर्णन प्रस्तुत किया था। ओरेटा के पश्चात फ्रांसीसी विद्वान **अब्बे डुबोय** ने जाति की उत्पत्ति को प्रजाति के संदर्भ से जोड़कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अनेक विद्वानों ने जाति की व्याख्या अनेक प्रकार से किया है। विद्वानों के कुछ महत्वपूर्ण विचार व परिभाषाओं को यहा प्रस्तुत किया जा रहा ही –

- **चार्ल्स कूले** के अनुसार-

  "जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवंशिकता पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"

- **मजूमदार और मदान** के अनुसार-

  "जाति एक बंद वर्ग है।"

- **ब्लंट** के अनुसार-

  "जाति एक अंतर्विवाही समूह अथवा अंतर्विवाही समूहों का गुच्छा है, इसका एक सामान्य नाम होता है, इसकी सदस्यता अनुवांशिक होती है, यह सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ निषेधों को आरोपित करता है, इसके सदस्य या तो एक सामान्य परंपरागत व्यवसाय में संलिप्त रहते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं तथा इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में वैध होते हैं।"

- **जे.एच.हट्टन** के अनुसार -

  "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज अनेक आत्म-केंद्रित तथा एक-दूसरे से पूरी तरह से पृथक इकाइयों (जातियों) में बंटा रहता है। इन इकाइयों के मध्य पारस्परिक संबंध ऊँच-नीच के रूप में सांस्कृतिक आधार पर निर्धारित होते हैं।"

- **केतकर** के अनुसार -

"जाति एक सामाजिक समूह है तथा इसकी दो विशेषताएं होती हैं –

1) जाति की सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित रहती है, जिनका जन्म उसी जाति में हुआ हो।

2) इसके सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने से निषिद्ध रहते हैं।

- **इरावती कार्वे** के अनुसार -

  "जाति वस्तुतः एक विस्तृत नातेदारी समूह है।"

- **मिर्डल** के अनुसार –

  "जाति पूर्णतः कठोर वर्ग है, जो समूह में गतिशीलता को स्वीकार नहीं करता।"

उक्त वर्णित विद्वानों की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि जाति एक प्रकार का सामाजिक समूह है जो जन्म पर आधारित होता है। साथ ही इसमें अपने सदस्यों के प्रति व्यवसाय, सामाजिक सहवास, खान-पान, विवाह आदि संबंधी निषेध पाए जाते हैं।

3.1.4 जाति व्यवस्था की विशेषताएं

जाति व्यवस्था के संबंध में अनेक विद्वानों ने मत प्रस्तुत किए हैं तथा कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा चिन्हित की गई विशेषताओं को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है –

- **गोविंद सदाशिव घुरिए** ने जाति व्यवस्था की 6 सामाजिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो जाति व्यवस्था की संरचना को स्पष्ट तौर पर प्रस्तुत करती है –

1. समाज का खंडात्मक विभाजन -

भारतीय जाति व्यवस्था ने समाज को कई खण्डों में बाँट दिया है तथा प्रत्येक खंड के पृथक-पृथक व्यवसाय, प्रस्थिति तथा स्थान आदि को भी निर्धारित कर दिया है। घुरिए बताते हैं कि जाति व्यवस्था द्वारा संचालित समाजों में सामुदायिक भावना अत्यंत ही सीमित हो जाती है तथा वह संपूर्ण समुदाय के प्रति अस्थावान न रहकर एक जाति के सदस्यों के प्रति ही आस्थावान रह जाती है। एक जाति का नैतिक नियम ही उसकी जाति के प्रति प्रेम-सहयोग की भावना है। प्रत्येक सदस्य को इन नियमों के प्रति अपने पद व कार्य का निर्वहन करना होता है। जो भी सदस्य इन नियमों व कर्तव्य बोध आदि के विरुद्ध जाता है, इनकी अवहेलना करता है तो समग्र जाति उस पर जुर्माना लगाती है। कभी-कभी उस व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत भी कर देती है।

2. संस्तरण -

जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित किए गए अनेक खंडों में उच्च तथा निम्न का संस्तरण विद्यमान रहता है। यह संस्तरण परंपराओं के आधार पर निश्चित रहता है। इसमें स्थान का निर्धारण जन से होता है तथा व्यक्ति आजीवन एक ही जाति का सदस्य रहता है। जाति व्यवस्था के इस उच्च व निम्न वाले संस्तरण में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च रहता है, ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान दूसरे पायदान पर आता है, इसके बाद वैश्य

तथा सबसे निम्न/अंत में शूद्र का स्थान आता है। जन्म पर आधारित होने के कारण यह संस्तरण स्थिर व दृढ़ प्रकृति का होता है।

3. भोजन और सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध -

जाति व्यवस्था में भोजन व सामाजिक सहवास संबंधी अनेक निषेध पाए जाते हैं। प्रत्येक जाति को किसी अन्य जाति द्वारा तैयार किए गए भोजन को ग्रहण करने की अनुमति नहीं है। जातीय नियमों में पूर्व से ही निश्चित है कि कौन सी जाति किस जाति के यहां भोजन ग्रहण कर सकती है तथा किस जाति के यहां भोजन ग्रहण करना प्रतिबंधित है। ब्राह्मण द्वारा बनाए गए भोजन को सभी जातियों के लोग ग्रहण कर सकते हैं। सबसे अधिक निषेध अछूतों द्वारा बनाए गए भोजन पर हैं। भोजन से संबंधित सभी प्रकार के प्रतिबंध भोजन की प्रकृति पर भी निर्भर करते हैं। हम भोजन को मुख्य रूप से तीन वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं – फलाहार (फल, दूध तथा दूध से निर्मित भोजन), पक्का (तेल अथवा घी में तलकर निर्मित भोजन) तथा कच्चा (पानी में उबले हुए चावल, दाल व रोटियां आदि)। भोजन की प्रकृति के आधार पर सभी जातियों में प्रतिबंध पाए जाते हैं। ये प्रतिबंध स्वरूप नियम ही निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति किस जाति के यहां कौन सा भोजन कर सकता है।

4. सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं व विशेषाधिकार -

जाति व्यवस्था में सभी जातियों के अपने-अपने विशेषाधिकार तथा सामाजिक व धार्मिक निर्योग्यताएं होती हैं। यह स्पष्ट तौर पर विदित है कि सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मण को प्राप्त है तथा सबसे अधिक निर्योग्यताएं अछूतों के लिए निर्धारित हैं। भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में अछूतों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। वे अस्पृश्य तो थे ही और साथ में वे तथाकथित उच्च जाति के लोगों को अपनी शक्ल भी नहीं दिखा सकते थे। त्रावनकोर, पूना आदि स्थानों पर अछूतों को सड़क पर चलने की अनुमति नहीं थी। इसके अलावा उनका मंदिर में प्रवेश वर्जित था, स्कूल में पढ़ने का अधिकार नहीं था, वे उन कुओं व तालाबों का प्रयोग नहीं कर सकते थे जिनका उपयोग उच्च जाति के लोग करते थे। गावों में अछूतों को किसी प्रकार के सामाजिक-आर्थिक अधिकार प्राप्त नहीं थे तथा उनके निवास स्थान प्रायः गांव से बाहर ही रहते थे।

5. व्यवसाय के अप्रतिबंधित चयन का अभाव -

जाति व्यवस्था में व्यवसाय का निर्धारण परंपरागत आधारों से होता था। जिस व्यक्ति का जन्म जिस जाति में होता था उसी के अनुरूप उसके व्यवसाय का निर्धारण होता था तथा वह आगे चलकर उसी व्यवसाय को करता था। यह व्यवसाय पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते थे जैसे – ब्राह्मण, धोबी, नाई, कुम्हार, चर्मकार, स्वर्णकार आदि अपने-अपने व्यवसायों में परंपरागत रूप से संलिप्त रहते थे। घुरिए का मत है कि प्रत्येक जाति समूह अपने जातीय व्यवसाय को पैतृक व्यवसाय मानता था तथा इस जातीय व्यवसाय को किसी अन्य लाभकारी व्यवसाय के लिए भी छोड़ना उचित नहीं मानता था। इसके अलावा वह इसलिए भी जातीय व्यवसाय को नहीं छोड़ पाता था क्योंकि अन्य जातीय समूह के लोग अपना पैतृक व्यवसाय किसी अन्य जाति को नहीं करने दे सकते थे।

6. वैवाहिक प्रतिबंध -

वैवाहिक प्रतिबंध जाति व्यवस्था की अत्यंत प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक जाति को अपनी ही जाति में विवाह संबंध स्थापित करने की अनुमति है। यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह संबंध स्थापित कर लेता है तो उसे तथा उसके माता-पिता को जाति अथवा उप-जाति से बाहर निकाल दिया जाता है। घुरिए ने 'अनुलोम विवाह' के आधार पर अपनी ही उपजाति में विवाह के निषेध के अपवाद के रूप में स्पष्ट किया है। **वेस्टरमार्क** ने अंतर्विवाह की विशेषता को जाति व्यवस्था के सार के रुप में विश्लेषित किया है।

- **एन.के. दत्ता** द्वारा निम्न विशेषताएं बताई गई हैं –

1. व्यक्ति की जाति जन्म पर आधारित रहती है और व्यक्ति अपने जन्म से मृत्युपर्यंत उसी जाति का सदस्य रहता है।
2. एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते हैं।
3. प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खान-पान संबंधी निषेध पाए जाते हैं।
4. अधिकांश जातियों के व्यवसाय पूर्व से ही निर्धारित रहते हैं।
5. जातियों में संस्तरण पाया जाता है जो एक जाति को उच्च तथा दूसरी जाति को निम्न का दर्जा प्रदान करती है।
6. संपूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर आधारित रहती है।

5. **केतकर** ने विभिन्न जातीय समूहों के मध्य संबंधों के अनुकूलन अर्थात् सावयवी संरचना के आधार पर जाति व्यवस्था के दो आधार बताए हैं –

1. वंशगत सदस्यता
2. अंतर्विवाही

इस प्रकार से निम्न बिंदुओं को जाति की विशेषताओं के रूप में समझा जा सकता है –

i. जाति व्यवस्था की सदस्यता जन्म से आधारित होती है और व्यक्ति जीवन पर्यंत उसी जातिगत समूह का सदस्य रहता है।
ii. एक समरूप सदस्यता
iii. एक समान वंशानुगत व्यवसाय
iv. संस्तरण
v. विभिन्न जातिगत निषेध और विशेषाधिकार

3.1.5 जाति व्यवस्था के गुण -

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय समाज के अनिवार्य अंग के रूप में जाति व्यवस्था विद्यमान है। इसके प्रमुख गुणों को निम्नांकित बिंदुओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. यह एक प्रकार का पर्यावरण है जो प्रत्येक व्यक्ति को स्थिर सामाजिक आवरण प्रदान करती है। जाति व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक सुरक्षा का आधार है जो व्यक्ति को रोजगार, आवास, विवाह आदि से संबंधित सुरक्षा व स्थायित्व मुहैया कराती है।
2. जाति व्यवस्था व्यवसाय का निर्धारण करती है जो व्यक्ति को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने में सहायक सिद्ध होती है। प्रत्येक जाति का अपना पृथक व्यवसाय होता है और यह व्यवसाय निर्धारण व प्रशिक्षण पीढ़ी दर पीढ़ी स्वयं के प्रयासों से निरंतर गतिमान रहता है। सभी जातियों के लोग व्यवसाय को ईश्वर द्वारा निर्धारित किया गया कार्य मानकर चलते हैं तथा उसी के आधार पर अपना जीविकोपार्जन करना उचित मानते हैं।
3. इस व्यवस्था में जातिगत प्रथाएं, परंपरा, विश्वास, अनुष्ठान, कौशल, व्यवहार आदि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते रहते हैं। इस प्रकार से जातीय संस्कृति की निरंतरता और स्थायित्व बना रहता है।
4. यह व्यवस्था लोगों में आपसी सहयोग तथा एकता की भावना को जागृत करती है। जाति व्यवस्था पर ही आधारित एक अन्य व्यवस्था होती है जो आर्थिक व सामाजिक आधार पर सुरक्षा प्रदान करती है, उस व्यवस्था को जजमानी व्यवस्था कहते हैं। जजमानी व्यवस्था सभी जातियों को एक साथ रहने तथा परस्पर निर्भरता की भावना को बलवती बनाती है।
5. प्रत्येक जाति के व्यवसाय, संस्कार, भोजन आदि संबंधी पृथक नियम होने के कारण राजनीतिक व सामाजिक मुद्दों पर व्यक्ति के विचार तथा बौद्धिक क्षमता उसके जातिगत प्रथाओं से प्रभावित रहते हैं।
6. प्रजातीय व सांस्कृतिक शुद्धता की दृष्टि से जाति व्यवस्था ने अंतर्जातीय विवाहों पर प्रतिबंध लगाकर स्वच्छता की आदतों के विकास को बल प्रदान किया है।
7. सामाजिक जीवन के व्यवस्थित तथा स्वस्थ्य संचरण के लिए आवश्यक विभिन्न क्रियाकलापों, जैसे – घरेलू सेवा, शिक्षा, शासन आदि को धार्मिक विश्वास (जैसे – कर्म का सिद्धांत, नियति का सिद्धांत आदि) के सहारे पुष्ट करने में जाति व्यवस्था की भूमिका उल्लेखनीय है। इस प्रकार से यह समाज में स्वीकारोक्ति और नैतिकता की भावना को जीवित रखने में कारगर होती है।

3.1.6 जाति व्यवस्था के दोष

जाति व्यवस्था में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं –

1. जाति व्यवस्था के प्रमुख दोषों अथवा यह कहा जाए कि अभिशाप के रूप में समाज पर थोपी गयी कुप्रथा अस्पृश्यता है। इसके अलावा बाल विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज तथा जातिवाद भी उल्लेखनीय हैं।
2. जाति व्यवस्था में व्यवसाय पहले से ही निर्धारित रहते हैं तथा इस कारण से व्यक्ति को विवश होकर व्यवसाय को करना पड़ता है, चाहे इच्छा हो अथवा न हो। इसके अलावा एक ही व्यवसाय में लगे रहने के कारण यह व्यक्ति की रचनात्मकता व नवाचार को मार देता है। इस प्रकार से जाति व्यवस्था श्रम की गतिशीलता के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है।
3. एक ओर तो यह एक जाति के लोगों में एकता और सद्भावना को पैदा करता है परंतु दूसरी ओर अन्य जातियों से उन्हें पृथक करने का दोष भी जाति व्यवस्था में पाया जाता है। इससे राष्ट्रीय एकता भी प्रभावित होती है, जिसके कारण जातियों में द्वेष और घृणा की भावना घर कर जाती है और राष्ट्रीय चेतना को पनपने से रोकती है।
4. यह राष्ट्र की सामाजिक व आर्थिक प्रगति के मार्ग को बाधित करती है। जाति व्यवस्था लोगों को कर्म के सिद्धांत के प्रति आस्थावान बनाती है और इस कारणवश लोग धीरे-धीरे परंपरावादी हो जाते हैं। इसका परिणाम यह मिलता है कि लोगों में आर्थिक विकास और गतिशीलता के प्रति उदासीनता आने लगती है।
5. इसने जातिवाद जैसी विराट तथा विकृत समस्या को पैदा किया है। जाति विशेष के लोगों में प्रेम, सहयोग, भातृत्व, न्याय आदि समतामूलक भावनाएं अपनी ही जाति विशेष के प्रति प्रकट होती है। सामान्य शब्दों में, नाना प्रकार के सामाजिक मानकों की अवहेलना करते हुए अपनी ही जाति के प्रति अंधभक्ति की भावना ही जातिवाद है।
6. जाति व्यवस्था समता व समानता की भावना को तोड़ने का काम करती है। इसमें रंग, जाति अथवा विश्वास आदि के आधार पर भेदभाव पाया जाता है। अतः जाति व्यवस्था को अप्रजातांत्रिक व्यवस्था भी माना जा सकता है।

3.1.7 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांत -

समान्यतः भारतीय संदर्भ में जाति व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था के चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है, परंतु व्यावहारिक तौर पर भारतीय सामाजिक संरचना के निर्माण में अनेक जातियां और उप-जातियां शामिल हैं, जो जन्म आधारित समूह व सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण से संबंधित रही हैं। अनेक विद्वानों द्वारा जाति की उत्पत्ति के संबंध में विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कुछ विद्वान इसे धार्मिक-पारंपरिक व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित करते हैं, तो कुछ इसकी व्याख्या प्रजातीय आधारों पर करते हैं। विद्वानों ने व्यवसाय, वर्ग-विभिन्नता, जनजातीय व धार्मिक विश्वासों, विशुद्धता की अवधारणा, प्रजातीय विभिन्नता आदि के हवाले से जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कुछ विचार/सिद्धांत अधोलिखित हैं –

परंपरागत सिद्धांत -

यह सिद्धांत जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को वेद, शास्त्र, उपनिषद, स्मृतियों आदि के आधार पर व्याख्यायित करते हैं। इस सिद्धांत का प्रमुख आधार है 'ईश्वर ने इसे बनाया है'। ऋग्वेद में लिखित पुरुषसूक्त के अनुसार जाति की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से हुई है। ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैर से शूद्र का जन्म हुआ है। इसी आधार पर सभी जातियों का व्यवसाय निर्धारण हुआ। ब्राह्मणों को शिक्षण, क्षत्रियों को सैन्य कार्य, वैश्यों को व्यवसाय तथा शूद्रों को अन्य तीनों वर्णों की सेवा संबंधी कार्य निर्धारित किए गए। जातियों की उत्पत्ति के लिए मनु ने प्रतिलोम विवाह और वर्णसंकरता को उत्तरदायी माना है। महाभारत और गीता में भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए वर्णसंकरता को ही जिम्मेदार माना गया है।

इस प्रकार से जाति व्यवस्था को सामाजिक कार्यों के प्राकृतिक रूप से निर्मित संगठन की संज्ञा प्रदान की जा सकती है जो जाति विशेष में व्यक्ति की सदस्यता को धर्म व कर्म संबंधी सिद्धांतों के आधार पर समझी जा सकती है।

धार्मिक सिद्धांत -

होकार्ट और **सेनार्ट** के अनुसार- जाति व्यवस्था की उत्पत्ति धार्मिक आधारों से हुई है। **होकार्ट** का मानना है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति अनेक धार्मिक क्रियाओं और कर्मकांडों से हुई है। संख्या में अधिक ये क्रियाएं पवित्रता के आधार पर अनेक स्तरों में विभाजित थीं, जो उच्च व निम्न के रूप में स्तरण के लिए जिम्मेदार थे। विभिन्न सामाजिक क्रियाओं व कार्यकुशलता को बनाए रखने के लिए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की आवश्यकता हुई तथा इन्हीं व्यक्तियों के रूप में वर्ण व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ। इस प्रकार से समाज में सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण उन विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कार्यों की पवित्रता सुनिश्चित करने लगी। कालांतर में इस व्यवस्था ने ही आनुवांशिक रूप धारण कर लिया। भारत में धर्म और देवताओं का काफी महत्व है। देवताओं को चढ़ाए जाने वाले भेंट, जैसे मंत्र (ब्राह्मण), फूल (माली), जल (कुम्हार), शुद्ध वस्त्र (धोबी), बलि (कसाई/शूद्र) आदि कार्यों को करने वाले समूह ही बाद में जातियों के रूप में परिवर्तित हो गए। वर्तमान समय में भी कुम्हार, धोबी, नाई, ब्राह्मण आदि जातियां न केवल आर्थिक रूप से अपनी सेवाएं देते हैं बल्कि धार्मिक व संस्कारिक अवसरों की दृष्टि से भी इनकी सेवाएं अत्यंत महत्वपूर्ण होती हैं।

सेनार्ट का मत है कि भारत में जाति व्यवस्था का जन्म पारिवारिक पूजा तथा कुल देवता को अर्पित किए जाने वाले भोजन में भिन्नता व विभिन्न निषेध के कारण हुआ है। इस आधार पर सेनार्ट ने जाति व्यवस्था के तहत पाए जाने वाले विवाह, सामाजिक सहवास और भोजन के निषेधों का विश्लेषण किया। भारतीय समाज में अनेक देवी-देवताओं की संकल्पना पायी जाती है। एक समूह की आस्था किसी देवी-देवता के लिए रहती है तो दूसरे समूह की आस्था दूसरे देवी-देवता के प्रति। विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति आस्था व पूजा आदि के आधार पर विभिन्न समूहों में विभाजन था तथा यही विभाजन कालांतर में जाति समूहों के रूप में पर्णित हो गया।

राजनीतिक सिद्धांत -

अब्बे डुबॉय का मानना है कि जाति प्रथा 'ब्राह्मणों की चतुर-युक्ति का परिणाम' है। ब्राह्मण अपने वर्चस्व और सत्ता को सदैव के लिए कायम रखना चाहते थे तथा इसके लिए उन्होने धर्म का सहारा लिया। इस प्रकार से उन्होने जाति व्यवस्था का निर्माण किया तथा इस योजना के आधार पर ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति, सत्ता तथा वर्चस्व को सुरक्षित कर लिया। ऐसा इसलिए भी था, क्योंकि व्याख्या व पठन-पाठन का अधिकार उनके पास ही था तथा इसी कारण वे अपनी इस योजना में सफल भी हो पाए।

डेंजिल इबेट्सन और गोविंद सदाशिव घुरिए ने भी अब्बे डुबॉय द्वारा प्रस्तुत किए गए विचार को आंशिक रूप से स्वीकार किया है। घुरिए लिखते हैं कि 'जाति व्यवस्था इंडो-आर्यन संस्कृति के ब्राह्मणों का शिशु है जो कि गंगा और यमुना के मैदान में पैदा और पला-बढ़ा है तथा यहीं से देश के अन्य भागों में ले जाया गया है।'

उद्विकासीय सिद्धांत -

डेंजिल इबेट्सन के अनुसार विभिन्न धार्मिक संघों से जाति व्यवस्था का जन्म हुआ है तथा इसी कारण इस सिद्धांत को श्रेणी/संघ सिद्धांत भी कहा जाता है। आर्थिक वर्ग से आर्थिक संघ विकसित हुआ और आर्थिक संघों से ही जाति व्यवस्था का विकास हुआ है।

आरंभ में रक्त संबंधों की प्रधानता के कारण समूहों में उच्च-निम्न की भावना पायी जाती थी। परंतु धीरे-धीरे जनसंख्या, खतरों व आवश्यकताओं के बढ़ने से राज्य की उत्पत्ति हुई तथा राज्य की उत्पत्ति ने राजा के कर्तव्यों के रूप में व्यावसायिक भिन्नता तथा श्रम विभाजन को जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यवसाय समूह के लोग अपने हितों का संरक्षण करना आरंभ कर दिए तथा दूसरे समूहों से पृथक रहते हुए अपने संघ को सुदृढ़ स्वरूप प्रदान करने की ओर उन्मुख होने लगे। इस प्रकार से सामाजिक सहवास, विवाह तथा खान-पान संबंधित निषेधों का जन्म हुआ। इस संक्रमण की प्रक्रिया के दौरान पुरोहिती का कार्य करने वाला संघ अन्य संघों की अपेक्षाकृत अधिक संगठित रहा तथा इस संघ ने अपने नियमों व कार्यों का पालन अधिक दृढ़ता से किया। फलस्वरूप इस संघ की सामाजिक स्थिति समस्त संघों में सर्वश्रेष्ठ हो गयी। इसके पश्चात ये समूह अंतर्विवाही संघों में परिवर्तित होने लगे तथा यह व्यवस्था संस्तरण के रूप में स्थापित होकर पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होने लगी। कालांतर में इन्हीं व्यावसायिक संघों को जाति व्यवस्था के नाम से जाना जाने लगा।

व्यवसायिक सिद्धांत -

नेसफील्ड का मानना है कि जाति व्यवस्था कि उत्पत्ति का एक मात्र कारण व्यवसाय है। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजाति अथवा धार्मिक आधारों पर नहीं है अपितु मात्र व्यवसाय के आधार पर ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को माना जा सकता है। इनके अनुसार जातियां वास्तव में एक व्यावसायिक समूह हैं। व्यवसाय की तकनीकी कुशलता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित कर दी जाती है। इससे एक जाति से संबंधित लोग उस व्यवसाय को लंबे समय तक करते रहते हैं। इस प्रकार से 'व्यावसायिक संघों' का अस्तित्व निर्धारित होता है तथा यही बाद में जाति व्यवस्था के रूप में जाना जाने लगा।

धर्म के आधार पर जाति की उत्पत्ति न होकर श्रम विभाजन के कारण विभिन्न व्यवसायों में बंटकर जातीय समूहों का जन्म हुआ है। सामाजिक समूहों के आधार पर व्यवसाय पूर्व से ही स्तरीकृत थे और यही स्तरीकरण जातीय समूहों में भी पाया जाता है। उनका मत है कि व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता तथा हीनता की भावना ने ही जाति व्यवस्था में संस्तरण को जन्म दिया है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि उन समाजों में यज्ञ तथा बालि आदि का बड़ा महत्व था। अतः ब्राह्मणों का स्थान समाज में सम्माननीय तथा सर्वोच्च बन गया। इसी प्रकार से अन्य जातियां भी बनीं तथा उनका स्थान निर्धारित हुआ। **नेसफील्ड** ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में मूल रूप से दो कारण प्रस्तुत किए हैं –

1. व्यवसाय
2. जनजाति का संगठन

प्रजातीय सिद्धांत

हर्बर्ट रिजले द्वारा लिखित पुस्तक 'People of India' में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रजातीय सिद्धांत का विवरण मिलता है। इनका मत है कि इंडो-आर्यन प्रजाति के लोगों का फारस (पर्शिया) से भारत आगमन हुआ। भारत आने के पश्चात वे अश्वेत लोगों से मिले और अपनी सैन्य शक्तियों के बल पर उन्होने स्थानीय निवासियों पर विजय प्राप्त की तथा विजय के पश्चात वे यहीं निवास करने लगे। चूंकि वे लोग युद्ध के प्रयोजन से आए थे, अतः अपने साथ स्त्रियां नहीं लाए थे। अतः जनसंख्या वृद्धि व शारीरिक आवश्यकताओं की शांति के लिए यहां के मूल निवासियों के साथ विवाह संबंध स्थापित किया। इस प्रकार से 'प्रतिलोम विवाह' प्रचलन में आया। आर्यों ने आदिवासियों की लड़कियों से विवाह तो किया परंतु अपनी लड़किया उन्हें नहीं दी। अनुलोम विवाह के पश्चात उत्पन्न संतान को 'चांडाल' कहा गया।

प्रजातीय श्रेष्ठता को बनाए रखने की दृष्टि से 'प्रतिलोम विवाह' को प्रतिबंधित किया गया था। स्त्रियों की आवश्यकता पूर्ण होने के पश्चात अनुलोम विवाह को भी प्रतिबंधित कर दिया गया। इस प्रकार से अनुलोम विवाह और प्रजातीय श्रेष्ठता की भावना के कारण ही जाति व्यवस्था का जन्म हुआ।

रिजले ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति व विकास में से संबंधित कुल 6 प्रक्रियाओं के बारे में वर्णन प्रस्तुत किया है –

1. पारंपरिक व्यवसाय को बदलकर कोई भी जाति अथवा उपजाति एक स्पष्ट जाति के रूप में परणित हो जाती है।
2. प्रवास के आधार पर जाति का एक लघु अंश किसी दूसरे क्षेत्र में निवास हेतु गमन कर जाता है तथा यातायात व संचार साधनों की अनुपलब्धता के कारण अपने पैतृक क्षेत्र व लोगों से संपर्क रख पाना कठिन होता था। अंततः वे अपने मूल क्षेत्र व समूह से पूर्णतः पृथक हो जाते थे तथा इस प्रकार से भी नवीन जाति का विकास हुआ।
3. कभी-कभी रीति-रिवाजों तथा प्रथाओं आदि के बदल जाने के कारण भी नवीन जाति का निर्माण हो जाता था।

4. कुछ जातियां पुरानी परंपराओं को संरक्षित व सुरक्षित रखती थीं तथा कालांतर में ये परम्पराएं ही उनकी जाति की पहचान का प्रतिनिधित्व करती थी। इस प्रकार से भी नई जाति का निर्माण हुआ।
5. कभी-कभी संपूर्ण जाति हिंदुत्व में शामिल हो जाती थी तथा अपना एक नया नाम रख लेती थी। इस प्रकार से वह स्वयं को हिंदुओं में विलीन कर लेती थी तथा अन्य जातियों से स्वयं के अस्तित्व को पृथक कर लेती थी। इस प्रकार की जातियों में मध्य प्रदेश के गोंड तथा बंगाल के राजवंशी आदि आते हैं।
6. धार्मिक उत्साही लोग भी कभी-कभी उपदेश देते थे, अपना एक अलग ही समूह विकसित कर लेते हैं तथा अंत में ये स्वयं को एक अन्य जाति के रूप में व्याख्यायित करने लगते हैं, जैसे – कबीरपंथी।

रिजले के अलावा इस सिद्धांत को घुरिए और मजूमदार द्वारा भी समर्थन दिया गया है। घुरिए का मानना है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए प्रजातीय भेदभाव तथा प्रजातीय लक्षण उत्तरदायी हैं। आर्यों तथा द्रविड़ों की प्रजातीय भिन्नता के कारण जाति व्यवस्था का जन्म हुआ है। इनका मानना है कि भारत में आर्यों का आगमन 2500 वर्ष ईसा पूर्व हुआ तथा मूल निवासियों को पराजित कर आर्यों ने उन्हें 'दास' अथवा 'दस्यु' की संज्ञा दी। 'दास' शब्द का अभिप्राय ईरानी भाषा में 'दुश्मन' से होता है। जब इंडो-आर्यन प्रजाति का आगमन भारत में हुआ तो पूर्व से ही उसमें तीन श्रेणियां विभाजित थीं। भारत में विजय के पश्चात आर्यों ने सर्वप्रथम यहां के मूल निवासियों से निर्मित 'दासों' अथवा 'शूद्रों' से विवाह सबंध स्थापित करने को प्रतिबंधित किया तथा साथ ही शूद्रों के लिए आर्यों की धार्मिक पूजा को निषिद्ध किया। घुरिए का मत है कि आर्यों द्वारा किए गए वे सभी प्रयास ही जाति व्यवस्था के लक्षण व प्रतिबंध हैं जो यहां के मूल निवासियों पर उनके द्वारा थोपे गए थे।

मजूमदार ने भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को प्रजातीय आधारों से ही जोड़ा है। घुरिए की बातों से सहमती रखते हुए मानते हैं कि जातिगत संस्तरण, विभाजन तथा उपजातियों का निर्माण आदि आर्यों व द्रविड़ों के जातीयसंघर्ष तथा जीत-हार का परिणाम है। द्रविड़ों को हराने के पश्चात आर्य रक्त शुद्धता के आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के रूप में तीन वर्गों में विभाजित हो गए। द्रविड़ों को सबसे निम्नतम स्थान 'दास' के रूप में प्रदान किया गया। मजूमदार के अनुसार इन प्रजातियों के मिश्रण के कारण निम्न थे –

1. इन आक्रमणकारी इंडो-आर्यन समूहों में स्त्रियों की कमी थी।
2. तत्कालीन समय में द्रविड़ संस्कृति में मातृसत्तात्मक व्यवस्था विद्यमान थी।
3. वे भारतीय मूल निवासियों के स्थायी जीवन के प्रति आकर्षित थे।
4. इंडो-आर्यन समूहों तथा यहां के मूल निवासियों में पर्याप्त संस्कारिक विभिन्नता थी।
5. देवियों के प्रति आस्था, पूजा आदि
6. पुरोहित व्यवस्था

7. शैक्षिक व्यवस्था

आदिम संस्कृति अथवा 'माना' का सिद्धांत -

हट्टन द्वारा जाति व्यवस्था की उत्पत्ति संबंधित तीन पक्षों को प्रस्तुत किया गया है तथा ये पक्ष 1931 की जनगणना पर आधारित जातीय तथ्यों द्वारा निर्धारित किए गए हैं –

1. व्यवसाय का अनुवांशिक रूप
2. विवाह, खान-पान व सामाजिक सहवास संबंधी निषेध
3. संस्तरण की व्यवस्था

हट्टन का मत है कि जाति व्यवस्था की उपलब्धता भारत में होने के नाते इसकी उत्पत्ति के कारकों को तलाश करना भी भारतीय परिस्थितियों में ही संभव हो सकता है। अतः इस अध्ययन हेतु उन आदिवासी संस्कृतियों को चुनना चाहिए जिनमें काफी लंबे समय से परिवर्तन नहीं हुए हों। उदाहरणस्वरूप, भारत की नागा जनजाति का क्षेत्र। इन क्षेत्रों में वर्तमान समय में भी कई ऐसी जनजातियां हैं जो हिंदू, इस्लाम और बौद्ध आदि धर्मों के प्रभाव से परे हैं। इन क्षेत्रों में अनेक गांव हैं तथा प्रत्येक गांव एक पृथक राजनीतिक इकाई हैं। उनकी जीवनशैली, व्यवसाय, विश्वास आदि अलग-अलग हैं। एक गांव के सभी लोग प्रायः एक ही व्यवसाय में संलग्न रहते हैं और वही व्यवसाय उनके जीवन बसर को पूरा करता है। इन आधारों पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आर्यों के आने से पूर्व भी भारत में व्यावसायिक विभिन्नता विद्यमान थी, भले ही यह सामान्य रूप में क्यों न रही हो। आर्यों ने इस व्यावसायिक विभिन्नता/विभाजन को और भी स्पष्ट किया तथा स्वयं के व्यवसायों को वरीयता में उच्च स्थान प्रदान किया।

व्यावसायिक आधारों की व्याख्या के पश्चात **हट्टन** ने विवाह, खान-पान और वैवाहिक निषेधों के विश्लेषण हेतु नागा जनजाति में माने जाने वाले 'टेबू' तथा 'माना' की अवधारणा का सहारा लिया। जनजातियों में अनेक प्रकार के व्यवहारों को अशुभ समझा जाता है तथा उन्हीं व्यवहारों पर रोक लगाने हेतु कुछ टेबू अथवा निषेधों को लागू किया जाता है। माना एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति है जो अशरीरी तथा अलौकिक है और यह सभी वस्तुओं में विद्यमान रहती है। साथ ही यह स्पर्श से भी दूसरी वस्तुओं आदि में विचारित कर सकती है। माना एक प्रकार का विश्वास है तथा इस विश्वास के कारण ही जनजातीय समूह स्वयं को बाहरी समूहों के संपर्क से दूर रखने का प्रयास करते हैं। हट्टन के अनुसार आर्य जब भारत आए तो पहले से ही उनमें सामाजिक आधार पर संस्तरण की भावना पायी जाती थी। आर्यों ने यहां के मूल निवासियों में टेबू और माना जैसी अवधारणाओं व विश्वासों को देखा तथा उन्हें एक स्पष्ट एवं निश्चित स्वरूप प्रदान किया। इससे आर्यों का सामाजिक व राजनीतिक प्रभाव स्थापित हो गया तथा परिणामस्वरुप विवाह, खान-पान और सामाजिक सहवास संबंधित अनेक निषेध निर्मित हो गए तथा शनैः शनैः ये निषेध और भी विस्तृत व कठोर होते गए।

3.1.8 सारांश -

इस अध्याय में हमने जाति की अवधारणा, अर्थ तथा उससे संबंधित कुछ विद्वानों के विचारों के बारे में जानकारी प्राप्त की। जाति व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाजों की रीढ़ है तथा भारतीय समाज के बारे में पूर्ण व गहन अध्ययन करने की दृष्टि से यह अत्यंत उपयोगी अवधारणा है। इसके पश्चात इस इकाई में जाति व्यवस्था की विशेषताओं तथा गुण-दोषों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया। इकाई के अंत में जाति व्यवस्था की उत्पत्ति से संबंधित विभिन्न विद्वानों के विचार/सिद्धांत के बारे में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। जाति व्यवस्था अत्यंत जटिल और व्यापक व्यवस्था है। आरंभ से ही भारतीय समाज में इसके अस्तित्व को माना जाता है। यह एक लंबे काल से विद्यमान रहने के कारण इसकी संरचना तथा कार्य सदैव परिवर्तित और संशोधित होते रहे हैं। ऐसे में किसी भी एक स्थान अथवा समय अथवा परिस्थिति के अनुरूप इसकी उत्पत्ति को स्पष्ट कर पाना निःसंदेह एक दुष्कर कार्य है।

3.1.9 बोध प्रश्न

1. जाति व्यवस्था को परिभाषित कीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताओं के बारे में विस्तार से वर्णन प्रस्तुत कीजिए।
2. जाति व्यवस्था के गुण तथा दोषों पर प्रकाश डालिए।
3. जाति व्यवस्था पर आधारित जी.एस. घुरिए के विचार स्पष्ट कीजिए।
4. जाति की उत्पत्ति के प्रजातीय सिद्धांत को लिखिए।
5. टिप्पणी कीजिए –
    1. जाति की उत्पत्ति का परंपरागत सिद्धांत
    2. जाति की उत्पत्ति का आदिम संस्कृति का सिद्धांत
    3. जाति की उत्पत्ति का धार्मिक सिद्धांत

3.1.10 संदर्भ ग्रंथ एवं कुछ उपयोगी पुस्तकें -

1) आहूजा, र. (1995). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
2) केतकर, एस.बी. (1909). *हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इंडिया*. न्यूयॉर्क: इथाका.
3) घुरिए, जी.एस. (1969). *कास्ट एंड रेस इन इंडिया*. बाम्बे: पॉपुलर प्रकाशन.
4) पाण्डेय, ग. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशन.
5) बेली, एफ़.जी. (1957). *कास्ट एंड एकोनोमिक फ्रंटियर*. मेनचेस्टर: मेनचेस्टर यूनिवर्सिटी.
6) बेली, एफ़.जी. (1960). *ट्राइब, कास्ट एंड नेशन*. मेनचेस्टर: मेनचेस्टर यूनिवर्सिटी.
7) बेते, आ. (1969). *कास्ट ओल्ड एंड न्यू एसेज इन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन*. दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग हाउस.
8) श्रीनिवास, एम. एन. (2001). *आधुनिक भारत में जाति*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

9) श्रीनिवास, एम.एन. (1962). *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज.* बम्बई: मीडिया पब्लिशर्स.

10) श्रीनिवास, एम. एन. (1996). *कास्ट: इट्स 20th सेंचुरी अवतार.* हरियाणा: पेग्विन ग्रुप.

11) शर्मा, के. एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

12) हट्टन, जे.एच. (1961). *कास्ट इन इंडिया इट्स नेचर.* बंबई: फंक्शन एंड ओरिजिन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

इकाई 2 जाति: निरंतरता एवं परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

3.2.1 उद्देश्य

3.2.2 प्रस्तावना

3.2.3 जाति व्यवस्था की निरंतरता

3.2.4 जाति व्यवस्था के निरंतरता के कारक

3.2.5 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

3.2.6 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक

3.2.7 जाति व्यवस्था का भविष्य

3.2.8 सारांश

3.2.9 बोध प्रश्न

3.2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.2.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

6. जाति व्यवस्था की निरंतरता तथा उसके लिए आवश्यक कारकों को समझ पाने में।
7. जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों को जान पाने में।
8. परिवर्तित हो रही जाति व्यवस्था के लिए उत्तरदायी कारकों के बारे में समझ विकसित कर पाने में।
9. भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का क्या भविष्य है? के बारे में ज्ञान अर्जित कर पाने में।

3.2.2 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने जाति व्यवस्था के बारे में अध्ययन किया तथा उसके अध्ययन व विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी सदस्यता अनिवार्य रहती है तथा यह सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। यही कारण है कि व्यक्ति आजीवन एक ही जाति से संबंधित रहता है। सभी जातियों कि अपनी पृथक मान्यताएं, संस्कृति तथा नियम होने के कारण वे एक अलग ही स्वरूप बनाते हैं तथा उसे बनाए रखने में ही अपनी बेहतरी समझते हैं। सभी जातियां अंतर्विवाही होती हैं और उनमें विभिन्न प्रकार के सामाजिक प्रतिबंधों की व्यवस्था पायी जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक जाति की भिन्न प्रकृति तथा संरचना देखने को मिलती है। आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त होने के कारण जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता विद्यमान रहती है। जातियों में व्यावसायिक आधारों पर आर्थिक स्थायित्व पाया जाता है तथा जातियों में नियम प्रणाली और निषेध

पाए जाते हैं, जो राजनीतिक आधार पर जातियों को संगठित करने का काम करते हैं। साथ ही ए जाति व्यवस्था को गतिमान बनाए रखने में भी उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं।

3.2.3 जाति व्यवस्था की निरंतरता

जाति व्यवस्था निरंतर सभी समाजों में प्राचीन समय से ही विद्यमान रही है। हालांकि इसमें समय के साथ साथ अनेक परिवर्तन भी हुए हैं। विभिन्न विद्वानों का मत है कि बंद प्रकृति से होने के बावजूद जाति व्यवस्था जातिगत संस्तरण में जातियों के पूर्वनिर्धारित स्थान और प्रतिमानों में समय-समय परिवर्तन होते रहे हैं। कुछ विद्वानों द्वारा दी गई अवधारणाओं ने भी जातिगत संरचना की गतिशीलता तथा लचीली व्यवस्था को प्रत्यक्ष तौर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जैसे – एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत की गई संस्कृतिकरण की अवधारणा। इसके अलावा ब्रिटिश आगमन ने भारतीय समाज में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया तथा इस प्रक्रिया ने भी जाति व्यवस्था को संरचनात्मक गतिशीलता की ओर अग्रेषित करने का काम किया है। शैक्षिक। आर्थिक तथा राजनीतिक पक्षों में अनेक परिवर्तन हुए तथा उन परिवर्तनों ने भी जाति व्यवस्था को कमोबेश रूप में प्रभावित किया है। इन विविध तथा वृहत परिवर्तनों के बावजूद जाति व्यवस्था अपनी निरंतरता को बनाए रखने में सफल हुई है। हालांकि इसमें अनेक प्रकार्य बदल चुके हैं, तो कुछ पुराने प्रकार्य आज भी जीवित अवस्था में बने हुए हैं।

सामाजिक क्षेत्रों में निरंतरता

सामाजिक जीवन तथा व्यावसायिक जीवन में परिवर्तन होने के बाद भी व्यक्ति अपनी जातिगत विशेषताओं को बनाए रखने और उसके प्रति आस्था रखने में पूरी तन्मयता दिखाता है। मैक्स वेबर ने बताया कि जाति व्यवस्था में खान-पान संबंधी नियम पाए जाते हैं, हालांकि ए नियम समकालीन संदर्भ में मृत प्राय हो चुके हैं, परंतु आज भी अंतर्विवाही नियम गंभीरता से पालन किए जाते हैं। इसी प्रकार हेराल्ड गूल्ड ने लखनऊ के रिक्शा चालकों पर अध्ययन किया तथा बताया कि रिक्शा चालक अनेक जातियों से संबंधित रहते हैं तथा वे बिना किसी की जातीय भिन्नता को जाने/परवाह किए सभी लोगों के साथ अंतःक्रिया करते हैं। परंतु जब भी वे घर जाते थे, तो जातीय धार्मिक रीतियों के अनुपालन के दौरान वे केवल उन्हीं लोगों को आमंत्रित करते थे जो लोग उनकी जातियों के सदस्य थे। उनके सभी रिश्तेदार उनकी ही जाति से संबंधित रहते थे तथा वे अपनी ही जाति में विवाह संबंध स्थापित करते थे।

आर्थिक क्षेत्रों में निरंतरता

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति का अपना एक व्यवसाय होता है तथा यह उनके सामाजिक संस्तरण के आधार पर पूर्व से ही निर्धारित रहता है। जाति व्यवस्था में उच्च स्थान पर स्थापित जातियों के व्यवसायों को पवित्र माना जाता था, जबकि निम्न स्थान पर काबिज जातियों के व्यवसायों को अपवित्र की श्रेणी में रखा जाता था। ब्रिटिश आगमन ने नवीन प्रकार के आर्थिक अवसरों को पैदा किया तथा नई अर्थव्यवस्था को जन्म दिया। इस प्रकार से वंशानुगत सामाजिक स्थितियों का स्थान बाजार की दशाओं ने ले लिया तथा आर्थिक सम्बन्धों को बाजार की

प्रकृति के अनुरूप निर्धारित किया जाने लगा। एफ़.जी. बेली ने उड़ीसा के बीसीपारा गांव का अध्ययन किया तथा बताया कि व्यवसायवाद की बढ़ती लोकप्रियता के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था, बृहत राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अंश बन चुकी है। बेली का मानना है कि ब्रिटिश शासन में परिवर्तित राजनैतिक वातावरण ने ग्रामीण परंपरागत जातिगत संस्तरण तथा भूस्वामित्व की संरचना पर गहरा आघात किया। हालांकि इसके बाद भी जाति व्यवस्था आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को निर्धारित और नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

इस जातीय निरंतरता को इस प्रकार से भी समझा और विश्लेषित किया जा सकता है। ब्रिटिश औपनिवेश से आजाद होने बाद भारतीय समाज में अनेक सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक परिवर्तन हुए और एक नई शक्ति तथा सत्ता का निर्माण हुआ, जो इन नव निर्मित पक्षों द्वारा परिभाषित होती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन परिवर्तनों का लाभ उठाने में ज़्यादातर जातीय व्यवस्था की उच्च जातियां सम्मिलित हुई। इन जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शामिल थे तथा ए जातियां पहले से ही शक्तिशाली तथा समर्थवान थीं। इस प्रकार से शक्ति तथा सत्ता में पुनः उन्हीं जातियों का आधिपत्य हो गया, जिनका आधिपत्य पूर्व में था। इस प्रकार से सामाजिक-जातीय व्यवस्था का केवल रूपांतरण हुआ और जातियों ने अपनी स्थिति व व्यवस्था को बनाए रखा। इसे हम जातिगत व्यवसायों के विस्तारिकरण के रूप में भी देख सकते हैं।

राजनीतिक क्षेत्रों में निरंतरता

ग्रामीण भारत की सत्ता संरचना के निर्धारण तथा नियंत्रण में सदैव से ही प्रभुत्वशाली जातियां केंद्र में रही हैं। यहां इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि सभी प्रभुत्वशाली जातियां अनुष्ठानिक तौर पर श्रेष्ठ/उच्च पायदान पर स्थापित नहीं थीं, अपितु कुछ जातियां राजनीतिक शक्ति, संख्या तथा भूमि पर स्वामित्व के आधार पर प्रभुत्वशाली थीं। हालांकि अधिकतर जातियों का संबंधित क्षेत्रों में उक्त तीनों कारकों पर आधिपत्य स्थापित था। हालांकि बाजार की अर्थव्यवस्था के फलने-फूलने के बाद तथा परंपरागत निर्धारित जातिगत व्यवसायों के ह्रास होने से जातियों की पारंपरिक राजनीतिक भूमिका प्रभावित हुई और साथ ही विभिन्न जाति समूहों के सक्रिय होने के कारण भी राजनीतिक स्वरूप परिवर्तित हुआ। इसके बावजूद राजनैतिक तौर पर जाति एक महत्वपूर्ण इकाई है।

स्वतंत्र भारत में अधिकांश अछूत जातियां स्थानीय प्रभुत्वशाली तथा उच्च जातियों (विशेषकर ठाकुरों/राजपूतों के विरुद्ध) के विरोध में एकजुट हो गई। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि ठाकुर पारंपरिक जमींदार थे तथा वे ही निम्न जातियों के भूतपूर्व मालिक थे। जातीय संस्तरण की निम्न जातियों की एकजुटता मात्र राजनीतिक लाभ तक ही सीमित नहीं था, अपितु यह भौतिक कल्याण और सामाजिक प्रस्थिति के नजरिए से भी महत्वपूर्ण था।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि भारत में परिवर्तन की प्रक्रिया जातिगत गतिशीलता के साथ-साथ क्रियाशील रही है। परिवर्तन के साथ अनुकूलन तथा निरंतरता को बनाए रखना जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता मालूम पड़ती है।

3.2.4 जाति व्यवस्था की निरंतरता के कारक

उक्त प्रस्तुत किए गए संदर्भों से यह स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में अनुकूलन का गुण पाया जाता है तथा परिस्थितियों व परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को भी परिवर्तित करने में सक्षम है। के.एम. पणिक्कर ने लिखा है कि *"जाति व्यवस्था रबर से बने एक तम्बू की तरह है, जो अपने अंदर सभी समूहों का समावेश कर लेता है।"*

इस कथन से भी जाति व्यवस्था के अनुकूलन की क्षमता प्रकट होती है। यह क्षमता प्राचीन काल से ही जाति व्यवस्था में विद्यमान रही है। इस व्यवस्था ने जैन, बौद्ध, इस्लाम, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, संस्कृतिकरण आदि परिवर्तनों के साथ अनुकूलन किया है तथा अपने अस्तित्व को निरंतर बनाए रखा है। भले ही इसके स्वरूप में थोड़े-बहुत परिवर्तन ही क्यूँ ना हुए हों।

इसके अलावा निम्न समकालीन प्रकार्यों को भी जाति व्यवस्था की निरंतरता के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है –

1. जाति व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जो सामाजिक गतिशीलता को बल प्रदान करती है। इसे हम दो रूपों में समझ सकते हैं। पहला 'संस्कृतिकरण' के रूप में यह व्यवस्था जातीय संस्तरण की निम्न प्रस्थिति वाली जातियों द्वारा उच्च तथा प्रभुत्वशाली जातियों की जीवनशैली, संस्कृति, परंपरा के अनुसरण तथा कुछ समय बाद स्वयं को उच्च जाती के रूप में स्थापित करती है। इस प्रकार से सभी जातीय समूहों को संतुष्ट करते हुए जाति व्यवस्था अपनी निरंतरता को कायम रख पाने में सक्षम है। दूसरे रूप में जाति व्यवस्था शक्ति को संकलित करने के संदर्भ से महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज में आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति बहुत महत्वपूर्ण है तथा सभी जातियों द्वारा अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की होड़ सी लगी हुई है। जातियां एक ओर जहां अपने सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक हितों को पूरा करने के लिए दबाव समूह के रूप में कार्य करती हैं, वहीं दूसरी ओर चुनावों में अपनी ही जाति के प्रतिनिधि को जिताने के लिए सभी जातियां एकत्रित हो जाती हैं।
2. यदा कदा व्यक्ति को अपने हितों की पूर्ति के लिए जातिवाद का सहारा लेना पड़ता है। राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक हितों के लिए व्यक्ति को कभी कभी जातिगत आधारों की सहायता लेनी पड़ती है तथा यह अपने जातीय समूह के लोगों में जाति संबंधी भावनाएं पैदा करती है। व्यक्ति द्वारा अपनी जाति को संगठित कर दबाव समूह के रूप में प्रयोग किया जाता है तथा अपने व्यक्तिगत हितो की पूर्ति की जाती है।
3. लोकतान्त्रिक व्यवस्था में 'वोट बैंक' की राजनीति करने की दृष्टि से भी जातियों को लमबंद किया जाता है। क्षेत्र में जातियों की संख्या के आधार पर ही प्रतिनिधि को नामित किया जाता है तथा जातियों द्वारा भी उन्हीं प्रतिनिधियों को वोट दिया जाता है, जो प्रतिनिधि उनकी जाति से संबंधित रहते हैं।
4. जाति के आधार पर विभिन्न प्रकार के संगठन बनाए जाते हैं तथा ए संगठन अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य करते हैं। अपनी जाति के लिए अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, छात्रावास आदि

स्थापित कर ए संगठन अपनी जातियों के प्रति अपनी आस्था को प्रकट करते हैं। इन संगठनों द्वारा किए जाने वाले कल्याणकारी कार्य केवल अपनी ही जाति के लिए होते हैं। यह कार्य एक ओर तो उनकी जातियों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं तो दूसरी ओर उनकी जाति से संबंधित लोगों में विश्वास की भावना बलवती होती है, जो उनकी जाति को मजबूती प्रदान करती है। इस प्रकार से लोगों में अपनी जाति के लिए 'हम की भावना' का विकास होता है।

5. समकालीन समय में वैश्वीकरण तथा संचार क्रांति के युग में व्यक्ति अपने पहचान को लेकर काफी सजग हुआ है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इस विस्तारित युग में पहचान के खो जाने का संकट तेज हुआ है तथा इस संकट से उबरने के लिए और अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए व्यक्ति अपने नृजातीय मूल को तलाशता है। जाति व्यवस्था अपने संदस्यों को एक सामाजिक आवरण प्रदान करती है जो उनको सुरक्षित पहचान प्रदान करती है। एक ऐसी पहचान जिसे व्यक्ति जीवनपर्यंत धारण किए रहता है तथा कोई भी शक्ति इस पहचान को बदल नहीं सकती।

3.2.5 जाति व्यवस्था में परिवर्तन

जाति व्यवस्था की निरंतरता तथा अनुकूलन की प्रकृति के बावजूद इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं, जो निम्नलिखित हैं –

1) जातीय संस्तरण में बदलाव

जाति व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक जाति को एक सामाजिक प्रस्थिति प्रदान की गई है तथा इसी आधार पर उनमें संस्तरण की व्यवस्था पायी जाती है। प्रत्येक जाति अन्य जाति से उच्च, निम्न अथवा बराबर प्रस्थिति की होती है तथा प्रत्येक जाति को यह जानकारी रहती है कि कौन सी जाति उससे उच्च प्रस्थिति पर व्याप्त है तथा कौन सी जाति निम्न प्रस्थिति पर। परंतु वर्तमान समय में जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित की गई संस्तरण व्यवस्था में परिवर्तन आया है तथा निम्न मानी जाने वाली जातियों द्वारा भी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पक्षों में अपनी स्थिति में काफी सुधार कर लिया गया है और स्वयं को उच्च प्रस्थिति प्रदान करने हेतु कार्य किए गए हैं। एम.एन. श्रीनिवास द्वारा दी गई 'संस्कृतिकरण' की अवधारणा इन्हीं बातों को उजागर करती है। इस प्रक्रिया में निम्न संस्तरण वाली जाति उच्च अथवा प्रभुत्वशाली जाति की जीवनशैली आदि को अपनाकर स्वयं के उच्च होने का दावा करती है। इस प्रकार अनेक बड़े शहरों में अपरिचित होने का फायदा उठाकर अनेक जातियों ने उच्च प्रस्थिति से संबंधित होने का दावा किया गया।

2) ब्राह्मणों की प्रस्थिति में ह्रास

आदि काल से ही जाति व्यवस्था के अनुसार सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में ब्राह्मणों का विशिष्ट महत्व और वर्चस्व रहा है। परंतु वर्तमान समय में व्यक्तिगत गुणों (कौशल, योग्यता आदि) तथा धन-संपत्ति का काफी महत्व बढ़ चुका है। इस कारण किसी भी जाति का सदस्य (वह चाहे जातीय संस्तरण की निम्न मानी जाने वाली जाति से ही क्यूँ ना हो) शिक्षा ग्रहण करने, धन संचित करने

अथवा चुनाव में जीत कर विशिष्ट और उच्च सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रस्थिति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार से समकालीन समय में कभी कभी ब्राह्मणों को भी निम्न जातियों के अधीन रहते हुए अपनी सेवाएं देनी पड़ती हैं। इसके अलावा दिन-प्रतिदिन पूजा-पाठ व अन्य धार्मिक क्रियाओं में विश्वास की कमी होती जा रही है, इस कारण से भी ब्राह्मणों की प्रस्थिति में निरंतर गिरावट होती जा रही है।

3) व्यावसायिक चयन में स्वतन्त्रता

परंपरागत जाति व्यवस्था में व्यवसाय का निर्धारण पूर्व में ही हो जाता था तथा इसको बदलना संभव नहीं रहता था। परंतु वर्तमान समय में व्यक्ति को अपनी कुशलता तथा योग्यता के अनुसार व्यवसाय को चुनने की पूरी आजादी है। किसी भी जाति का व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुरूप किसी भी व्यवसाय को करने हेतु स्वतंत्र है। डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, वकील आदि प्रकार के विभागों में अनेक जातियों के व्यक्ति कार्य करते हैं। इसी प्रकार कृषि कार्यों में भी विभिन्न जातियों ने अपनी उपस्थिति सुनिश्चित की है। हालांकि इतने परिवर्तनों के बावजूद ब्राह्मण तथा हरिजन द्वारा किए जाने वाले कार्यों को आज भी किसी अन्य जाति द्वारा नहीं अपनाया गया है।

4) भोजन तथा विवाह संबंधी प्रतिबंधों में बदलाव

परंपरागत जाति व्यवस्था में खान-पान तथा विवाह संबंधी अनेक निषेध पाए जाते थे। शाकाहार, मांसाहार, कच्चे-पक्के, तले-भुने आदि प्रकार के भोजन के आधार पर पवित्रता-अपवित्रता का निर्धारण किया जाता था तथा यह निर्धारण ही जातियों के सामाजिक संस्तरण को भी प्रभावित करता था। परंतु वर्तमान समय में ए खान-पान संबंधी नियम कमजोर हुए हैं। आज कुछ ब्राह्मण भी मांसाहार करते हैं। अनेक होटल, ढाबे, भोजनयलों आदि के खुल जाने के कारण विभिन्न जातियों के लोगों में साथ खाने-पीने की भावना विकसित हुई है तथा कच्चे-पक्के भोजन का भेदभाव भी कम हुआ है। आज जाति व्यवस्था की उच्च जाति के लोग भी निम्न जातियों के यहां भोजन करते हैं।

अंतर्जातीय विवाह को जाति व्यवस्था का मूल आधार माना जाता है। परंतु आज यह आधार भी कमजोर हुआ है। आज व्यक्ति दूसरी जाति में विवाह करने से नहीं हिचकता। इसके अलावा विलंब विवाह, विवाह-विच्छेद, विधवा पुनर्विवाह आदि प्रकार के विवाहों के स्वरूप भी सामने आए हैं।

5) अस्पृश्य जातियों के अधिकारों में बढ़ोत्तरी

परंपरागत जाति व्यवस्था में अस्पृश्यों तथा दलितों के लिए अनेक निर्योग्यताएं निर्धारित की गई थीं तथा सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया। कालांतर में अनेक समाजसुधारकों द्वारा किए गए प्रयासों तथा संवैधानिक प्रावधानों द्वारा इन जातियों को सुविधाएं तथा अधिकार प्राप्त हो पाए। उनके लिए आर्थिक तथा राजनीतिक संरक्षण की व्यवस्था की गई तथा सरकारी नौकरियों और अन्य क्षेत्रों में उनके लिए स्थान आरक्षित किए गए। इसके साथ ही संवैधानिक तौर पर अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया।

6) बदलते हुए जातीय संबंध

वर्तमान समय में जातियों के आपसी सम्बन्धों में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था में आपसी संबन्धों और पारस्परिकता को बनाए रखने के लिए जजमानी प्रणाली पायी जाती थी। यह

प्रणाली जातियों को सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा मुहैया कराती थी। आज जजमानी संबन्धों में ह्रास हुआ है तथा राजनीतिक आधार पर भी शक्ति को प्राप्त करने के लिए भी जातियों में आपसी सहयोग की कमी आयी है। शक्ति ने नए समीकरण पैदा हुए हैं, सत्ता उच्च जातियों के अल्पसंख्यक लोगों से निम्न जातियों के बहुसंख्यकों के पास हस्तांतरित हुई है। अनेक ग्राम पंचायतों में प्रधान के तौर पर निम्न जाति के बहुसंख्यक ही विद्यमान हैं।

7) जातीय समितियों और संगठनों का निर्माण

जातियों द्वारा अपने जातीय हितों की रक्षा करने हेतु समितियों तथा संगठनों का निर्माण किया गया है। ए संगठन/समिति क्षेत्रीय, प्रांतीय तथा राष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त हैं। ए संबंधित जातियों के सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता को बनाए रखने में सहायता करते हैं तथा शक्ति प्रदान कर अपनी जाति को आर्थिक तौर पर सशक्त करने का काम करते हैं।

3.2.6 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक

उक्त लिखित परिवर्तनों तथा जाति के परंपरागत स्वरूप विघटित होने में अनेक कारक उत्तरदायी हैं, जिनमें से प्रमुख के बारे में यहां विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

a. पश्चिमी शिक्षा तथा सभ्यता

ब्रिटिश औपनिवेश के पूर्व भारतीय समाज में धार्मिक शिक्षा का प्रचलन था, जिसमें केवल ब्राह्मण तथा क्षत्रियों को ही शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था तथा शेष जातियों को शैक्षिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था। लोग अपने जातीय व्यवसायों की शिक्षा परिवार द्वारा प्राप्त करते थे। ब्रिटिश काल में पहली बार शिक्षा धर्म निरपेक्ष तथा सार्वभौमिक हुई। इस प्रकार से भारतियों में संकीर्णता तथा रूढ़िवादिता में कमी आयी तथा समानता व भाई-चारे की भावना का विकास हुआ। आजाद भारत में भी पश्चिमी शिक्षा तथा सभ्यता के प्रति आकर्षण बना हुआ है। यही कारण है कि भारत में व्यक्तिवादिता, उदरवाद, भौतिकवाद और उपयोगितावाद जैसे नवीन विचारों का आगमन हुआ है।

b. औद्योगीकरण तथा नगरीकरण

भारत में बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण औद्योगीकरण के कारण हुआ तथा इन कारखानों ने सभी जातियों के लोगों को साथ काम करने के अवसर दिए। पूर्व के स्थापित जाति आधारित व्यवसायों को तोड़कर औद्योगीकरण ने लोगों को विभिन्न व्यवसायों में सम्मिलित किया तथा इसका आधार गुण व कुशलता को बनाया गया न कि जन्म आधारित जाति व्यवस्था को। एक साथ कार्य करने से लोगों में पारस्परिकता कि भावना विकसित हुई तथा भेदभाव में कमी आयी।

c. स्वतंत्रता तथा धार्मिक आंदोलन

ब्रिटिश औपनिवेश से आजाद होने के लिए भारतियों ने बहुत संघर्ष किया। इन आंदोलनों में शामिल नेताओं ने जातिगत भेदभावों को दूर रखते हुए एक साथ मिलकर आवाज उठाई। सभी जातियों के लोग एक साथ रहते थे, साथ खाते थे, साथ सोते थे तथा साथ ही मंत्रणा व विचार-विमर्श भी किया करते थे। इन क्रियाविधियों ने भी जाति व्यवस्था की कठोर संरचना को तोड़ने का काम किया।

स्वतन्त्रता आंदोलनों के अलावा भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने की दृष्टि से अनेक धार्मिक आंदोलन भी किए गए, जिनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन द्वारा चलाए गए आंदोलन प्रमुख हैं। इनके अलावा व्यक्तिगत तौर पर कबीर, गुरु नानक, नामदेव, तुकाराम आदि समाज सुधारकों ने भी धार्मिक सुधार की दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य किए। इन आंदोलनों की सहायता से अस्पृश्यता, भेदभाव आदि समस्याओं को समाप्त करने के प्रयत्न किए गए।

d. लोकतन्त्र की स्थापना

स्वतंत्र भारत में लोकतन्त्र की स्थापना की गई तथा इसके बाद संवैधानिक रूप से रंग, लिंग, जन्म, जाति, धर्म आदि के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव को समाप्त करने हेतु निर्देश जारी किए गए। देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए जाने की बात कही गई। इन लोकतान्त्रिक विचारों के कारण जाति व्यवस्था शिथिल हुई है।

e. स्त्री-शिक्षा का प्रचार-प्रसार

आज स्त्रियां उतनी ही शिक्षित हैं जितना की पुरुष। स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार ने उनके लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विकास के मार्ग खोल दिए। स्त्रियों ने अपने ऊपर थोपी जा रही कुप्रथाओं तथा निर्योग्यताओं का विरोध किया। शिक्षित स्त्रियां इन प्रकार के निषेधों को मानने से इनकार करती हैं।

f. धन-संपत्ति का बढ़ता महत्व

आज के समय में जन्म के स्थान पर व्यक्तिगत गुणों तथा कौशल को अधिक महत्व दिया जा रहा है। व्यक्ति के मूल्यांकन हेतु उसकी जाति गौड़ हो रही है तथा धन-संपत्ति के आधिपत्य को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा है।

g. संयुक्त परिवार का विघटन

जाति व्यवस्था को परिवर्तित करने में संयुक्त परिवारों का विघटन भी उत्तरदायी है। संयुक्त परिवारों द्वारा जाति व्यवस्था के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था, परंतु उनके विघटित होने के बाद जन्मे एकाकी परिवारों में व्यक्तिवादिता की भव अधिक पायी जाती है। यही कारण है कि इन परिवारों में जाति व्यवस्था को मानने वाले नियमों के प्रति उदासीनता आयी है।

h. यातायात तथा संचार साधनों का विकास

आज यातायात और संचार का विकास काफी हो चुका है तथा इन साधनों के विकास के कारण लोगों में गतिशीलता बढ़ी है। अनेक प्रान्तों, धर्मों, जातियों के लोग आज एकसाथ बस, ट्रेन, हवाई जहाज आदि में सफर करते हैं। इस प्रकार से लोगों में आपसी सहयोग, संपर्क, समानता आदि की भावना बलवती हुई तथा खान-पान और छुआछूत संबंधित निषेध कम से कमतर हुए।

i. जाति पंचायतों की कमी

जाति व्यवस्था को मजबूती प्रदान करने की दिशा में जाति पंचायतों तथा ग्राम पंचायतों की भूमिका प्रमुख रही है। ए पंचायतें जाति व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन करने वाले लोगों के लिए दंड आदि का प्रावधान करते थे। परंतु जाति पंचायतों की समाप्ती के कारण जाति व्यवस्था के प्रति लोगों की धारणाओं में भी बहुत परिवर्तन हुए हैं।

j. जजमानी व्यवस्था की समाप्ति

जाति व्यवस्था को सुदृढ़ तथा जातियों को परस्परिक तौर पर निर्भर रखने में जजमानी प्रणाली की भूमिका अग्रणी रही है। परंतु औद्योगीकरण तथा अन्य संस्थाओं की स्थापना ने जजमानी प्रणाली को तोड़ दिया तथा लोग अपने जातीय व्यवसायों से हटकर भी अन्य व्यवसायों में शामिल होने लगे। इस प्रकार से जातीय व्यवस्था की बाध्यता तथा जातियों की आपसी आर्थिक निर्भरता कम होने लगी।

k. नवीन संवैधानिक कानून

ब्रिटिश काल से ही ऐसे क़ानूनों का प्रावधान किया जाने लगा, जो जाति व्यवस्था के विरुद्ध थे स्वतंत्र भारत में निम्न क़ानूनों द्वारा जाति व्यवस्था की स्थापित मान्यताओं को तोड़ने का काम किया गया है –

- हिंदू विवाह वैधकरण अधिनियम, 1954
- विशेष विवाह अधिनियम, 1954
- हिंदू विवाह अधिनियम, 1955
- अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1955 आदि

इसके अलावा संविधान में लिखित अनुच्छेद 15 के अनुसार धर्म, जाति, रंग, लिंग आदि आधार पर किए जाने वाले भेदभाव तथा अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता को वर्जित किया गया है। संविधान ने भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की संज्ञा प्रदान की है।

जाति व्यवस्था का भविष्य

जाति व्यवस्था में निरंतर अनेक परिवर्तन हो रहे हैं तथा नवीन शक्तियों के उभरने से जाति व्यवस्था के अस्तित्व पर सवाल खड़ा करना कोई नई बात नहीं है। निःसन्देह जाति व्यवस्था ने अपने परंपरागत स्वरूप को खो दिया है तथा लोगों में उसके प्रति आस्था कम हुई है। जाति व्यवस्था के नियमों की कठोरता में भी कमी आयी है, आज जाति व्यवस्था अत्यंत लचीली हो गयी है। परंतु दूसरी ओर जाति व्यवस्था में अनुकूलन तथा निरंतरता का गुण भी पाया जाता है तथा यही कारण है कि जाति व्यवस्था का अस्तित्व इस वैज्ञानिक तथा तार्किक युग में भी बना हुआ है। परंतु अभी भी प्रश्न वही है कि क्या भारतीय समाज में जाति व्यवस्था नष्ट हो जाएगी? अथवा उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाएगा। यदि स्वरूप परिवर्तित होगा तो जाति व्यवस्था का भविष्य का स्वरूप कैसा होगा?

स्वतंत्र भारत के संवैधानिक प्रावधान, औद्योगीकरण, नगरीकरण, धार्मिक/सुधार आंदोलन, पश्चिमी शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति आदि कारकों ने जाति व्यवस्था की संरचना और प्रकार्यों में अनेक परिवर्तन किए हैं तथा इसका परिणाम यह हुआ कि जाति व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था की विशेषताएं जन्म लेने लगीं। कुछ राजनीतिज्ञों तथा प्रगतिवादी विद्वानों का मानना है कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है तो कुछ इस बात पर ज़ोर देते हैं कि जाति व्यवस्था स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। हालांकि ए सारी बाते निरधार हैं, क्योंकि जाति व्यवस्था में अनुकूलन की प्रवृत्ति पायी जाती है। श्रीनिवास ने स्पष्ट किया है कि मद्रास, उड़ीसा, आंध्र, मैसूर, गुजरात, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में जाति व्यवस्था में एक नई जागरूकता का प्रसार

हो रहा है और नवीन संगठनोन की निर्मिति ने जाति व्यवस्था को शक्ति प्रदान किया है। इसी प्रकार योगेंद्र सिंह का मानना है कि जाति व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों को समुत्थान तथा लचीलेपन के तौर पर देखना चाहिए। जाति एक लंबे समय तक राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति आदि क्षेत्रों में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक संरचनाओं के व्यवस्थित संचालन हेतु संस्थात्मक आधार निर्मित करती रहेगी।

श्रीनिवास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि *"मैं साफ तौर पर बताना चाहता हूँ कि यदि आप सोचते हैं कि जाति से सरलता से मुक्ति पाया जा सकता है तो यह एक गंभीर त्रुटि है। जाति एक बहुत ही शक्तिशाली संस्था है तथा यह समाप्त होने से पूर्व बहुत ही खून खराबा करेगी।"*

हम इस बात के लिए पूरी तरह से आश्वस्त हैं कि जाति एक ऐसी संस्था है जिसमें गतिशीलता का गुण पाया जाता है। इसी गुण की वजह से जाति व्यवस्था इतने परिवर्तन होने के बाद भी निरंतर बनी हुई है। यह समय के साथ साथ परिवर्तित होती रही है तथा स्वयं को परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित करती रही है। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के समाप्त होने के आसार नहीं है, फिलहाल तो बिलकुल नहीं।

3.2.9 सारांश

पूर्व की इकाई में प्रस्तुत की गई जाति व्यवस्था की सैद्धान्तिक प्रस्तुति के पश्चात इस इकाई में उसकी व्यवहारी तथा धरातलीय स्थिति के बारे में चर्चा प्रस्तुत की गई। क्या आज भी जाति व्यवस्था हमारे समाजों में पायी जाती है? अगर इसका अस्तित्व है तो इसके पीछे कौन से कारक कार्यरत हैं? इसमें कौन से परिवर्तन हुए हैं? परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी कारक कौन से हैं? क्या जाति व्यवस्था का अस्तित्व भविष्य के समाजों में भी रहेगा? यहां इन्हीं मूल प्रश्नों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया है।

3.2.10 बोध प्रश्न

1. जाति व्यवस्था की गतिशीलता पर एक निबंध लिखिए।
2. गतिशील जातीय संरचना के लिए आवश्यक कारकों का वर्णन कीजिए।
3. समकालीन समय में जाति प्रथा में कौन से परिवर्तन हुए हैं तथा उन परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी कारकों की विवेचना कीजिए।
4. भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के भविष्य को विश्लेषित कीजिए।

3.2.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. आहूजा, र. (1995). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
2. बेते, आ. (1969). *कास्ट ओल्ड एंड न्यू एसेज इन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन*. दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग हाउस.
3. श्रीनिवास, एम.एन. (1962). *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर एसेज*. बम्बई: मीडिया पब्लिशर्स.
4. श्रीनिवास, एम. एन. (1996). *कास्ट: इट्स 20th सेंचुरी अवतार*. हरियाणा: पेग्विन ग्रुप.
5. शर्मा, के. एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
6. हट्टन, जे.एच. (1961). *कास्ट इन इंडिया इट्स नेचर*. बंबई: फंक्शन एंड ओरिजिन ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

इकाई 3 अनुसूचित जाति, पिछड़ी जाति एवं अल्पसंख्यक समूह

इकाई की रूपरेखा

3.3.1 उद्देश्य
3.3.2 प्रस्तावना
3.3.3 अनुसूचित जाति: परिचय तथा परिभाषाएं
3.3.4 अनुसूचित जाति की निर्योग्यताएं
3.3.5 अनुसूचित जाति की समस्याएं
3.3.6 पिछड़ी जाति: परिचय
3.3.7 पिछड़ी जाति से संबंधित प्रमुख आयोग
3.3.8 अल्पसंख्यक: परिचय
3.3.9 भारत में अल्पसंख्यकों की प्रमुख श्रेणियां
3.3.10 सारांश
3.3.11 बोध प्रश्न
3.3.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.3.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

1. जाति व्यवस्था के अर्थ, ऐतिहासिक परिदृश्य और संरचना को समझ पाने में।

2. जाति व्यवस्था की विशेषताओं को जान पाने में।

3. जाति व्यवस्था के गुण-दोष आदि के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।

4. जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सिद्धांतों तथा संबंधित परिदृश्यों के बारे में ज्ञान अर्जित कर पाने में।

3.3.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता है कि यहां सांस्कृतिक विविधता पायी जाती है। यहां अनेक प्रकार के परंपराओं व विश्वासों आदि को मानने वाले समूह रहते हैं, जो अनेक मामलों में एक दूसरे से पृथक अस्तित्व रखते हैं। यहां अनेक प्रकार के धर्म, संप्रदाय, मत, पंथ, जाति, प्रजाति, भाषा, संस्कृति आदि सांस्कृतिक विविधता से संबंधित लोग निवास करते हैं और उनके समूह के अनुरूप उनकी जीवनशैली, व्यवहार, विश्वास, संस्कार आदि रहते हैं। भिन्नता से भरे होने के कारण इन समूहों में मतभेद होना स्वाभाविक है।

3.3.3 अनुसूचित जाति: परिचय तथा परिभाषाएं

प्रत्येक समाजों में समान्यतः दो प्रकार के वर्ग पाए जाते हैं, जिसमें एक सम्पन्न/शक्तिशाली वर्ग होता है, जिसे पूंजीपति, अभिजात अथवा उच्च वर्ग कहा जा सकता है तथा दूसरा संपत्तिहीन/गरीब वर्ग होता है, जिसे श्रमिक, कमजोर, पिछड़ा अथवा दलित वर्ग की संज्ञा दी जा सकती है। दलित वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो सदैव से ही उपेक्षित रहा है तथा सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से कमजोर तथा शोषित रहा है। हालांकि वर्तमान समय में इस दशा में कुछ सुधार हुआ है। मोटे रूप में, इस वर्ग के लक्षणों से मिलता जुलता जातीय समूह भातीय समाज में पाया जाता है तथा इसे हम अनुसूचित जातियों के रूप में समझ सकते हैं। अर्थात् ए शोषण तथा उपेक्षित की धारणा व दंश जन्म आधारित व्यवस्था में होना और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ियों तक हस्तांतरित होना, साथ ही सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप से कमजोर होना, जो जातियां पिछड़ी हुई थी उन्हें भारत सरकार ने चिन्हित करके एक अनुसूची में शामिल कर दिया है तथा यही कारण है कि इन जातीय समूहों को अनुसूचित जाति के नाम से जाना जाने लगा।

1935 में साइमन कमीशन द्वारा सर्वप्रथम 'अनुसूचित जाति' शब्द का प्रयोग किया गया था। इस शब्द को अस्पृश्य लोगों के लिए प्रयुक्त किया गया था। डॉ. भीमराव अंबेडकर का मानना था कि प्राचीन भारत में इन्हें 'भग्न पुरुष' अथवा 'बाह्य जाति' कहा जाता था। इसके पश्चात अँग्रेजी औपनिवेशिक काल में दलित वर्ग के रूप में संज्ञा प्रदान की गई। ऐसा इसलिए था क्योंकि इनकी सामाजिक आर्थिक अत्यंत निम्न थी तथा यही कारण है कि इसके पूर्व में प्रयोग किए गए वाले शब्द 'अछूत' के स्थान पर 'दलित' शब्द के प्रयोग को अधिक उपयुक्त माना गया। इस संबंध मैनार्य समाज की मान्यता अंग्रेजों से काफी मिलती जुलल्टी थी। उनका मानना था कि ए लोग अछूत न होकर दलित हैं क्योंकि समाज द्वारा इनके अधिकारों का हनन किया गया है तथा इन्हें दबाने तथा शोषित बनाने में समाज की पूरी भूमिका है। वे स्वयं अपनी निम्न दशा हेतु जिम्मेदार नहीं हैं, बल्कि समाज द्वारा उन्हें ए यातनाएं दी गई हैं। इसके बाद 1931 की जनगणना में उन्हें 'बाहरी जाति' के नाम से जाना गया। इस शब्द के पराग किए जाने के पीछे यह धारणा थी कि ए इन जातियों का भारतीय सामाजिक संरचना मेंकोई स्थान नहीं है, इन्हें बहिष्कृत समूह के रूप में अलग रखा गया है। महात्मा गांधी द्वारा 'हरिजन' शब्द के प्रयोग का सुझाव दिया गया।

1935 में इन जातीय समूहों को विशिष्ट सुविधाएं तथा अधिकार प्रदान करने की दृष्टि से सूचीबद्ध किया गया तथा इस सूचीबद्ध विधान में उन सभी अस्पृश्य जातियों को शामिल किया गया जो सामाजिक-आर्थिक हाशिए पर थी। इस सूची के ही कारण इन जातियों को वैधानिक आधार पर अनुसूचित जाति की संज्ञा दी जाती है। साथ ही इन्हीं अनुसूचित जातियों को दलित भी कहा जाता है। इन अनुसूचित जातियों में शामिल कुछ प्रमुख जातियां हैं – चमार, डोम, पासी, भंगी, चुहड़, कोरी, मोची, राजबंसी, पेरेया, धियान, दोसड, शानन आदि।

अनुसूचित जातियां वे जातियां होती हैं जिनको सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सुविधाएं तथा अधिकार दिलाने की दृष्टि से संविधान की अनुसूची में शामिल किया गया है। इन्हें अनुसूचित जातियों के अलावा, दलित, अछूत, अस्पृश्य, हरिजन तथा बाहरी जातियां भी कहा जाता है। सामान्यतः अनुसूचित जातियों को अस्पृश्य जातियां भी कहा जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है

क्योंकि इनकी परिभाषा अस्पृश्यता के आधार पर की गई है। अस्पृश्यता का सीधा संबंध पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा से है। हिंदू समाज में कुछ व्यवसायों तथा कार्यों को पवित्र की श्रेणी में रखा जाता है तथा कुछ ऐसे भी व्यवसाय और कार्य हैं जिन्हें अपवित्र माना जाता है। व्यवसाय तथा कार्यों के इतर मनुष्य व पशु-पक्षियों के शरीर से निकले हुए पदार्थों के लिए भी अपवित्रता की धारणा है। ऐसी दशा में जो जातियां इन पदार्थों से संबंधित कार्यों में संलग्न हैं, उन्हें भी अपवित्र की श्रेणी में रखा जाता है। इन अपवित्र जातियों को अस्पृश्य जातियों की संज्ञा प्रदान की गई है।

अस्पृश्यता समाज की एक ऐसी कुव्यवस्था है जिसमें अस्पृश्य जाति से संबंधित व्यक्ति किसी अन्य सवर्ण हिंदू जाति से संबंधित व्यक्ति को स्पर्श नहीं कर सकता। उन अस्पृश्य जातियों का स्पर्श तत्कालीन समय में पाप समझा जाता था। अस्पृश्य जाति के व्यक्ति का स्पर्श तथा छाया आदि से व्यक्ति के अपवित्र होने की बात की गई है। सवर्ण हिंदू जातियों को उन अस्पृश्य जातियों के स्पर्श अथवा छाया से बचाने के लिए अस्पृष्यों के रहने के लिए अलग से व्यवस्था की गई थी, उनपर अनेक प्रकार की निर्योग्यताएं थोप दी गईं तथा सह ही उनके स्पर्श से बचने हेतु भी अनेक उपाय तलाश लिए गए। अस्पृश्य जातियों के स्पर्श से अपवित्र होने के बाद सवर्ण हिंदुओं को शुद्ध होने के लिए कुछ संस्कार/अनुष्ठान करने पड़ते थे।

- **डॉ. डी.एन. मजूमदार** के अनुसार,

"अस्पृश्य जातियां वे जातियां हैं जो विभिन्न सामाजिक व राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, इनमें से बहुत सी निर्योग्यताएं उच्च जातियों द्वारा परंपरागत रूप से निर्धारित तथा सामाजिक रूप से लागू की गई हैं।"

- **डॉ. के.एन. शर्मा** के शब्दों में,

"अस्पृश्य जातियां वे जातियां हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाए तथा पुनः पवित्र होने के लिए उसे कुछ कृत्य करने पड़े।"

- **हट्टन** ने अस्पृश्य जातियों के निर्धारण हेतु कुछ निर्योग्यताओं के बारे में विवरण प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार वे लोग अस्पृश्य हैं जो
    - ❖ उच्च स्थिति के ब्राह्मणों की सेवाएं प्राप्त करने की दृष्टि से अयोग्य हों।
    - ❖ सवर्ण हिंदुओं की सेवा करने वाले नाइयों, कहारों तथा दर्जियों की सेवाएं प्राप्त करने की दृष्टि से अयोग्य हों।
    - ❖ हिंदू मंदिरों में प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों।
    - ❖ सार्वजनिक सुविधाओं (पाठशाला, सड़क तथा कुआं) ल उपयोग कर पाने में अयोग्य हों।
    - ❖ घृणित व्यवसाय से अलग होने के अयोग्य हों।

3.3.4 अनुसूचित जाति की निर्योग्यताएं

अनुसूचित जातियों के बारे में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात यहां उनकी निर्योग्यताओं के बारे में चर्चा प्रस्तुत की जाएगी। भारत में अनुसूचित जातियों की अनेक निर्योग्यताएं रही हैं। निर्योग्यता शब्द से आशय किसी वर्ग अथवा समूह को कुछ अधिकारों, सुविधाओं आदि को प्राप्त करने की दृष्टि से अयोग्य मान लेने से है। अनुसूचित जातियों के व्यक्तिगत विकास तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक विकास के मार्ग में ए निर्योग्यताएं बाधक रहती हैं। इन निर्योग्यताओं की वजह से अनुसूचित जातियां अनेक प्रकार के अवसरों व अधिकारों से वंचित रह जाती हैं। इन जातियों को दास जैसे जीवन जीने को मजबूर कर दिया जाता है तथा किसी प्रकार की सुख-सुविधाओं से इन्हें दूर रखा जाता है।

हालांकि वर्तमान समय में ए निर्योग्यताएं अत्यधिक मात्रा में समाप्त कर दी गई हैं। 20वीं शताब्दी में हुए अनेक सुधार आंदोलनों तथा स्वतरंत भारत में हुए संवैधानिक व सरकारी प्रावधानों की वजह से अनुसूचित जातियों की निर्योग्यताओं तथा वंचितता में काफी मात्रा में कमी आई है। बहरहाल स्मृतियों, धर्मग्रंथों आदि में बताई गई अस्पृश्य जातियों की प्रमुख निर्योग्यताएं अग्रलिखित हैं –

I. अस्पृश्यों की धार्मिक निर्योग्यताएं

अस्पृश्यों की धार्मिक निर्योग्यताओं को हम निम्न बिंदुओं में स्पष्ट कर सकते हैं –

- जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि अस्पृश्य जातियों को अपवित्र माना जाता है तथा इस वजह से इनको ईश्वर की भक्ति की स्वीकृति नहीं है। अस्पृश्य लोग मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते, पवित्र नदी-घाटों आदि का उपयोग करना वर्जित है, इसके अलावा पवित्र स्थानों पर जाने तथा देवी-देवताओं की पूजा करने के अधिकार नहीं दिए गए। साथ ही अस्पृश्यों को वेद, पुराण आदि के अध्ययन की आज्ञा भी नहीं दी गयी।
- इन्हें सभी प्रकार के धार्मिक कार्यों व सुविधाओं से वंचित रखा गया। अस्पृश्यों को पूजा, आराधना, अर्चना, कीर्तन, भजन आदि से प्रकार के धार्मिक अधिकारों से विमुक्त रखा गया। इसके अलावा उनके यहां ब्राह्मण भी पूजा-पाठ नहीं कर सकते, उन्हें भी अस्पृश्यों के यहां श्राद्ध, यज्ञ आदि करने की अनुमति नहीं प्रदान की गई।
- अस्पृश्यों की अपवित्रता जन्म से ही मानी जाने के कारण इनके शुद्धिकरण हेतु कृत्यों अथवा अनुष्ठान आदि का प्रबंध नहीं किया गया, जिससे कि ए पवित्रता की श्रेणी में आ सकें तथा धार्मिक कार्यकलापों में शामिल हो सकें। हिंदुओं के शुद्धिकरण से संबंधित कुल सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई है तथा उन सभी संस्कारों की पूर्ति हेतु समय भी निर्धारित किए गए हैं। परंतु इन सोलह संस्कारों में से अधिकांशतः संस्कारों को अस्पृश्यों के लिए वर्जित किया गया है।

m. अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताएं

इन जातियों के लिए अनेक प्रकार की सामाजिक निर्योग्यताएं निर्धारित की गई हैं, प्रमुख इस प्रकार हैं –

- अस्पृश्यों को सवर्ण हिंदुओं के साथ सामाजिक संपर्क, उनके पंचायत, सम्मेलन, उत्सवों आदि में सहभागिता के अधिकार नहीं दिए गए। साथ ही सवर्ण हिंदू जातियों के साथ खान-पान संबंधी प्रतिबंध भी अस्पृश्य जातियों के साथ लागू किए गए।
- अस्पृश्य जातियों को उन कुओं से पनि भरने की अनुमति नहीं दी गई, जिनमें से सवर्ण हिंदू जातियां पानी भरती थीं। पाठशाला जाने तथा छात्रावासों में रहने आदि की अनुमति भी नहीं प्रदान की गई। सवर्ण हिंदुओं द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं का प्रयोग करना भी इन अस्पृश्य जातियों के लिए निषिद्ध था, जैसे – पीतल, तांबे आदि के बर्तनों का उपयोग तथा अच्छे वस्त्र व सोने के आभूषणों को पहनने पर प्रतिबंध आदि।
- अस्पृश्यों को शिक्षा प्राप्त करने की स्वीकृति नहीं दी गई। इन जातियों को मेले, चौपालों आदि में शामिल होकर मनोरंजन आदि करने के अधिकार नहीं प्रदान किए गए। इन निर्योग्यताओं ने अस्पृश्योंजाति को सामाजिक व शैक्षणिक आधार पर काफी पीछे धकेल दिया तथा ए जातियां निरक्षर ही रह गई।
- अस्पृश्यों तथा सवर्ण जातियों में संस्तरण तो पाया ही जाता है, साथ ही साथ अस्पृश्य जातियों में भी संस्तरण व्यवस्था देखने को मिलती है। ए जातियां 300 से अधिक जातीय समूहों में वर्गीकृत हैं तथा प्रत्येक जाति किसी न किसी जाति से उच्च प्रस्थिति पर है अथवा किसी न किसी जाति से निम्न प्रस्थिति पर।

n. अस्पृश्यों की आर्थिक निर्योग्यताएं

अस्पृश्यों की प्रमुख आर्थिक निर्योग्यताएं निम्नलिखित हैं –

- अस्पृश्यों द्वारा वे सभी कार्य किए जाते थे जो कि स्वर्ण हिंदू जातियां नहीं करती थीं। आर्थिक निर्योग्यताओं की वजह से अस्पृश्य जातियों की आर्थिक दशा इतनी निम्न हो गयी कि वे विवश होकर सवर्ण हिंदुओं के जूठे भोजन, उच्च जातियों द्वारा छोड़े गए फटे-पुराने वस्त्र, अन्य त्यागी गयी वस्तुओं का प्रयोग करना पड़ा। अस्पृश्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों में मैला ढोना, सफाई करना, मृत पशुओं को उठाना, चमड़े का कार्य करना आदि निर्धारित थे। ए लोग गावों में ज़्यादातर भूमिहीन श्रमिक के तौर पर कार्य करने को विवश थे।
- अस्पृश्य जातियों के साथ संपत्ति संबंधी निर्योग्यतायें भी थीं। इन्हें भूमि पर आधिपत्य तथा संपत्ति संग्रहण के अधिकार नहीं दिए गए। अस्पृश्यों को दसों कि तरह से सवर्ण जातियों अथवा संबंधित सवर्ण व्यक्ति की सेवा करनी पड़ती थी, चाहे इसके लिए परिश्रमिक कितना ही कम क्यूँ न हो।

- अस्पृश्यों के लिए आर्थिक निर्योग्यताएं इस कदर थीं कि उन्हें घृणित कार्यों को करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उनके द्वारा दी जाने वाले महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के एवज में उन्हें भरपेट भोजन प्राप्त कर सकने योग्य भी परिश्रमिक नहीं मिल पता था। वे जूठे भोजन, त्यागे हुए फटे-पुराने कपड़े पहनने हेतु विवश थे।

o. अस्पृश्यों की राजनीतिक निर्योग्यताएं

अस्पृश्यों को किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार नहीं प्रदान किए गए। शासन कार्यों में उनको किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने, सुझाव देने, सार्वजनिक क्षेत्रों में नौकरी आदि करने से संबंधित किसी प्रकार के अधिकार नहीं दिए गए। इतना ही नहीं उन्हें सामान्य अपराध पर भी कठोर दंड दिए जाने का प्रावधान निर्धारित था।

3.3.5 अनुसूचित जाति की समस्याएं

अनुसूचित जातियों से पशु रूप में बेगार कराया जाता था तथा इन्हें किसी प्रकार की सुख-सुविधाएं नहीं दी गई। वैधानिक तौर पर तो अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, 1955 के तहत अस्पृश्यता को समाप्त तो कर दिया गया है। परंतु उनके समक्ष आने वाली समस्याओं को यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है –

1. धार्मिक समस्याएं

अनुसूचित जातियों को धर्म से संबंधित किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। पूजा स्थल पर जाना, मंदिर में प्रवेश तथा ईश्वर के नजदीक से दर्शन आदि उनके लिए प्रतिबंधित किए गए थे। वे मंदिर परिसर से काफी दूर हटकर खड़े होते थे। अस्पृश्य जातियों को धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने तथा सुनने आदि निषिद्ध थे। वे धर्म संबंधी अनुष्ठान व अन्य क्रियाकलाप नहीं कर सकते थे। हालांकि इस भेदभाव को लेकर अनेक आंदोलन हुए। भक्त आंदोलन तथा पुनर्जागरण आंदोलनों ने इस सुधार हेतु अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए।

हालांकि अब ए दशाएं बदल चुकी हैं। अब ए जातियों मंदिरों, पूजा-स्थलों आदि पर जा सकती हैं।

2. सामाजिक समस्याएं

भारतीय समाज अनेक रूढ़ियों और परंपराओं से बंधा व निर्मित है। इस समाज में शैक्षिक व्यवस्था सदैव से ही परंपरागत आधार पर आश्रित रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा पर केवल सवर्ण हिंदू जातियों का अधिकार रहा तथा अस्पृश्य जातियों को शिक्षा से वंचित रखा गया। इससे हुआ यह कि अस्पृश्य जातियां शैक्षिक रूप से कमजोर होती चली गई। इसके पीछे सवर्ण हिंदू जातियों का यह तर्क था कि यदि ए अस्पृश्य जातियों शैक्षिक रूप से सशक्त हो गईं तो उन जातियों में जागरूकता आ जाएगी। उनकी जागृति के पश्चात उन्हें गुलाम बनाए रखना दुष्कर हो जाएगा।

अस्पृश्य जातियां समूहिक रूप से हो रहे आयोजनो तथा समारोह आदि में शामिल नहीं हो सकते थे और इसी की वजह से वे अपने ही घरों में लोकोक्तियों, गीत आदि के माध्यम से मनोरंजन किया करते थे। इन जातियों को सामाजिक रूप से सवर्ण हिंदू जातियों द्वारा बहिष्कृत किया गया था तथा उनके निवास स्थान प्रायः गावों से काफी दूर हुआ करते थे। ए झोपड़ियों अथवा कच्चे मकानों में रहते थे तथा किसी तरह से जीवन बसर करते थे। जिन स्थानों पर इनके निवास स्थान रहते थे, उन्हें किसी नाम विशेष के साथ जाना जाता था, जैसे – डोम की बस्ती अथवा पासियों का मुहल्ला आदि। ए जातियां संस्तरण व्यवस्था में सबसे निम्न पायदान पर रहती हैं तथा इन जातियों में भी विभिन्न प्रकार के संस्तरण पाए जाते है, जैसे – मेहतर जाति में लाल वेगि मेहतर का कार्य मारे हुए जानवरों को उठाना है तथा इस कारण अन्य मेहतर जाति के लोग उसके घर भोजन-पानी नहीं करते।

3. शैक्षणिक समस्याएं

अनुसूचित जातियों को आरंभ से ही सामाजिक व्यवस्था में अत्यंत निम्न स्तर प्राप्त था। उनकी शिक्षा हेतु कोई प्रयास नहीं किया गया तथा ना ही उन्हें किसी प्रकार के शैक्षिक अधिकार प्रदान किए गए। शिक्षा की परंपरागत व्यवस्था होने के कारण सवर्ण हिंदुओं ने उन्हें कभी भी शिक्षा की ओर उन्मुख होने के अवसर ही नहीं प्रदान किए। इसका परिणाम यह हुआ कि वे सभी निरक्षर ही रह गए तथा अपने अधिकारों व अभिव्यक्तियों को कभी समाज के समक्ष प्रस्तुत ही नहीं कर पाए। शिक्षा से अवगत न हो पाने के कारण ए जातियां अपेक्षाकृत अधिक अंधविश्वासी तथा रूढ़िवादी बन कर रह गई।

हालांकि स्वतंत्र भारत में उनको शिक्षा के अनेक अवसर प्रदान किए गए तथा वे उन अवसरों को सही तरीके से उपयोग में भी ला रहे हैं। परंतु बड़े-बुजुर्ग तथा माता-पिता के अशिक्षित होने के कारण कुछ समस्याएं अभी भी बनी हुई हैं। इसके अलावा निर्धनता के कारण वे आज भी अपने बच्चों को आवश्यक शिक्षा दिला पाने में अक्षम हैं। पूर्व में भूमिहीन श्रमिक रहने कि वजह से संपत्ति तथा धन के कमी की समस्या सदैव इनके सामने बनी रहती है। यही कारण है कि आज आर्थिक तंगी की वजह से भी ए अपने बच्चों को शिक्षा के जगह पर अन्य आर्थिक गतिविधियों में संलिप्त करना अधिक उचित समझते हैं।

4. आर्थिक समस्याएं

अनिसिच्त जातियों की आर्थिक स्थिति सदैव से ही अत्यंत निम्न रही है, उनका जीवन किसी दास/गुलाम से बेहतर नहीं था। स्वतंत्र भारत में निःसन्देह इनकी स्थिति में सुधार अवश्य हुआ है परंतु ए सुधार अभी उस स्तर तक नहीं हो पाए हैं कि यह कहा जा सके कि अनुसूचित जातियों की आर्थिक दशा सुदृढ़ हो चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी ए कृषि श्रमिक के रूप में ही भूस्वामियों के लिए कार्य करते हैं, इनके पास कृषि योग्य भूमि नहीं है, अगर है भी तो केवल नाम मात्र की। इन आधारों पर परिवार की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा कर पाना मुश्किल रहता है। प्राचीन काल में ए परंपरागत व्यवसायों को करने के लिए विवश थे, परंतु आज ए किसी व्यवसाय के चयन हेतु स्वतत्र हैं। अस्पृश्यता का उन्मूलन हो चुका है तथा ए कहीं भी कभी भी

आ जा सकते हैं। हालांकि व्यावहारिक तौर पर कुछ स्थानों पर अभी भी अनुसूचित जातियों को इन समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

5. राजनीतिक समस्याएं

इन जातियों को किसी भी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, इनका कार्य केवल सवर्ण हिंदू जातियों की सेवा करना था। राजा, सामंत, जमींदार आदि इनका अमानवीय ढंग से शोषण करते थे तथा शक्ति व चेतनविहीन होने के कारण ए अपने अधिकारों के लिए कभी कुछ कह भी नहीं पाए। वर्तमान समय में इनकी राजनीतिक सहभागीता को भी सुनिश्चित किया गया है।

3.3.6 पिछड़ी जाति: परिचय

पिछड़ी जातियां में वे जातियां सम्मिलित की गई हैं जो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप से कमजोर होती हैं। ए जातियां तथाकथिक जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों व क्षत्रियों के बाद आती हैं तथा अस्पृश्य जातियों से उच्च मानी जाती हैं। भारतीय संविधान में अनेक प्रावधानों द्वारा अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए विभिन्न सुधारात्मक कदम उठाए गए। उनके सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक कल्याण हेतु अनेक कार्य किए गए, उनके लिए आरक्षण व्यवस्था का प्रावधान किया गया, जबकि अन्य पिछड़ी जातियों के लिए शिक्षा तथा रोजगार से जुड़े कदम उठाए गए। हालांकि बाद में पिछड़ी जातियों के लिए भी आरक्षण की व्यवस्था कर दी गई। पिछड़ी जातियों के लिए स्पष्ट परिभाषा का प्रायः अभाव पाया जाता है तथा ज्यादतर स्थानों पर इनकी व्याख्या पिछड़े वर्ग के रूप में करने का प्रयास किया गया है।

सुभाष कश्यप तथा विश्व प्रकाश गुप्ता द्वारा लिखित राजनीतिक कोश में पिछड़े वर्गों को इस प्रकार से परिभाषित किया गया है,

"पिछड़े हुए वर्गों का आशय समाज के उस वर्ग से है जो सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक निर्योग्यताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षाकृत नीचे के स्तर पर काबिज हो। यद्यपि संविधान में इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है, परंतु इसकी स्पष्ट परिभाषा कहीं भी नहीं दी गई है"।

जाति के संदर्भ में पिछड़े वर्ग माध्यम तथा व्यवसायी (स्वच्छ) जातियां हैं। आंद्रे बेते पिछड़े वर्गों के सार के रूप में कृषक वर्ग की व्याख्या की है। यह निश्चित ही जाति व्यवस्था की उच्च जातियों से शिक्षा, व्यवसाय तथा सरकारी नौकरियों में पिछड़े हुए लोगों का वर्ग है।

उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा सन् 1948 में अन्य पिछड़े वर्गों की शैक्षणिक सुविधाओं को सुदृढ़ करने के लिहाज से कुछ घोषणाएं की गईं तथा इनमें राज्य की कुल 56 जातियों को शामिल किया गया। इनकी संख्या राज्य की कुल जनसंख्या का 65 प्रतिशत भाग थी। 1954 तक देश के 15 राज्यों में पिछड़े वर्गों के अनेक संगठन स्थापित हो गए तथा उनकी संख्या 88 के आस-पास तक पहुँच चुकी थी। पहली बार भारतीय स्तर पर 1950 में 'अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग महासंघ' गठित हुआ। विभिन्न राज्यों द्वारा पिछड़े वर्गों की सूचियां बनायी गयी। कर्नाटक राज्य सरकार द्वारा बनायी गयी सूची में ईसाई, मुसलमान, जैन आड़ सभी गैर-ब्रहम जातियों को इस वर्ग के अंतर्गत शामिल किया गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र और

तमिलनाडू में भी ब्रहम जातियों को छोड़कर सभी को पिछड़े वर्ग की अनुसूची में शामिल किया गया। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग द्वारा 1948-49 में पिछड़े वर्ग के छात्रों को उनके अनुपात के अनुरूप विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में आरक्षण देने की बात को तवज्जो दिया।

जातियों के निर्धारण जैसे ही पिछड़ी जातियों का निर्धारण भी जन्म के आधार पर ही होता है। सरकार द्वारा जातियों को पिछड़ी घोषित कर देने के कारण सैद्धान्तिक रूप से इसमें शिक्षा तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध लोग भी शामिल हो सकते हैं। इस प्रकार से इन लोगों को सरकारी प्रावधानों के तहत कुछ अन्य लाभ व सुविधाएं स्वतः ही प्राप्त होंगी। तथा कई बार ऐसा भी होता है कि जरूरतमंद को इन सुविधाओं से वंचित रहना पड़ जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पिछड़ी जाति अथवा वर्ग की अवधारणा एक बृहत तथा जटिल समूह की अवधारणा है।

स्पष्ट तौर पर यह कहा जा सकता है कि पिछड़ी जातियों में वे लोग आते हैं जो ब्राह्मण से निम्न तथा अस्पृष्यों से उच्च प्रस्थिति वाले होते हैं अर्थात् ए इन माध्यम श्रेणी की जातियां होती हैं। इसके तहत वे सभी लोग आते हैं जो शिक्षा, व्यवसाय, व्यापार आदि क्षेत्रों में उच्च जातियों से पीछे रहते हैं। समान्यतः इनके पास भूमि का छोटा सा हिस्सा होता है तथा ए अपनी भूमि पर कृषि करते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि इनके जीवनयापन का प्रमुख आधार कृषि कार्य होते हैं। पिछड़े होने के बाद भी इनमें सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आधार पर कई खंडित समूह पाए जाते हैं।

भारतीय संविधान की धारा 340 में राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह एक आयोग की नियुक्ति करेगा, जो देश के विभिन्न भागों में रहने वाले पिछड़ी जातियों की स्थिति के बारे में विवरण प्रस्तुत करेंगे। धारा 15(4) तथा 16 के तहत राज्य सरकारों को भी एक ऐसे ही आयोग के गठन का अधिकार दिया गया है, जो इन जातियों की सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा संबंधी समस्याओं का जायजा ले सकें तथा विवरण प्रस्तुत कर सकें। इन आयोगों द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के आधार पर ही इन जातियों से संबंधित सुविधाओं तथा संवैधानिक प्रयासों को संशोधित तथा क्रियान्वित किया जाएगा।

3.3.7 पिछड़ी जाति से संबंधित प्रमुख आयोग

पिछड़ी जाति से संबंधित कुछ प्रमुख आयोगों के बारे में संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है –

- **काका कालेलकर आयोग**

  29 जनवरी 1953 को राष्ट्रपति ने काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक आयोग को गठित किया। सामाजिक तथा शैक्षणिक तौर पर पिछड़ी जातियों/वर्गों के बारे में जानकारी प्राप्त करना तथा उन्हें सूचीबद्ध करना इस आयोग का प्रमुख उद्देश्य था। यह आयोग काका कालेलकर की अध्यक्षता में गठित होने के कारण काका कालेलकर आयोग के नाम से विख्यात हुआ। यह आयोग अखिल भारतीय स्तर का प्रथम पिछड़ा वर्ग आयोग है। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. आयोग कुछ ऐसी कसौटियों को निर्धारित करे, जिनके आधार पर सामाजिक व शैक्षणिक रूप से पिछड़े समूहों को चिन्हित किया जा सके।
2. पिछड़ी जातियों/वर्गों की एक सूची तैयार करे।
3. पिछड़े समूहों की कठिनाइयों तथा विभिन्न अवस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करे।
4. पिछड़ी जातियों की समस्याओं को दूर करने तथा उनके कल्याण हेतु आवश्यक प्रावधानों की तलाश करना और उनसे सरकारों को अवगत कराना।
5. पिछड़ी जातियों के लिए सहायतापरक कदम किस प्रकार उठाए जाएं।
6. इस आयोग के गठीत होने के लगभग दो वर्षों के उपरांत इसने अपना प्रतिवेदन केंद्र सरकार को प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन के अनुसार देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या को पिछड़ी जातियों में शामिल किया गया। आयोग ने इन जातियों के सामाजिक व आर्थिक कल्याण हेतु अनेक सुझाव भी प्रस्तावित किए। इसके अलावा इस आयोग ने 'पिछड़ेपन' को परिभाषित करने हेतु निम्न कसौटियों को निर्धारित किया –

a. जातीय संस्तरण में निम्न सामाजिक प्रस्थिति
b. शैक्षणिक प्रगति में अभावग्रस्तता
c. राजकीय सेवाओं के प्रतिनिधित्व में अपर्याप्तता
d. व्यापार व उद्योग क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व में अपर्याप्तता

आयोग ने पिछड़े वर्गों के निर्धारण में जातीय आधारों को महत्व दिया तथा सुझाव प्रस्तुत किया कि प्रथम श्रेणी की सेवाओं में 25 प्रतिशत, द्वितीय श्रेणी की सेवाओं में 33.5 प्रतिशत तथा त्रित्या व चतुर्थ प्रकार की सेवाओं में 40 प्रतिशत स्थान पिछड़े समूह के लोगों के लिए आरक्षित किए जाने चाहिए। साथ ही मेडिकल, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में 70 प्रतिशत स्थान पिछड़ी जातियों के लिए सुरक्षित किए जाएं। इसके अलावा आयोग ने एक मंत्रालय बनाने का भी सुझाव दिया, जो पिछड़ी जातियों के कल्याणार्थ कार्य करे।

- **मण्डल आयोग**

जनता दल ने 1977 में लोकसभा के चुनावों के दौरान अपने घोषणा-पत्र में पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी तथा शैक्षणिक सेवाओं में 25 प्रतिशत के स्थान पर 33 प्रतिशत स्था को आरक्षित करने की बात की थी। अतः सत्ता में आने के पश्चात जनता दल की सरकार ने बी.पी. मण्डल की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया, जो पिछड़े वर्गों के लिए निम्न कार्य कर सके –

i. सामाजिक तथा शैक्षणिक तौर पर पिछड़े वर्गों को परिभाषित हेतु कुछ कसौटियों को निर्धारित करना।
ii. पिछड़े वर्गों के कल्याण हेतु किस प्रकार के कदम उठाएं जाएं, इससे संबंधित सुझाव प्रस्तुत करना।

iii. जिन क्षेत्रों (केंद्र, राज्य तथा केंद्र शासित प्रदेशों) में पिछड़े वर्ग से संबंधित लोगोंका प्रतिनिधित्व पर्याप्त रूप में नहीं है, उन क्षेत्रों में आरक्षण से जुड़ी सुविधाओं की संभावनाओं को तलाशना।

iv. संकलित किए गए तथ्यों के आधार पर प्रतिवेदन व सुझाव प्रस्तुत करना।

आयोग ने 30 अप्रैल 1982 को प्रतिवेदन भारत सरकार को प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में आयोग ने सरकारी तथा गैर-सरकारी नौकरियों में पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने की बात कही। साथ ही सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठानों, बैंकों, सरकारी सहायता प्राप्त निजी प्रतिष्ठानों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में भी पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान करने की बात कही तथा सरकार से इन सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन हेतु कानूनी प्रावधानों को लाए जाने की भी सिफ़ारिश की। आयोग द्वारा पिछड़ी जातियों में 3743 जातियों को शामिल किया गया तथा बताया गया कि कुल जनसंख्या में इनकी आबादी 50 प्रतिशत है। आयोग ने सभी स्तरों पर पदोन्नति हेतु भी 27 प्रतिशत स्थान को आरक्षित रखने का सुझाव दिया तथा कहा कि आरक्षण के कोटे को तीन वर्ष की अवधि तक अग्रेषित कर दिया जाय और उसके बाद ही स्थान न भरने की दशा में आरक्षण कोटे से हटाया जाय। इसके अलावा आयोग ने अनुसूचित जाति तथा जनजाति की ही भांति पिछड़ी जातियों के लिए आयु सीमा की छूट देने तथा उनकी भी एक सूची बनाने का सुझाव प्रस्तुत किया।

इसके अलावा विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पिछड़ी जातियों से संबंधित विभिन्न आयोगों की स्थापना की गई है, जिनमें से प्रमुख निम्न हैं –

नेट्टूर आयोग

केरल सरकार द्वारा पी.डी. नेट्टूर की अध्यक्षता में एक आयोग को गठित किया। इस आयोग ने 1970 में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा इसके अनुसार शैक्षणिक उपलब्धियों, आर्थिक स्थिति, सरकारी सेवाओं में सहभागिता को सामाजिक पिछड़ेपन के निर्धारक कसौटियों के रूप में चिन्हित किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में केरल में 25 प्रतिशत स्थान पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षित किए गए हैं।

हवानूर पिछड़ा वर्ग आयोग

कर्नाटक सरकार द्वारा 1972 में एल.जे. हवानूर की अध्यक्षता में पिछड़ा वर्ग आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने एक बृहत सर्वेक्षण के पश्चात पिछड़ी जातियों तथा समुदायों की एक सूची बनाई तथा इनके लिए 32 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था करने की बात कही। सरकार द्वारा कुछ अन्य जातियों को इस सूची में शामिल किया गया तथा आरक्षण के स्थान को 32 प्रतिशत के स्थान पर 40 प्रतिशत कर लागू किया।

मुंगेरी लाल आयोग

बिहार सरकार द्वारा मुंगेरी लाल आयोग की स्थापना किया गया। 1978 में इस आयोग द्वारा की गई सिफ़ारिश के अनुसार बिहार सरकार द्वारा 128 जातियों को पिछड़ी जातियों मेंशामिल कर दिया गया।

आस आयोग के सुझावों के आधार पर ही सरकारी सेवाओं में पिछड़ी जातियों के तौर पर चिन्हित की गई जातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई।

महाराष्ट्र में 14 प्रतिशत, तमिलनाडू में 50 प्रतिशत स्थान पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों में आरक्षित किए गए हैं। उत्तर प्रदेश में पिछड़ी जातियों तथा समुदायों के लिए 15 प्रतिशत स्थान आरक्षित रखे जाने का प्रावधान किया गया है।

3.4.7 अल्पसंख्यक: परिचय

अनेक सांस्कृतिक विविधताओं से भरे भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के समूह देखने को मिलते हैं। भारत एक हिंदू प्रधान देश है तथा यहां हिंदू धर्म को मानने वाले लोगों कि संख्या बहुतायत रूप में हैं, अतः भारतीय संदर्भ में हिंदुओं को बहुसंख्यक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जबकि मुसलमान, जैन, बौद्ध, पारसी, सिक्ख, जनजातियां तथा अन्य धर्मावलंबी समूहों को उनकी न्यून संख्या के कारण अल्पसंख्यक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार भारत में हिन्दी भाषा को बोलने वाले लोगों की अधिकता पायी जाती है अतः हिन्दी भाषी समूहों को बहुसंख्यक तथा अन्य भाषाओं (कश्मीरी, आसामी, मराठी, गुजराती, तमिल, उड़िया, राजस्थानी, बिहारी, मैथिली, भोजपुरी, बंगाली आदि) को बोलने वाले लोगों को अल्पसंख्यक कहा जा सकता है।

सामान्यतः अल्पसंख्यक एक ऐसा समूह है जो धर्म, भाषा तथा जाति की दृष्टि से बहुसंख्यक समुदाय से पृथक अस्तित्व में हो तथा इसकी संख्या भी कम हो। सर्वोच्च न्यायालय ने 1957 में केरल केरल के शिक्षक विधेयक के संदर्भ में अल्पसंख्यक समूह को परिभाषित किया है। इसके अनुसार अल्पसंख्यक समूह वह है, जिसकी संख्या राज्य में 50 प्रतिशत से कम हो। अर्थात् किसी भी समूह को अल्पसंख्यक की श्रेणी में रखा जाय अथवा नहीं यह पूर्ण रूप से राज्य की संपूर्ण जनसंख्या पर निर्भर करता है। अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग भारतीय संविधान में किया गया है परंतु कहीं भी इसकी परिभाषा स्पष्ट तौर पर नहीं दी गई है। भारत में मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी आदि धर्मावलंबियों एवं जनजातीय समूहों को अल्पसंख्यक माना जाता है। भाषायी दृष्टि से भारत में हिंदी भाषियों के इतर सभी भाषायी समूहों को अल्पसंख्यक समझा जाता है।

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं यह देश, प्रांत आदि के आधार पर उनकी संख्या के अनुरूप निर्धारित होगी। सरल शब्दों में अल्पसंख्यकों को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। किसी भी समाज की जनसंख्या में जिन लोगों का प्रतिनिधित्व कम रहता है, उन लोगों को ही अल्पसंख्यक कहा जाता है।

3.3.8 भारत में अल्पसंख्यकों की प्रमुख श्रेणियां

भारतीय संदर्भ में अल्पसंख्यकों को मूल रूप से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

- **धार्मिक अल्पसंख्यक**

भारत में अनेक धर्मों को मनाने वाले लोग रहते हैं तथा इनमें हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि धर्मों को मानने वाले लोग प्रमुख हैं। हिंदू धर्म बहुसंख्यक समूह से संबंधित है जबकि शेष सभी धर्म अल्पसंख्यक समूह के अंतर्गत आते हैं। 1981 से 2011 तक की जनगणना के अनुसार भारत में रहने वाले विभिन्न धर्मावलंबियों की संख्या तथा अनुपात को हम निम्न तालिका के माध्यम से आसानी से समझ सकते हैं –

वर्ष	**1981**		**1991**		**2001**		**2011**	
धर्म	जनसंख्या (करोड़ में)	प्रतिशत	जनसंख्या (करोड़ में)	प्रतिशत	जनसंख्या (करोड़ में)	प्रतिशत	जनसंख्या (करोड़ में)	प्रतिशत
हिंदू	54.97	82.6	67.26	82.41	82.75	80.5	96.62	79.80
मुस्लिम	7.56	11.4	9.52	11.67	13.81	13.4	17.22	14.23
ईसाई	1.62	2.4	1.89	2.32	2.4	2.3	2.78	2.30
सिक्ख	1.31	2.0	1.63	1.99	1.92	1.3	2.08	1.72
बौद्ध	0.47	0.7	0.63	0.77	0.74	0.8	0.84	0.70
जैन	0.32	0.5	0.34	0.41	0.43	0.4	0.45	0.37
अन्य (पारसियों सहित)	0.28	0.4	0.35	0.43	0.66	0.6	0.79	0.66

भारत के अल्पसंख्यकों में सर्वाधिक संख्या मुसलमानों की है। एक लंबे समय तक भारत पर मुसलमान शासकों का आधिपत्य रहा है तथा तत्कालीन समय में मुसलमानों के हितों तथा संरक्षण संबंधित समस्याएं नहीं थी। ए परेशानियां ब्रिटिश काल की शासन नीति 'फूट डालो और राज करो' के कारण उत्पन्न हुई। इस नीति ने हिंदुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के विरुद्ध लाकर खड़ा कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि आज भारत और पाकिस्तान के रूप में दो राष्ट्र बन गए। हालांकि पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात भी मुसलमानों की एक बड़ी संख्या भारत में ही रह गयी। इसके पश्चात स्वतंत्र भारत में जब बहुमत के आधार पर जनप्रतिनिधियों को चयनित किया गया तो यह मुसलमानों के भय का कारण बना। यह भय मुसलमानों के हितो की रक्षा और सुरक्षा को लेकर पैदा हुआ। हालांकि स्वतंत्र भारत में मुसलमानों को समानता, स्वतन्त्रता, न्याय आदि की प्राप्ति के समान ही अधिकार दिए गए।

मुसलमानों की प्रमुख समस्याएं तथा शिकायतें निम्न हैं –

- विधानमंडलों तथा प्रशासन के प्रतिनिधित्व से असंतुष्टि
- सांप्रदायिक दंगे

- उर्दू भाषा की अस्मिता का प्रश्न
- मुस्लिम पासनाल लॉ के संदर्भ में हस्तक्षेप

भारतीय संदर्भ में धार्मिक अल्पसंख्यकों में मुसलमानों के बाद ईसाइयों का स्थान आता है। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान ईसाइयों ने भारत पर राज किया। भारत में रहने वाले अधिकांश यहीं ने निवासी हैं तथा ईसाई मिशनरियों के प्रभाव से धर्म परिवर्तन के बाद उन्होने ईसाइयत को अपना लिया। ईसाइयों की संख्या केरल और भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में अधिक है। इंका कोई पृथक राजनीतिक दल नहीं होता है तथा ए अपने को राजनैतिक कार्यों में व्यस्त रखने की अपेक्षा सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक कार्यों में लगाए रखना ज्यादा पसंद करते हैं। ईसाइयत की ओर लोगों को आकर्षित करने तथा धर्म परिवर्तन के एजेंडे के कारण हिंदुओं द्वारा उनको संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। उन्हें विघटनकारी तत्व समझा जाता है। हिंदुओं को अपने धर्म से विमुख करने के लिए करोड़ों रुपए प्रतिवर्ष विदेशों से आने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मणिपुर, मेघालय, असम, नागालैंड आदि क्षेत्रों में ईसाइयों की संख्या में इजाफा होने लगा।

ईसाइयों के प्रति संदेह का एक कारण यह भी रहा है कि जिन जनजातियों ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया है इससे पृथकतावादी आंदोलन पैदा हुआ है तथा इसके अलावा अन्य हिंदुओं आदि के परिवर्तित होने का डर भी बना हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि ईसाइयों की वजह से भारतियों में एकीकरण की समस्या पैदा हुई है।

धार्मिक तौर पर अल्पसंख्यक के रूप में सिक्ख तीसरे स्थान पर आते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात सिक्खों ने अकाली दल द्वारा किए गए आंदोलन के माध्यम से एक अलग पंजाबी क्षेत्र की मांग की। इसके बाद 1967 में पंजाब को हरियाणा तथा पंजाब के रूप में विभाजित कर दिया गया। इस नवगठित पंजाब में सिक्खों की संख्या 61 प्रतिशत थी। सिक्खों का प्रतिनिधित्व केन्द्रीय मंत्रिमंडल, संसद तथा विधानसभा में पर्याप्त है। हालांकि इसके बावजूद अकाली दल ने पृथक खालिस्तान राज्य की मांग की तथा कहा है कि यदि ऐसा नहीं हुआ तो वे जनआंदोलन का सहारा लेंगे।

इन तीनों अल्पसंख्यकों के अलावा बौद्ध, जैन, पारसी अन्य अल्पसंख्यक समुदाय हैं, किन्तु इन समुदायों ने अपेक्षाकृत राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र के लिए किसी गंभीर समस्या को पैदा नहीं किया है।

- **भाषायी अल्पसंख्यक**

धार्मिक अल्पसंख्यकों की तुलना में भाषायी आप्लसंख्यक भिन्न होते हैं। इसमें विविधता तथा जटिलता भी काफी पायी जाती है। बंगाली भाषा बोलने वाले हिंदू और मुसलमान दोनों मिलेंगे। संविधान के अनुच्छेद 29 तथा 30 में भाषायी अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने की बात कही गयी है। भारतीय संविधान में कुल 22 भाषाओं को मान्यता प्रदान किया गया है तथा इनमें से हिन्दी भाषा बोलने वालों की संख्या भारत में सबसे अधिक है। 1991 तथा 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में बोली जा रही प्रमुख भाषाओं की प्रतिशत सूची इस प्रकार से है –

भाषा	1991 (प्रतिशत में)	2001 (प्रतिशत में)
हिन्दी	39.29	41.1
बंगाली	8.30	8.11
तेलगु	7.87	7.19
मराठी	7.45	6.99
तमिल	6.32	5.91
उर्दू	5.18	5.01
गुजराती	4.85	4.48
कन्नड़	3.91	3.69
मलयालम	3.62	3.21
ओडिया	3.35	3.21
पंजाबी	2.79	2.83
असमी	1.56	1.28

शेष बोली जाने वाली भाषाओं का प्रतिशत एक से कम है। किसी भी भाषा के अनुयायी को उस भाषा, लिपि तथा संस्कृति को संरक्षित करने का पूर्ण अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 347 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा किसी राज्य के आनुपातिक तौर पर अधिक क्षेत्र द्वारा बोली जाने वाली भाषा को उस राज्य को सरकारी तौर पर भाषा के तौर पर मान्यता देने का निर्देश दिया जा सकता है। इसके अलावा अनुच्छेद 35 के अनुसार प्रत्येक राज्य को इस बात का खयाल रखना होगा कि अल्पसंख्यकों के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उनकी मातृभाषा में दिया जाए।

विविध सरकारी प्रावधानों के बाद भी भाषायी अल्पसंख्यकों में पर्याप्त असंतोष की भावना देखने को मिलती है। कई भाषायी अल्पसंख्यकों द्वारा भाषा के आधार पर एक नए राज्य की मांग की गई है। भाषा के आधार पर ही आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात राज्यों का निर्माण हुआ है। उर्दूभाषी लोगों में भी काफी असंतोष व्याप्त है, उनकी संख्या काफी अधिक है। परंतु समस्या यह है कि वे देश के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। हालांकि, उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त किसी भी राज्य ने उर्दू को सरकारी भाषा का स्थान नहीं दिया है। असम में भाषा के आधार पर आंदोलन हुआ तथा उन्होने बंगाली भाषियों को उनके राज्य से बाहर निकालने की मांग की। इसी प्रकार के दक्षिण भारत के गैर-हिन्दी भाषी लोगों ने हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने से माना किया है।

- **जनजातीय अल्पसंख्यक**

वर्तमान समय में भारत की संपूर्ण जनसंख्या में 8 प्रतिशत की सहभागिता जनजातीय समुदायों की है। जनजातियों को आदिवासी, वनवासी, गिरिजन, वनजाति, पिछड़े हिंदू, अनुसूचितजनजाति आदि नामों से जाना जाता है। इन्हें आदिम अथवा आदिवासी कहने के पीछे यह मान्यता है कि ए भारत के प्राचीन निवासी हैं तथा संभवतःद्रविड़ों के आगमन से पूर्व भी ए लोग भारत में निवास करते थे। वैरियर एल्विन ने भी जनजातियों को आदिम कहकर संबोधित किया है तथा उन्होने बताया कि *"आदिवासी भारत की वास्तविक स्वदेशी उपज है, जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ए वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार तथा दावे दोनों ही हजारों साल पुराने हैं, वे ही सबसे पहले यहां आए हैं।"* वैरियर एल्विन की ही तरह ठक्कर बापा (इन्हें आदिवासियों का मसीहा कहा जाता है) तथा जयपाल सिंह (भारतीय संविधान निर्मात्री सभा के सदस्य) ने भी जनजातियों को आदिवासी कहना ज्यादा उचित समझा।

वहीं जी.एस. घूरिए ने इन जनजातियों को पिछड़े हिंदू कहना ज्यादा बेहतर समझा। इसके लिए उन्होने ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया तथा कहा कि अधिकांश जनजातियों द्वारा माने जाना वाला धर्म हिंदू धर्म है। अतः यह सिद्ध होता है कि वे हिंदू समाज के ही अंग हैं। इनके अलावा कुछविदवानों ने इन्हें जनजातियां कहना ही उचित बताया है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा जनजातीय भाषा की श्रेणी में आती हैं।

भारतीय सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों के समान ही इन जनजातियों की भी सूचीबद्ध किया गया है तथा यही कारण हैं कि इन्हें अनुसूचित जनजातियों के रूप में भी जाना जाता है। भारतीय संविधान में उन वर्गों/समूहों के लिए कुछ विशिष्ट प्रावधानों तथा सुविधाओं की व्यवस्था की जाने की बात कही गयी है, जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से पिछड़े हैं। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु जनजातियों को अधिसूचित किया गया।

प्रायः सभी देशों में धर्म तथा भाषा के आधार पर अल्पसंख्यक समूहों को चिन्हित किया गया है। धार्मिक, भाषायी तथा जनजातीय अल्पसंख्यकों का मूल प्रयोजन राज्य से कुछ सुविधाओं को प्राप्त करना होता है तथा इन सुविधाओं से वे अपने धर्म, संस्कृति, भाषा को सुरक्षित रख सकने में सक्षम हो सकें। साथ ही वे अपने धर्म, संस्कृति, भाषा का प्रचार-प्रसार कर सकें, ताकि उनकी विशिष्टता बहुसंख्यक समूहों के साथ विलय न हो जाए।

3.3.9 सारांश

इस इकाई में हमने पिछड़े वर्गों के बारे में अध्ययन किया, जिनमें अनुसूचित जातियां, पिछड़ी जातियां तथा अल्पसंख्यक समूह आते हैं। इकाई में इनकी विशेषताओं, संबंधित आयोग तथा समस्याओं के बारे में संक्षेप में जानकारी उल्लिखित की गयी है।

3.3.10 बोध प्रश्न

1. अनुसूचित जाति से क्या तात्पर्य है? इनकी निर्योग्यताओं को बताइए।
2. अनुसूचित जाति की प्रमुख समस्याओं के बारे में लिखिए।
3. पिछड़ी जातियों के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिए तथा साथ ही संबंधित आयोगों के बारे में लिखिए।
4. अल्पसंख्यक से क्या अभिप्राय है?
5. भारत में अल्पसंख्यकों की श्रेणियों के बारे में चर्चा कीजिए।

3.3.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) चटर्जी, एस.के. (1995). द *शिड्युल्ड कास्ट्स इन इंडिया*. नई दिल्ली: ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस.
2) सच्चिदानंद. (1977). द *हरिजन इलिट*. नई दिल्ली: थामसन प्रेस.
3) शाह, जी. (1975). *पॉलिटिक्स ऑफ शिड्युल्ड कास्ट एंड ट्राइब*. बंबई: वोरा एंड कंपनी.
4) अम्बेडकर, बी. आर. (2007). *शूद्रों की खोज*. नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
5) दुबे, अ. क. (2005). *आधुनिकता के आईने में दलित*. सी.एस.डी.एस: वाणी प्रकाशन.
6) शर्मा, र. (1992). *शूद्रों का इतिहास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
7) दोषी, एस.एल. (2009). *समकालीन मानवशास्त्र*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स.
8) मुकर्जी, र. (2004). *सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा*. दिल्ली: विवेक प्रकाशन.
9) झा, प्र.र. एवं बरनवाल, दी. (nd). *सामाजिक मानवशास्त्र*. पीयूष पब्लिकेशन्स.
10) मेहता, पी.सी. (2009). *आदिवासी संस्कृति एवं प्रथाएं*. दिल्ली: डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड.
11) चौधरी, एस.एन. (2009). *ट्राइबल डेवेलपमेंट सिंस इंडिपेंडेंस*. नई दिल्ली: कांसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी.

खंड 04 भारत में सामाजिक संगठन

इकाई 1 हिंदू सामाजिक संगठन: अवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

4.1.1 **उद्देश्य**
4.1.2 **प्रस्तावना**
4.1.3 **हिंदू सामाजिक व्यवस्था: परिचय**
4.1.4 **वर्णाश्रम: अर्थ एवं परिभाषाएं**
4.1.5 **वर्णाश्रम का सामाजिक महत्व**
4.1.6 **वर्णाश्रम का विभाजन**
4.1.7 **जाति व्यवस्था: परिचय**
4.1.8 **हिंदू विवाह: एक सामाजिक संस्था के रूप में**
4.1.9 **हिंदू विवाह के उद्देश्य तथा स्वरूप**
4.1.10 **परिवार: अर्थ, परिभाषा और विशेषताएं**
4.1.11 **हिंदू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत स्त्रियों की स्थिति**
4.1.12 **सारांश**
4.1.13 **बोध प्रश्न**
4.1.14 **कुछ उपयोगी पुस्तकें**

4.1.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

1. हिंदू सामाजिक व्यवस्था के बारे में परिचय प्राप्त करने में।

2. वर्णाश्रम के अर्थ, परिभाषा और सामाजिक महत्व को समझ पाने में।

3. वर्णाश्रम के विभाजन को जान पाने में।

4. जाति व्यवस्था के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।

5. हिंदू विवाह का परिचय, उद्देश्य और स्वरूप जान सकने में।

5. परिवार के बारे में समझ प्राप्त कर सकने में।

6. हिंदू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत स्त्रियों की दशा को जानने में।

4.1.2 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक व्यवस्था विश्व की प्राचीनतम व्यवस्थाओं में से एक है। यह अत्यंत गौरवपूर्ण परंपराओं से परिपूर्ण है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अनेक विविधताएं तथा बहुलताएं पाई जाती हैं।

यहाँ अनेक प्रकार के धर्म, मत, संप्रदाय, पंत आदि पाए जाते हैं। सभी की अपनी-अपनी पृथक सामाजिक व्यवस्थाएं और जीवन विधियाँ हैं। यहाँ अनेक प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएं पाई जाती हैं, जैसे – हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, फारसी, जैन, बौद्ध इत्यादि। इन सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में काफी भिन्नता पाई जाती है।

4.1.3 हिंदू सामाजिक व्यवस्था: परिचय

भारत में लगभग 4000 वर्ष पूर्व एक वैदिक संस्कृति के तहत हिंदू सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले हिंदू सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख तथा परिचय वेदों के माध्यम से ही प्राप्त होता है। वेदों को आर्यों की देव माना जाता है तथा यह एक रूप से द्रविड़ संस्कृति पर आर्यों की श्रेष्ठता को स्थापित करने के प्रयोजन से धार्मिक विश्वास तथा नई सामाजिक व्यवस्था को लागू करने से संबंधित है। तत्कालीन समाज में व्यक्ति का कर्म, गुण और अभिरुचि के आधार पर सामाजिक स्थिति को निर्धारित किया जाता था, जन्म आधारित तत्व गौंण थे।

के.एम. कपाड़िया इस बारे में लिखते हैं कि चूंकि वेदों से ही हिंदू क़ानूनों का अभ्युदय हुआ माना जाता है, अतः हिंदू कानून निर्माताओं ने अपने नियमों तथा प्रतिबंधों की वैधता और औचित्य को बनाए रखने के लिहाज से वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते रहते थे। इसके बावजूद हिंदू सामाजिक व्यवस्था कभी भी स्थिर नहीं रही है। अर्थात् इसमें गतिशीलता के संपुट सदैव विद्यमान रहे हैं।

गौतम, बोधायन, याज्ञवल्क्य आदि संहिताओं में वर्ण विभाजन के बारे में चर्चा प्रस्तुत की गई है तथा इसे एक प्रमुख सामाजिक संस्था के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में धार्मिक अनुभव के संदर्भों से बाहरी तथा भीतरी (देह और आत्मा) सारतत्वों की धारणा प्रस्तुत की गई है। हिंदू धारणा तथा जीवन पूर्ण रूप से विभाजित चार आश्रमों के इर्द-गिर्द सृजित है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था इन वर्णाश्रमों द्वारा भौतिकता, आध्यात्मिकता, लौकिक सफलता तथा मुक्ति के संयुक्त रूप से गुथी हुई व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के इन चार स्तरों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) से होकर गुजरना पड़ता है। ए सभी स्तर आयु तथा योग्यता के अनुरूप परिवर्तित होते रहते थे। इसी प्रकार से हिंदू सामाजिक जीवन में चार प्रकार के पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की अवधारणा भी रखी गई है। यह विभाजन इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के धार्मिक, आर्थिक तथा सुखवादी पहलुओं को समान रूप से महत्व दिया गया है। इसके अलावा पाँच प्रकार के ऋणों (देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण तथा जीव ऋण) तथा उनसे संबंधित पाँच महायज्ञों (देव यज्ञ, ऋषि यज्ञ, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ तथा जीव यज्ञ) के बारे में भी चर्चा हिंदू सामाजिक जीवन में देखने को मिलती है। साथ ही कर्म का सिद्धांत, पुनर्जन्म का सिद्धांत और पूर्व नियति की धारणा भी हिंदू सामाजिक व्यवस्था के मूल में पाई जाती है।

हिंदू सामाजिक व्यवस्था में अनेक तत्व सम्मिलित हैं तथा सभी को यहाँ व्याख्यायित कर पाना दुष्कर है। अतः प्रमुख संबंधित तत्वों का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

4.1.4 वर्णाश्रम: अर्थ एवं परिभाषाएं

हिंदू सामाजिक व्यवस्था में वर्णाश्रम की भूमिका प्रमुख है तथा यह लौकिक जीवन से ऊपर उठकर पार-लौकिक जीवन को अधिक महत्व प्रदान करता है। वर्णाश्रम दो शब्दों से मिलकर बना है वर्ण तथा आश्रम। कर्म के आधार पर चार वर्णों की व्यवस्था की गई है तथा यह सामाजिक व्यवस्था, समृद्धि और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए समाज को कार्यात्मक रूप से कुछ स्तरों में वर्गीकृत करता है। जबकि आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बांटने से संबंधित धारणा है जो व्यक्तिगत जीवन की समृद्धि के लिए प्रतिबद्ध है। आश्रम व्यवस्था का महत्व व्यक्तिगत तौर पर उचित है जबकि वर्ण व्यवस्था का महत्व सामाजिक स्वरूपों से संबंधित है। संयुक्त रूप से कहा जाए तो दोनों ही व्यवस्थाएं व्यक्ति तथा समाज के संगठन और समृद्धि के लिए कार्यरत हैं।

वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत समाज को चार भागों में वर्गीकृत किया गया – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन वर्णों की रचना मूल रूप से मनुष्य की चार इच्छाओं (ज्ञान, रक्षा, जीविका तथा सेवा) के आधार पर किया गया। बहुत से लोग वर्ण और जाति को एक समान ही मानकर व्याख्यायित कर देते हैं, परंतु यह पूर्णतः अनुपयुक्त है। वर्ण व्यवस्था समाज को चार भागों में वर्गीकृत करती है, जबकि जाति व्यवस्था का निर्माण हजारों जातियों द्वारा मिलकर होता है। हालांकि वर्तमान समय में एक वर्ण के भीतर अनेक जातियों का निर्माण हो चुका है, किंतु यह पूर्ण रूप से जाति व्यवस्था से पृथक धारणा है।

वर्णों की उत्पत्ति के संदर्भ में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में विवरण मिलता है। उसके अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, वक्ष से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा पैर से शूद्र का जन्म हुआ। बहरहाल 'वर्ण' के अर्थ को हम तीन प्रकार से समझते हैं –

p. 'वर्ण' शब्द का निर्माण 'वृ' धातु से हुआ है तथा इसका अभिप्राय वरण करने अर्थात् चुनने से है।

q. कुछ विद्वानों के अनुसार वर्ण व्यवस्था विभिन्न वर्णों की प्रजातीय विशेषता को इंगित करती है।

r. एक मत यह है कि वर्ण का संबंध वृत्ति से है। स्पष्ट शब्दों में, जिन व्यक्तियों की मानसिक तथा स्वभाव संबंधी विशेषताएं एक जैसी हैं, वे एक वर्ण से संबंधित व्यक्ति रहते हैं।

प्रत्यक्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है, जो सामाजिक विभाजन का आधार कर्म को मानती है। इस विभाजन के आधार रूप में गुण, प्राथमिक स्वभाव तथा प्रवृत्ति को अधिक महत्व दिया गया है। समाज में संगठन तथा व्यवस्था को निरंतर बनाए रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था कि सामाजिक कार्यों को कुछ भागों में वर्गीकृत किया जाए। इस प्रकार से समाज में प्रत्येक कार्य को व्यवस्थित रूप से बिना किसी अन्य के हस्तक्षेप के सफलतापूर्वक किया जा सके। इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिए समाज को चार बड़े समूहों में विभाजित कर दिया गया तथा सभी के लिए पृथक-पृथक कार्य निर्धारित कर दिए गए।

वर्ण व्यवस्था के ही समान आश्रम व्यवस्था को भी चार स्तरों में विभाजित किया गया है तथा ए चार स्तर व्यक्ति के आयु के आधार पर उसके कर्मों को निर्धारित करने से संबंधित हैं। प्रत्येक आयु के

स्तर में व्यक्ति को कुछ उत्तरदायित्वों का निर्वहन करना होते हैं तथा इन दायित्वों के निर्वहन कए पश्चात ही उसे 'मोक्ष' की प्राप्ति हो सकती है। यह सर्वविदित है कि आयु के विकास के साथ-साथ व्यक्ति की योग्यता, अभिरुचि, क्षमता, दृष्टिकोण और मनोवृत्ति आदि में भी बदलाव आता है। अतः हिंदू सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को प्रदान किए जाने वाले दायित्वों को उनकी आयु के आधार पर निर्धारित करना उचित प्रतीत होता है।

हिंदू धर्म के महाग्रंथ महाभारत के शांति पर्व में बताया गया है कि *"जीवन के चार आश्रम व्यक्तित्व विकास की चार सीढ़ियाँ हैं, जिनपर क्रम से चढ़ते हुए व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त करता है।"* हालांकि आरंभिक समय में केवल तीन आश्रमों का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद तथा मनुस्मृति में तीन आश्रमों का विवरण मिलता है। वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम आपस में मिश्रित रूप में विद्यमान थे। बाद में इन्हें दो अलग-अलग आश्रमों के रूप में विभाजित किया गया। सबसे पहले जाबाली उपनिषद में चार आश्रमों की व्यवस्था के बारे में चर्चा प्रस्तुत की गई। हालांकि हम इस बात को पूरी तरह से स्पष्ट नहीं कर सकते कि आश्रम व्यवस्था की रचना का काल क्या है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था का निर्माण उत्तर वैदिक काल में हो गया था तथा स्मृतिकाल में इसका व्यवस्थित रूप स्पष्ट हुआ।

हिंदू सामाजिक व्यवस्था में आश्रम प्रणाली व्यक्ति के जीवन को कुछ इस प्रकार से चार भागों में विभाजित करता है –

- व्यक्ति अपने आरंभिक जीवन के 25 वर्षों में ज्ञान प्राप्त करे (ब्रह्मचर्य)
- इसके पश्चात वह अगले 25 वर्षों में सांसरिक वास्तविकताओं का भोग करे (गृहस्थ)
- इसके बाद इन सांसारिक वस्तुओं से दूर होकर व्यक्ति अगले 25 वर्षों तक ईश्वरीय ज्ञान को अर्जित करे (वानप्रस्थ)
- और सबसे अंत के 25 वर्षों में परमात्मा की खोज कर व्यक्ति मोक्ष के मार्ग का अनुसरण करे (सन्यास)

4.1.5 वर्णाश्रम का सामाजिक महत्व

हिंदू सामाजिक व्यवस्था त्याग तथा भोग के अद्वितीय समन्वय की वजह से अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं में अद्वितीय स्थान रखती है। यह सांसारिक अभ्युदय, समृद्धि तथा आध्यात्म की भावना से ओत-प्रोत एक ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के सामाजिक व मानसिक चेतना को सामाजिक कल्याण तथा समन्वय के सूत्र में बांधती है। यहाँ वर्णाश्रम के प्रमुख सामाजिक महत्वों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. सामाजिक संगठन तथा सुव्यवस्था के प्रति प्रतिबद्धता

वर्णाश्रम व्यवस्था का मूलभूत और मुख्य प्रयोजन समाज में संगठन तथा सुव्यवस्था को बनाए रखना है। सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था को बनाए रखने के लिए सबसे अधिक आवश्यक यह था

कि वैयक्तिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाए। वैयक्तिक जीवन को व्यवस्थित करने हेतु ही आश्रम व्यवस्था का विकास किया गया तथा उसे चार बराबर भागों में बांटकर वैयक्तिक जीवन को व्यवस्थित किया गया। साथ ही इस वैयक्तिक जीवन की सुव्यवस्था को स्थापित तथा बनाए रखने के लिए कर्म और गुणों के आधार पर समाज को अनेक समूहों में बाँट दिया गया तथा वर्गीकरण की इस व्यवस्था को हम वर्ण व्यवस्था के नाम से जानते हैं।

2. जीवन का परम लक्ष्य: मोक्ष

हिंदू सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख वर्णाश्रम व्यवस्था का एक प्रमुख प्रयोजन यह भी है कि यह हिंदू संस्कृति के तहत परम लक्ष्य माने जाने वाले मोक्ष को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में कार्य करता है। वर्ण व्यवस्था के तहत प्रत्येक वर्णों के लिए कुछ अधिकारों तथा कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है और इस बात की ओर पूरा ध्यान दिया गया है कि इन निर्धारित किए गए कर्तव्यों का पालन पूरी तन्मयता तथा श्रद्धा से किया जाए। क्योंकि यह कर्तव्य ही व्यक्ति का वास्तविक धर्म है तथा यही कार्य उसके अग्रिम जीवन और मोक्ष के मार्ग को निर्धारित करते हैं। वर्ण व्यवस्था के समान ही आश्रम व्यवस्था में भी मोक्ष को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है तथा आश्रम व्यवस्था के आखिरी पड़ाव के रूप में सन्यास आश्रम के तहत मोक्ष प्राप्ति को परम आवश्यक माना गया है। चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) के रूप में आश्रम व्यवस्था के सभी कर्तव्यों को विभाजित किया गया है। व्यक्ति को आश्रम व्यवस्था के दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वहन करने हेतु अत्यंत आवश्यक है कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को समझने में सक्षम हो।

3. सामाजिक संघर्षों का समाधान

वर्णाश्रम व्यवस्था समाज की अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करता है तथा पारस्परिक सहयोग की भावना को विकसित करता है। वर्ण व्यवस्था द्वारा प्रत्येक व्यक्तियों के लिए उनके वर्णों के अनुरूप कुछ कार्यों को निर्धारित कर दिया गया तथा इस कारण व्यक्ति अपने-अपने कार्यों में ही रचनात्मकता और लगनशीलता को दिखाता है। इस प्रकार से व्यक्तिगत हितों के साथ साथ समूहिक हितों की रक्षा भी आसानी से संभव हो पाती है। इसके अलावा आश्रम व्यवस्था ने व्यक्ति के जीवन को अनिश्चित उतार-चढ़ाव और विभिन्न संघर्षों से बचाए रखने के लिहाज से निश्चित स्तरों की व्यवस्था किया है। ए चारों स्तर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जैसे उच्च मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के रूप में वर्णित किए गए हैं।

4. सामान्य कल्याण को प्राथमिकता

सामान्य कल्याण के बिना समाज को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता, इस तथ्य को अनेक भौतिकवादी समाजों द्वारा स्वीकार किया गया है। व्यक्तिवादिता के अवगुणों को कम करने तथा समाज में व्यवस्था को सुचारु रूप से गतिमान रखने की दृष्टि से विभिन्न आश्रमों द्वारा धर्म को कुछ इस प्रकार से लागू किया गया कि सामान्य कल्याण को अधिक से अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हो सके।

5. व्यक्ति तथा समूह की पारस्परिक निर्भरता

यह व्यवस्था व्यक्ति तथा समूह की पारस्परिक निर्भरता को संवर्धित करने में सहायक की भूमिका का निर्वहन करती है। वर्ण व्यवस्था के प्रत्येक वर्ग अपने समस्त कार्यों के लिए एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हैं। उनमें अन्य वर्णों पर विभिन्न कार्यों को लेकर निर्भरता भी देखने को मिलती है। पी.एन. प्रभु ने स्पष्ट किया है कि आश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समूह के बीच पारस्परिक निर्भरता बढ़ाने तथा उनके समन्वय को प्रोत्साहित करती है। आश्रम व्यवस्था के सभी स्तरों में व्यक्ति तथा समूह के कार्य और दायित्व एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक होते हैं, हालांकि पृथकता होने के बाद भी दायित्वों में एक-दूसरे के प्रति निर्भरता रहती है। इस निर्भरतावादी संस्कृति के परिणाम के रूप में यहाँ एक समष्टिवादी संस्कृति विकसित हो रही है।

6. गतिशीलता

वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत हमें गतिशीलता से संचालित सामाजिक विकास के तत्व भी परिलक्षित होते हैं। वर्ण व्यवस्था में हमें व्यक्तियों में श्रम विभाजन तो अनिवार्य रूप से देखने को मिलता है, परंतु इसके साथ साथ व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार करने हेतु भी पर्याप्त अवसर प्रदान किए गए हैं। इस व्यवस्था के अंतर्गत कर्मों तथा गुणों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है तथा जन्म संबंधी आधारों को गौंण माना गया है। अर्थात् निम्न स्तर के वर्ण से संबंधी व्यक्ति भी अपने गुणों तथा कर्मों के आधार पर उच्च वर्ण की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। वर्ण व्यवस्था में व्याप्त इस गतिशील प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति उन्मुख तथा सजग होते हैं और सामाजिक योगदान में उल्लेखनीय प्रयास करते हैं। इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था में भी व्यक्ति निरंतर गतिशील रहते हुए अपने जीवन को आश्रमों के निर्धारित स्तरों के साथ-साथ जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु अग्रसारित होता रहता है।

7. मानवीय गुणों का विकास

वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण व्यक्ति में सरलता, पवित्रता, निष्ठा, सहिष्णुता, उदारता, समानता, सामाजिक सेवा, बंधुत्व और आध्यात्मिकता के गुणों का समावेश होता रहता है। साथ ही साथ वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति के मानवीय गुणों को भी संवर्धित और व्यवस्थित करने का कार्य भी करती है।

4.1.6 वर्णाश्रम का विभाजन

वर्णाश्रम जैसा की पहले भी बताया जा चुका है कि वर्णाश्रम मूलतः वर्ण और आश्रम से मिलकर बना हुआ है। इनको स्पष्ट तौर पर चार-चार भागों में वर्गीकृत किया गया है, इसे हम निम्न विभाजक सारणी के आधार पर सरलता से समझ सकते हैं –

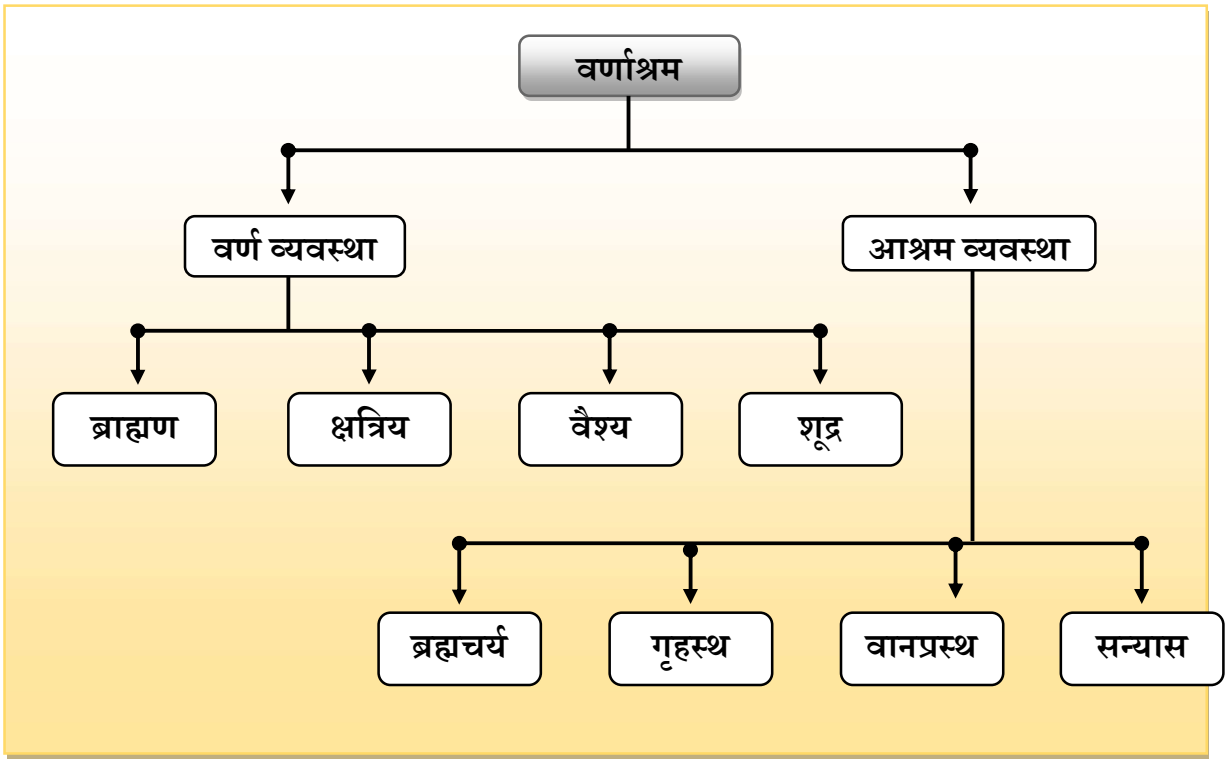

सर्वप्रथम यहाँ वर्ण व्यवस्था और उसके विभाजक सोपानों के बारे में यहाँ चर्चा प्रस्तुत की जा

रही है। इसे वर्ण-धर्म के नाम से भी जाना जाता है। मनुस्मृति में वर्णित विवरण के आधार पर इन चार वर्णों

के बारे में संक्षिप्त चर्चा इस प्रकार से है –

1- ब्राह्मण

मनु के अनुसार, सभी वर्णों में, यहाँ तक कि द्विजों में भी सर्वश्रेष्ठ पद ब्राह्मण का होता है। ब्राह्मण का आधार सात्विक पद्धति, निश्चल स्वभाव, इंद्रिजेय तथा भौतिक सुखों से परे आदि पर निर्भर रहता है। ब्राह्मण के लिए कुछ कर्तव्य तथा निषेधों का वर्णन मनुस्मृति में मिलता है। उसे सदैव वेद, धर्म, ज्ञानार्जन आदि के मार्ग पर चलते रहना चाहिए, साथ ही उसे दूसरों को शिक्षा, ज्ञान आदि देने के कार्यों में भी लगे रहना चाहिए। अंतःकरण की शुद्धि, धर्म-कार्यों में कष्ट सहना, इंद्रियों का दमन, ज्ञानार्जन, पवित्रता, क्षमावान होना तथा 'सत्य'का अनुभव ही ब्राह्मण का परम धर्म होता है। गीता में वर्णित इस श्लोक के अनुसार भी यह पुष्ट होता है –

"शमो दमस्तपः शौच: क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यंम ब्रम्ह्कर्म स्वभावजम् ॥"

2- क्षत्रिय

मनुस्मृति में दिए गए विवरण के अनुसार क्षत्रिय दूसरा वर्ण है। इनका धर्म प्रजा की रक्षा, दान देना, अध्ययन करना तथा अपनी शक्ति का उपयोग श्रेष्ठ कार्यों में संलिप्त करना है। गीता में वर्णित विवरण के अनुसार क्षत्रियों का धर्म शूरवीरता, तेज, युद्ध-कला में निपुणता, चतुरता, दान देना तथा निःस्वार्थ भाव से प्रजा की रक्षा और सेवा करना करना है –

"शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यम् युद्धे चाप्यलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम् ॥"

3- वैश्य

वैश्य का मूल कार्य व्यापार करना, धन आदि को संचित करना निर्धारित किया गया है। मनुस्मृति में इसके प्रमुख सात कार्यों को बताया गया है, जो कि पशुओं की रक्षा, अध्ययक करना, यज्ञ करना, व्यापार करना, व्याज पर धन देना, दान देना व कृषि करना है –

"पशूना रक्षानाम् दानभिज्याध्ययनमेव च।
वर्णिन्क्वथम् कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥"

4- शूद्र

शूद्र सभी वर्णों में सबसे निचले पायदान पर है तथा उनका प्रमुख कार्य बिना किसी ईर्ष्या-भाव के उक्त तीनों वर्णों की सेवा करना निर्धारित किया गया है। हालांकि इसके बाद भी शूद्रों को निश्चित तौर पर ब्रम्ह की ही सेवा में तंलीन रहना चाहिए और उन्हीं के अधीन रहते हुए अपने कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए। ब्राह्मण के अलावा क्षत्रिय अथवा वैश्य का सेवक बनना शूद्र के लिए मात्र आजीविका की दृष्टि से ही उपयोगी है। मनुस्मृति में शूद्रों के लिए किए जाने वाले कार्यों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है –

"एकं एव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेशां एवं वर्णानं शुश्रुशां अनुसूसूयया॥"

समस्त वर्णों के कर्तव्यों और कार्यों के निर्धारण के अलावा कुल नौ प्रकार के सामान्य अन्य धर्म-कार्यों का वर्णन किया गया है, जो सभी वर्णों पर समान रूप से लागू होते हैं। वे धर्म-कार्य हैं– सत्य बोलना, किसी से द्रोह की भावना न रखना, सरल भाव रखना, क्रोध न करना, क्षमाशील होना, धन को बांटकर उसका उपयोग करना, पवित्रता बनाए रखना, पत्नी से संतानोत्पत्ति और सभी जीवों का पालन-पोषण करना। इनका पालन सभी वर्णों को लगनशीलता और निःस्वार्थ भाव से करना अनिवार्य माना गया है।

वर्ण व्यवस्था के बारे में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात इसी क्रम में आश्रम व्यवस्था का विवरण भी प्रस्तुत किया जा रहा है। आश्रम शब्द संस्कृत के 'श्रम' धातु से बना है तथा इसका अभिप्राय उद्योग, परिश्रम अथवा प्रयास होता है। पी.एन. प्रभु ने अपनी पुस्तक *'हिंदू सोशल ऑर्गनाइजेशन'* में आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति से संबंधित दो आशयों के बारे में चर्चा की है –

1. एक ऐसा स्थान जहां पर उद्योग अथवा प्रयत्न किया जाता है।
2. इस परिश्रम अथवा प्रयास के लिए की जाने वाली क्रिया।

ऋग्वेद में आश्रमों को कुल चार बराबर भागों में विभाजित किया गया है। ए भाग 25-25 मनुष्य की आयु वर्षों के रूप में निर्धारित किए गए हैं। ऋग्वेद के अनुसार *'जीवेम शरदः शतम्'* अर्थात प्रत्येक मनुष्य का जीवन काल 100 वर्षों का होता है तथा इसी को आधार मानते हुए सभी आश्रमों को 25-25 वर्षों के रूप में विभाजित किया गया है –

1- ब्रह्मचर्य आश्रम

यह मनुष्य के जीवन काल का प्रथम आश्रम है जो पहले 25 वर्षों के लिए निर्धारित कर्तव्यों के बारे में बालक को भावबोध कराता है। 'ब्रह्म' का अभिप्राय 'महान' तथा 'चर्य' का अभिप्राय 'लैंगिक संयम' से लगाया जाता है। हालांकि यह ब्रह्मचर्य आश्रम का केवल एक पक्ष ही प्रदर्शित करता है। स्पष्ट तौर पर यह नैतिकता, शुद्ध आचरण, पवित्रता, अनुशासन, सेवा, कर्तव्य-परायणता, ज्ञान का संयम तथा मूल रूप से शुद्धता से महानता की ओर अग्रसारित होने का आश्रम है। अपने माता-पिता, परिवार, घर आदि को छोड़कर बालक को गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाना होता था तथा वहाँ प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक अपने गुरु द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन करता था और जीवन की दैनिक क्रियाओं को सिखता था।

2- गृहस्थ आश्रम

यह दूसरा आश्रम है तथा इसका आरंभ विवाह के उपरांत होता है। गृहस्थ आश्रम अग्रिम 25 से 50 वर्षों तक के आयु तक का काल होता है। विद्वानों द्वारा इस आश्रम को अन्य सभी आश्रमों का आधार माना है। इस आश्रम में देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण से उऋण होने की व्यवस्था की गई है। इसके अलावा इसे धर्म, अर्थ और काम के संगम के रूप में भी विश्लेषित किया जाता है। काम की पूर्ति यहाँ किसी साध्य के रूप में नहीं है, अपितु यह मात्र साधन है। इसका एक मात्र कार्य संतानोत्पत्ति के आधार पर अपने धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति करना होता है। इस आश्रम में मनुष्य को जीव-हत्या, पक्षपात, असंयम, असत्य, डर, अविवेक तथा शत्रुता से परे रहना चाहिए। मनुष्य को मादक द्रव्य व्यसनों के सेवन, कुसंगति, चाटुकारिता आदि से दूर रहना चाहिए तथा अपने से बड़ों, यथा – माता-पिता, गुरुजनों, वृद्धों, ऋषियों आदि के प्रति सेवा व आदर भाव रखना चाहिए। इसके अलावा पुरुष का व्यवहार अपनी पत्नी के लिए मर्यादित, आचरणपूर्ण, धर्मानुकूल होना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम के कर्तव्यों का पालन परिश्रम, लगन और निष्ठा से करता है उसे निःसंदेह स्थाई प्रसन्नता और स्वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

3- वानप्रस्थ आश्रम

यह आश्रम व्यवस्था का तीसरा महत्वपूर्ण आश्रम है जो अग्रिम 50 से 75 आयु वर्षों के कर्तव्यों से मनुष्य को अवगत कराता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को घर-परिवार छोड़कर वन की ओर चल देना चाहिए। वह चाहे तो अपनी पत्नी को भी साथ ले जा सकता है। दिन में एक बार वह कंद-मूल फल आदि के रूप में भोजन करेगा, इसके अलावा इंद्रिय संयम, सांसरिक प्रेम से विमुख, जीवों पर दया और

समता की भावना ही इस आश्रम के प्रमुख कार्य निर्धारित हैं। अतिथि सत्कार, दान-धर्म, जीवों पर दया व सेवा भावना, ध्यान तथा चिंतनशीलता आदि के माध्यम से परलोक को जानने व उससे संबंधित गूढ रहस्यों को समझने का प्रयास किया जाता था। इस आश्रम में मनुष्य का मूल लक्ष्य सत्य तथा ज्ञान की खोज करना था।

4- सन्यास आश्रम

यह मानव जीवन के अंतिम पड़ाव पर आधारित आश्रम होता है। इसमें प्रवेश लेने के लिए एक वानप्रस्थी को समस्त सांसारिक मोह व बंधनो का त्याग करते हुए अपनी इंद्रियों पर काबू कर लेना आवश्यक होता है तथा अंततः उसे सन्यासी हो जाना चाहिए। यहाँ व्यक्ति को केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सन्यास आश्रम में व्यक्ति के कुछ कर्तव्यों को निर्धारित किया गया है – भिक्षा पर निर्भरता, अधिक भिक्षा न मांगना, संतोष करना, वृक्ष की छाया में विश्राम करना, मोटे वस्त्रों को धारण करना, किसी का अनादर न करना, किसी जीव से घृणा न करना, आत्मज्ञान की साधना तथा योग द्वारा इंद्रियों पर विराम लगाना, सुख-दुख का अनुभव न करना।

4.1.7 जाति व्यवस्था: परिचय

भारतीय सामाजिक संस्थाओं में जाति व्यवस्था का स्थान अत्यंत ही महत्वपूर्ण है, रहा है और संभवत रहेगा। जाति व्यवस्था की इसी महत्ता के कारण समय-समय पर अनेक समाजशास्त्रियों, इतिहासवेत्ताओं, नृतत्वशास्त्रियों आदि विद्वानों ने इसकी संरचना, प्रकार्यों और इसके परिवर्तनशील तत्वों के बारे में व्यापक अध्ययन और विश्लेषण किए हैं। जाति शब्द अँग्रेजी के 'Caste' शब्द का हिंदी रूपांतरण है, जो पुर्तगाली शब्द 'Casta' से बना है। इसका अर्थ प्रजाति, नस्ल अथवा जन्म से लगाया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति (1665) को ग्रेसिया डी. ओरेटा नामक विद्वान से जोड़ा जाता है। यहाँ इससे संबंधित कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं के बारे में विवरण दिया जा रहा है –

- **मजूमदार और मदान** के अनुसार,
  "जाति एक बंद वर्ग है।"
- **इरावती कार्वे** लिखती हैं कि
  "जाति वस्तुतः एक विस्तृत नातेदारी समूह है।"
- **जे.एच.हट्टन** के शब्दों में,
  "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत एक समाज अनेक आत्म-केंद्रित तथा एक-दूसरे से पूरी तरह से पृथक इकाइयों (जातियों) में बंटा रहता है। इन इकाइयों के मध्य पारस्परिक संबंध ऊच-नीच के रूप में सांस्कृतिक आधार पर निर्धारित होते हैं।"
- **चार्ल्स कूले** लिखते हैं कि
  "जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवंशिकता पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"
- **केतकर** के अनुसार,

"जाति एक सामाजिक समूह है तथा इसकी दो विशेषताएं होती हैं –

1) इसकी सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित रहती है, जिनका जन्म उसी जाति में हुआ हो तथा

2) इसके सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने से निषिद्ध रहते हैं।"

- **ब्लंट** के अनुसार,

"जाति एक अंतर्विवाही समूह अथवा अंतर्विवाही समूहों का गुच्छा है, इसका एक सामान्य नाम होता है, इसकी सदस्यता आनुवांशिक होती है, यह सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ निषेधों को आरोपित करता है, इसके सदस्य या तो एक सामान्य परंपरागत व्यवसाय में संलिप्त रहते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं तथा इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में वैध होते है।"

- **मिर्डल** का मानना है कि जाति पूर्णतः कठोर वर्ग है, जो समूह में गतिशीलता को स्वीकार नहीं करता।

उक्त वर्णित विद्वानों की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें जन्म को निर्धारक तत्व माना जाता है। इसके अलावा यह अपने सदस्यों के प्रति व्यवसाय, सामाजिक सहवास, खान-पान, विवाह आदि निषेध आदि भी पारित करती है।

4.1.8 हिंदू विवाह: एक सामाजिक संस्था के रूप में

विवाह एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है तथा यह विश्व के प्रत्येक भाग में विद्यमान है। हालांकि सभी स्तनों पर विवाह के भिन्न-भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। यही कारण है कि इसकी परिभाषा के संबंध में विद्वानों में कई मत पाए जाते हैं तथा साथ ही इसको परिभाषित करना भी विद्वानों के लिए एक विकट समस्या है। यहाँ विवाह की कुछ प्रमुख परिभाषाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है –

- **बोगार्डस** के शब्दों में,

  "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।"

- **वेस्टरमार्क** के अनुसार,

  "विवाह एक अथवा एक से अधिक पुरुषों का एक अथवा एक से अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला संबंध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें विवाह करने वाले व्यक्तियों के और उससे पैदा हुए संभावित बच्चों के एक-दूसरे के प्रति होने वाले अधिकारों एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।"

- **लूसी मेयर** के शब्दों में,

  "विवाह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा संघ है, जिसमें स्त्री से उत्पन्न बच्चा पति-पत्नी दोनों की वैध संतान माना जाता है।"

- **डबल्यू.आर.रिवर्स** के अनुसार,

  "जिन साधनों द्वारा मानव-समाज यौन संबंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है।"

विवाह के बारे में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात यहाँ हिंदू विवाह के बारे में व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। यह विवरण इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि विवाह की अवधारणा तथा विशेषताओं को पूर्णतया हिंदू विवाह पर लागू नहीं किया जा सकता। यहाँ हिंदू विवाह की कुछ प्रमुख परिभाषाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है –

- **के.एम. कपाड़िया** के अनुसार हिंदू विवाह एक संस्कार है। उन्होने अपनी पुस्तक 'Marriage and Family in India' में लिखा है कि हिंदुओं में विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है, अतः विवाह का आधारभूत उद्देश्य धर्म था।
- **रघुनंदन** के शब्दों में,

  "जिस विधि से नारी पत्नी बनती है, वह विवाह है।
- **मेघसिधि** के अनुसार हिंदू विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से संपन्न होने वाला पाणि-ग्रहण संस्कार है, जिसकी अंतिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि हिंदू विवाह की संकल्पना, विवाह की संकल्पना से पृथक अस्तित्व रखती है। हिंदू विवाह में यौन संबंधों सबसे कम महत्व दिया गया है तथा इसके विपरीत धार्मिक-आर्थिक कार्यों को हिंदू विवाह में प्राथमिकता दी गई है। हिंदू विवाह का दूसरा प्रमुख उद्देश्य 'पुत्र प्राप्ति' को माना गया है क्योंकि यह पुत्र ही किसी मनुष्य को उसके ऋणों से मुक्त कर सकता है। यहाँ विवाह की धारणा न केवल इस जन्म तक सीमित रहती है, अपितु इसे कई जन्मों के बंधन के रूप में मान्यता दी जाती है। हिंदुओं में विवाह-विच्छेद को न केवल अधार्मिक माना जाता है, बल्कि इसे बहुत ही हेय दृष्टि से देखा जाता है।

हिंदू विवाह को एक सामाजिक संस्था के रूप में स्थापित करने वाले प्रमुख तत्वों निम्न विश्लेषित हैं –

1- अवधारणा

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि हिंदू विवाह एक धार्मिक संस्कार है तथा इसमें धार्मिक कर्तव्यों को प्राथमिकता दी जाती है। इसकी अवधारणा में पूर्ण रूप से यह विचार अवस्थित है कि सामाजिक मान्यता प्राप्त तरीकों से स्त्री-पुरुष वैवाहिक बंधनों में बंधकर धार्मिक अनुष्ठाओं व रीतियों के अनुरूप यौन संबंधों की तृप्ति करें। यह एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य है जो स्त्री-पुरुष को एक पवित्र संस्कार में बांध देता है। यहाँ यह धारणा भी बलवती है कि बिना विवाह संस्कार के मोक्ष को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

2- उद्देश्य

हिंदू विवाह के उद्देश्य को तीन मूल अवयवों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है – पहला; धर्म, दूसरा; पुत्र-प्राप्ति तथा तीसरा; यौन संबंधों की तृप्ति। प्राचीन काल से ही विवाह को धार्मिक कार्यों के लिए आवश्यक माना गया है तथा ऐसी धारणा है कि किसी भी धार्मिक कार्य (यज्ञ, अनुष्ठान आदि) को बिना पत्नी के पूरा नहीं किया जा सकता। अतः धर्म पालन विवाह का सर्वोपरि उद्देश्य सदैव से ही रहा है। इसके पश्चात विवाह का दूसरा प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पत्ति है। पुत्र-प्राप्ति अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि बिना पुत्र के वंश को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके अलावा मोक्ष-प्राप्ति और पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए पुत्र की आवश्यकता होती है। हिंदू विवाह का तीसरा प्रमुख उद्देश्य है यौन संबंधी संतुष्टि। इसे भी एक धार्मिक कृत्य के रूप में मान्यता दी गई है। चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को मानव जीवन का मूल कर्तव्य माना गया है तथा काम अर्थात् रति/यौन संतुष्टि भी इन पुरुषार्थों में से एक है।

3- सामाजिक संरचना

हिंदू विवाह एक प्राचीन सामाजिक संस्था है तथा एक लंबे काल से क्रियाशील होने के कारण इसने एक विकसित और सुदृढ़ ढांचे को विकसित व स्थापित कर लिया है। हिंदू विवाह अपने आप में अनेक संस्कारों का एक गुच्छा है, जिसमें कन्या-दान, विवाह, पाणि-ग्रहण, अग्नि-परिणायन, अश्वारोहण, लाजाहोम, सप्तपदी आदि प्रमुख संस्कार हैं। इन संस्कारों की पूर्णता के पश्चात ही हिंदू विवाह को संपन्न माना जाता है।

4- सामाजिक स्वीकृति तथा अधिकार

हिंदू विवाह व्यवस्था को न केवल सामाजिक स्वीकृति और अधिकार प्राप्त हैं, अपितु इसे धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त है। अविवाहित रहना धार्मिक दृष्टि से बहुत बुरा समझा जाता है। वैवाहिक नियमों की अवहेलना करना सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि से गलत होने के साथ साथ इसे धार्मिक दृष्टि से पाप माना जाता है।

5- प्रतीक

हिंदू विवाह व्यवस्था में कुछ ऐसे प्रतीक पाए जाते हैं जो इस बात को पुष्ट करते हैं कि कौन विवाहित है तथा कौन अविवाहित। विवाहित महिलाएं अपनी मांग में सिंदूर लगती हैं तथा यह सिंदूर उनके विवाहित होने का प्रतीक होता है।

4.1.9 हिंदू विवाह के उद्देश्य तथा स्वरूप

हिंदू विवाह को अनेक सामाजिक-धार्मिक कर्तव्यों की परिणति के तौर पर अत्यंत आवश्यक माना गया है। इसके उद्देश्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है –

1- धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए विवाह अत्यंत आवश्यक होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसे धार्मिक कार्य निश्चित और आवश्यक होते हैं, जिनको पूर्ण करने के लिए पत्नी की आवश्यकता पड़ती है।

2- हिंदू विवाह का दूसरा मूल उद्देश्य संतानोत्पत्ति है। धर्मशास्त्रों के अनुसार मोक्ष का मार्ग पुत्र-लाभ से ही प्रशस्त होता है। इसके अलावा पितृ ऋण से उऋण होने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि व्यक्ति विवाह करके उत्तम कोटि की संतान पैदा करे।

3- यौन संतुष्टि को हिंदू विवाह का तीसरा उद्देश्य माना गया है। यौन संबंधों के लिए विवाह की धारणा रखी गई ताकि व्यक्ति असंतुलित तरीके से इन संबंधों की पूर्ति न करे। साथ ही यह धार्मिक आचरण के अनुरूप केवल संतानोत्पत्ति तक ही सीमित रहना चाहिए। अन्य समाजों के विवाहों में इसे प्राथमिक तौर पर आवश्यक माना गया है, परंतु हिंदू विवाह के संदर्भ में यह एक सामान्य उद्देश्य है।

4- हिंदू धर्मग्रंथों में कुल चार प्रकार के पुरुषार्थों की बात की गई है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरुषार्थों की पूर्ति गृहस्थाश्रम के तहत ही की जा सकती है तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश की अनिवार्य शर्त वैवाहिक संबंधों में बंधना होता है। प्रथम तीनों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ और काम) की आपूर्ति के पश्चात ही व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

5- हिंदुओं में कुल पाँच ऋणों की बात की गई है और इसमें से तीन ऋण (देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण) से मुक्त होने के लिए विवाह करना आवश्यक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि विवाह के पश्चात पुत्र उत्पन्न कर ही इन ऋणों से मुक्त हुआ जा सकता है।

6- हिंदुओं में विवाह के पश्चात ही व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है।

7- व्यक्तित्व विकास के लिए विवाह को आवश्यक माना गया है। विवाह के उपरांत व्यक्ति समाज में नवीन प्रस्थिति, भूमिका तथा दायित्वों से अवगत होता है तथा इस प्रकार से स्त्री-पुरुष दोनों ही निर्धारित व आवश्यक कर्तव्यों का निर्वहन करते हैं।

हिंदू विवाह के उद्देश्यों को व्याख्यायित करने के पश्चात यहाँ हिंदू विवाह के प्रमुख स्वरूपों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इन स्वरूपों को लेकर भी अनेक मतभेद हैं, हालांकि मनु द्वारा प्रस्तुत हिंदू विवाह के स्वरूप अधिक महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध हैं। अतः मनु द्वारा बताए गए हिंदू विवाह के आठ स्वरूपों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

1) ब्रह्म विवाह

समस्त हिंदू विवाहों में यह विवाह सबसे उत्तम कोटि का विवाह माना जाता है। इसमें वर-वधू का विवाह माता-पिता की सहमति से प्रसन्नतापूर्वक संपन्न होता है। कन्या का पिता योग्य वर की तलाश करता है तथा उसे अपने घर आमंत्रित करता है और संपूर्ण धार्मिक रीति-रिवाजों को विधिपूर्वक संपन्न करते हुए कन्या को वस्त्र व अलंकारों से सुसज्जित कर दान स्वरूप वर को अर्पित करता है। इस प्रकार के विवाह में मुख्य रूप से तीन आवश्यक तत्व होते हैं –

- माता-पिता की ओर से विवाह की अनुमति।
- धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुरूप विवाह कार्य संपन्न।

- बिना किसी लोभ अथवा हित के कन्या को योग्य वर को दान स्वरूप देना।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि यहाँ प्रयुक्त शब्द 'दान' का अर्थ 'भिक्षा' नहीं है। कन्या का पिता कन्या को पवित्र अग्नि के समक्ष पवित्र दान के रूप में देता है अर्थात् धार्मिक अर्थों में वह एक पवित्र धरोहर होती है।

2) दैव विवाह

दैव विवाह में कन्या का पिता एक यज्ञ की व्यवस्था करता है तथा वस्त्र-अलंकार आदि से सुसज्जित कन्या को वह पिता उस व्यक्ति को देता है, जो यज्ञ संबंधित कार्यों को समुचित ढंग से पूर्ण करता है। प्राचीन काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर यज्ञ और अन्य धार्मिक अनुष्ठान किया करते थे तथा इन धार्मिक कार्यों के लिए उन्हें ऋषि-मुनियों की आवश्यकता पड़ती थी। उन ऋषियों के साथ आए हुए नवयुवक-पुरोहितों में से किसी के साथ वे अपनी कन्या का विवाह कर देते थे। यह विवाह देवताओं की पूजा के समय ही संपन्न कर दिया जाता था तथा यही कारण है कि इस विवाह को दैव विवाह की संज्ञा दी गई। वर्तमान समय में ना ही यज्ञ आदि कार्य संपन्न होते हैं और ना ही इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है।

3) आर्ष विवाह

यह विवाह 'ऋषि' से संबंधित होता है। इस विवाह में वर, कन्या के पिता को एक गाय तथा एक बैल अथवा दो जोड़े देता है तथा पत्नी प्राप्त करता है। प्राचीन काल में ऋषियों का सम्मान, आदर किया जाता था तथा उनमें प्रायः विवाह के प्रति उदासीनता पाई जाती थी। विवाह के लिए इच्छुक ऋषि उक्त सामाग्री कन्या के पिता को उपहार स्वरूप देता था तथा इससे यह निश्चित हो जाता था कि संबंधित ऋषि ने विवाह तथा कन्या को स्वीकार कर लिया है। यह सामग्री कन्या मूल्य के रूप में न होकर वैवाहिक जीवन की निश्चितता का सूचक मानी जाती थी।

4) प्रजापत्य विवाह

इस विवाह को ब्रह्म विवाह के समरूप ही माना जा सकता है। प्रजापत्य विवाह में कन्या का पिता वर और वधू को विवाह जीवन के संबंध में उपयोगी बातें बताता है और कहता है कि दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का पालन करना तथा दोनों सुखी रहो व समृद्ध रहो। ऐसा कहते हुए कन्या का पिता संपूर्ण विधि विधान के साथ कन्या को वर को दान करता है।

5) असुर विवाह

असुर विवाह में वर अपनी इच्छित कन्या के पिता अथवा परिवारजन को कन्याधन देता है और बदले में विवाह करता है। इस विवाह में यह सर्वविदित है कि वर विवाह करने के लिए कन्या-मूल्य चुकाता है। कन्या के कुल व गुण आदि के आधार पर यह कन्या-मूल्य तय किया जाता है तथा यह विवाह के पूर्व ही निर्धारित कर लिया जाता है। यह मूल्य नकद अथवा किसी वस्तु के रूप में हो सकता है।

6) गांधर्व विवाह

गांधर्व विवाह को 'प्रेम विवाह' के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार के विवाह में स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेम अथवा काम के वशीभूत होकर आपसी स्वीकृति से संबंध स्थापित कर लेते हैं। याज्ञवल्क्य ने पारस्परिक स्नेह द्वारा किए जाने वाले विवाह को गांधर्व विवाह की संज्ञा दी है। इस विवाह में माता-पिता की स्वीकृति-अस्वीकृति मायने नहीं रखती है। इसमें विवाह से पूर्व भी स्त्री-पुरुष का शारीरिक संयोग हो सकता है तथा इसके बाद संपूर्ण धार्मिक विधि-विधानों से विवाह कार्य संपन्न किया जा सकता है।

7) राक्षस विवाह

यह विवाह स्त्री के जबरन अपहरण से संबंधित है। लड़ाई करके, छिन कर, कपटपूर्वक अथवा युद्ध में स्त्री का हरण कर किए जाने वाले विवाह को राक्षस विवाह की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के विवाह का प्रचलन उस काल में अधिक था, जब युद्धों का महत्व था तथा स्त्री को विजित पक्ष द्वारा उपहार/पुरस्कार माना जाता था। मनुस्मृति में वर्णित विवरण के अनुसार घर तोड़कर, शोर मचाते हुए, अंग छेदन कर, मारकर, रोती हुई कन्या का जबरन हरण कर किया जाने वाला विवाह, राक्षस विवाह कहा जाता है।

8) पैशाच विवाह

इस विवाह को अत्यंत निम्न कोटि का दर्जा दिया गया है। इस प्रकार के विवाह में सोती हुई अथवा नशे में चूर आदि से जादू अथवा शक्ति के वशीभूत कन्या के साथ बलात् अथवा धोखा देकर यौन संबंध स्थापित कर लिया जाता है तथा बाद में विवाह होकर विवाह संस्कार किया जाता है और समाज द्वारा दोनों को वर-वधू के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। हालांकि यह स्थिति पूर्णतः अन्य तथा दुराचार की है, परंतु स्त्री अपने जीवन को बचाने के लिए विवाह की स्वीकृति विवश होकर दे देती है।
वर्तमान समय में उपरोक्त वर्णित विवाह अपने मूल रूप में विद्यमान नहीं हैं तथा कुछ विवाह तो पूर्ण रूप से ही विलुप्त हो चुके हैं। कुछ विवाह अपने परिवर्तित स्वरूप के साथ आज भी हमारे समाजों में देखने को मिलते हैं।

4.1.10 परिवार: अर्थ, परिभाषा और विशेषताएं

परिवार मानव समाज की आधारशिला होने के साथ साथ समाजीकरण का एक महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक साधन है। यह एक सार्वभौमिक संस्था है। काल चाहे प्राचीन हो अथवा आधुनिक और संसार का कोई भी भाग हो; परिवार की संकल्पना हमें यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलती है। परिवार समाज की प्रथम इकाई होती है, जिसमें कुछ मनुष्य एक साथ मिलकर रहते हैं। इनमें पति-पत्नी और उनकी संतान अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहते हैं। विस्तृत परिवार के रूप में चाचा-चाची, दादा-दादी, चचेरे भाई-बहन आदि शामिल रहते हैं। परिवार का चाहे कोई भी स्वरूप हो, वह एक सामाजिक संस्था है। परिवार की अवधारणा के संबंध में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं, प्रमुख निम्नलिखित हैं –

- **मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार,

  "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन संबंध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"

- **मुरडॉक** के शब्दों में,

  "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन है। इसमें दो विपरीत लिंगों के बालिग सम्मिलित हैं, जिसमें कम से कम दो व्यक्तियों में यौन संबंध होता है और जिन बलिक व्यक्तियों में यौन संबंध होता है, उनके अपने अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे हों।"

- **आगबर्न और निमकाफ** के अनुसार,

  "परिवार लगभग एक स्थाई समिति है, जो पति-पत्नी से मिलकर बनती है, चाहे उनकी संतान हो अथवा न हो। परिवार किसी एक पुरुष अथवा एक स्त्री के अकेले का भी हो सकता है, बशर्ते कि उसके बच्चे अपने साथ हों।"

- **बर्गेस एवं लॉक** के अनुसार,

  "परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के बंधनों से संबद्ध हैं, एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन अपने-अपने क्रमशः सामाजिक कार्य, अंतःक्रिया एवं अंतःसंचार करते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति की रचना करते हैं।"

- **लूसी मेयर** के अनुसार,

  "परिवार एक गृहस्थ समूह है, जिसमें माता-पिता और संतान साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दंपति और उनकी संतान रहती है।"

- **डॉ. दुबे** के शब्दों में,

  "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। उनमें से कम से कम डॉ विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन संबंधों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न संताने मिलकर परिवार का निर्माण करती हैं। इस प्रकार प्राथमिक अथवा मूल परिवार के लिए माता-पिता और उनकी संतान का होना अत्यंत आवश्यक है।"

- **डी.एन. मजूमदार** के अनुसार,

  "परिवार उन व्यक्तियों का समूह है, जो एक ही छत के नीचे निवास करते हैं, जो मूल तथा रक्त संबंधी सूत्रों से संबद्ध रहते हैं तथा स्थान, हित और कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधार पर जाति की जागरूकता रखते हैं।"

- **डबल्यू.एच.आर. रिवर्स** के अनुसार,

  "परिवार शब्द से हमारा तात्पर्य एक छोटे से सामाजिक समूह से होता है, जिसमें माता-पिता तथा बच्चे शामिल हों।"

उक्त वर्णित सभी परिभाषाओं के आलोक में निम्न बिंदुओं को परिवार की अवधारणा के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा सकता है; परिवार एक ऐसा समूह है –

क) जिसमें स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों को समाज द्वारा विधिपूर्वक स्वीकार किया जाता है।

ख) जिसमें यौन संबंध को स्थिरता प्रदान की जाती है।

ग) जिसमें स्त्री-पुरुष किसी एक स्थान पर साथ निवास करते हैं।

घ) जिसमें संतानोत्पत्ति उनके द्वारा होती है तथा उत्पन्न संतान के पालन पोषण की ज़िम्मेदारी भी उनकी होती है।

ङ) जिसमें उत्पन्न संतानों को समाज द्वारा वैधता प्राप्त रहती है।

4.1.11 हिंदू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत स्त्रियों की स्थिति

हिंदू समाज में स्त्रियों को शक्ति, ज्ञान और संपत्ति के प्रतीक के तौर पर सम्मान दिया जाता है। इस रूप में स्त्री को दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी को पूजा जाता है। हिंदू समाज में स्त्री को पुरुष के आधे हिस्से के रूप में समझा जाता है और यही कारण है कि पत्नी को अर्धांगिनी के रूप में मान्यता दी जाती है। किसी भी कर्तव्य की पूर्ति बिना पत्नी के नहीं हो सकती। बहरहाल, विभिन्न युगों में हिंदू समाज में स्त्रियों की स्थिति में काफी उतार-चढ़ाव आए हैं –

- **वैदिक युग**

वैदिक युग में भारतीय समाज की स्त्रियों को वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जो पुरुषों के पास थे। अर्थात् शिक्षा, राजनीति, संपत्ति, धर्म आदि में उनको पुरुषों के ही समान ही अधिकार प्राप्त थे। वैदिक साहित्यों में भी नारी के बारे में काफी सम्मानजनक बातें लिखी गई हैं। ऋग्वेद के अनुसार नारी ही घर है। अथर्ववेद में लिखा गया है कि *"नववधू, तू जिस घर में जा रही है वहाँ की तू साम्राज्ञी है। तेरे स्वसुर, सास, देवर व अन्य तुझे साम्राज्ञी समझते हुए तेरे शासन में आनंदित हैं।"* वहीं यजुर्वेद में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि नारी को उपनयन संस्कार करने के अधिकार प्राप्त थे। इस काल में स्त्रियों के लिए पर्दा प्रथा, बाल विवाह आदि प्रकार की कुरीतियों का लेश मात्र भी अस्तित्व नहीं था। स्त्रियों के विचरण, संबंध आदि पर कोई प्रतिबंध नहीं था, वे अपनी स्वेच्छा से स्वतंत्रतापूर्वक कहीं भी आ जा सकती थीं। स्त्रियों के शील व सम्मान की रक्षा करना सबसे बड़ा धर्म माना जाता था तथा उनका अपमान सबसे बड़ा पाप माना जाता था। हालांकि इन सभी समानताओं के बावजूद वंश विस्तार, पिंडदान तथा तर्पण की वजह से पुत्र-प्राप्ति की इच्छा श्रेष्ठ थी तथा उसे अधिक महत्व दिया जाता था।

- **उत्तर वैदिक युग**

वैदिक काल में सम्मान और अधिकारों की समानता वैदिक काल की अपेक्षाकृत उत्तर वैदिक युग में शनैः शनैः कम से कमतर होती गई। इस काल में बाल विवाह का निर्देश प्रस्तुत किया गया तथा इसने स्त्रियों की दशा में अधोगामी परिवर्तन लाए। स्त्रियों की शैक्षिक दशा में गिरावट आई। उनके लिए वेदों का ज्ञान अर्जित कर पाना धीरे धीरे असामान्य होता गया। उन्हें सामाजिक व धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इसके पीछे मूल रूप से दो कारणों को चिन्हित किया जा सकता है –

1. कर्मकांडों की जटिलता और पवित्रता के मद्देनजर यह विश्वास किया जाने लगा कि किसी भी श्लोक अथवा मंत्र के उच्चारण में तनिक मात्र भी गलती किसी अनिष्ठता को आमंत्रण दे सकती है और इस कारणवश स्त्रियों को उनके अध्ययन और मंत्रोच्चारण से दूर रखा जाने लगा।
2. जब आर्य भारत आए तो वे अपने साथ स्त्रियों को नहीं ले आए थे। परिणामस्वरूप उन्होने अनार्यों की स्त्रियों से विवाह संबंध स्थापित किए और ए स्त्रियाँ धार्मिक-सामाजिक विधि-विधानों से अनभिज्ञ थीं तथा उन्हें आगे भी इनसे पृथक रखना ही उचित समझा गया। विवाह स्त्रियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया, विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगा दिया गया, बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन होने लगा।

- **धर्मशास्त्र युग**

धर्मशास्त्रीय युग के समय को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद पाए जाते हैं। तीसरी शताब्दी से 11वीं शताब्दी तक के काल को हम धर्मशास्त्रीय युग के रूप में मानते हैं। इस काल की प्रमुख रचनाओं में 'विष्णु संहिता', 'पाराशर संहिता, याज्ञवलक्य संहिता' तथा 'मनुस्मृति' शामिल हैं। इस काल में स्त्रियों की स्थिति में और भी गिरावट आई तथा वे सामाजिक-धार्मिक संकीर्णता का शिकार हुई। स्त्रियों के लिए विवाह एक मात्र संस्कार रह गया तथा उसका पति ही उसका परमेश्वर; इस प्रकार की धारणाएं इस काल में विकसित हुई। मनुस्मृति ने तो स्त्रियों के अधिकारों को पूरी तरह से ही सीमित कर दिया। मनुस्मृति के अनुसार स्त्रियाँ कभी भी स्वतंत्र रहने के योग्य नहीं होती हैं। बचपन में उसे पिता के अधिकार में रहना चाहिए, युवावस्था में पति के अधीन रहना चाहिए तथा वृद्धावस्था में उसे पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिए।

- **मध्य काल**

16वीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक के समय को मध्य काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में विशेषकर मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद स्त्रियों की दशा में जो अधोगामी परिवर्तन हुए, ए परिवर्तन संभवतः अभी तक के भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को सबसे निम्न कोटि पर लाकर खड़ा कर दिया। स्त्रियों की दशा में आए इस पाटन को संभवत पूरा सामाजिक इतिहास सदैव याद रखेगा। 11वीं शताब्दी के आरंभ से ही मुसलमानों के आक्रमणों और आगमन ने भारतीय संस्कृति को खतरे में लाकर रख दिया और परिणामस्वरूप ब्राह्मणों ने संस्कृति की रक्षा, स्त्रियों के सतीत्व और रक्त की षिद्धता को बनाए रखने के लिए स्त्रियों के प्रति बनाए गए पूर्व के कानून और निषेधों को और भी अधिक कठोर कर दिया। इस युग में 5-6 वर्ष की आयु में ही विवाह किए जाने लगे, पर्दा प्रथा अपने चरम पर थी, सती

प्रथा का जन्म हुआ, बहुपत्नी को प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। इस प्रकार से स्त्रियों को अपने अधीन रखा जाने लगा तथा उन्हें अपने अस्तित्व के लिए पुरुषों पर ही निर्भर रहना पड़ा। हालांकि संपत्ति संबंधी अधिकारों में थोड़े परिवर्तन हुए। जिन स्त्रियों के भाई नहीं थे, उन्हें अपने पिता की संपत्ति में अधिकार प्राप्त थे।

- **ब्रिटिश काल**

ब्रिटिश काल में भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार नहीं हुए, क्योंकि ब्रिटिश सरकार के लिए स्त्रियों का शोषित बने रहना ही अधिक हितकर था। अतः उनके द्वारा स्त्रियों की दशा में परिवर्तन लाने हेतु किसी प्रकार के प्रयास नहीं किए गए। हालांकि इस काल में भारतीय समाज सुधारकों द्वारा कई समाज सुधार आंदोलन चलाए गए, जिसने स्त्रियों की स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार किए। बाल विवाह पर रोक लगाई गई, पर्दा प्रथा के उन्मूलन को महत्व प्रदान किया गया, सती प्रथा को समाप्त किया गया तथा साथ ही स्त्रियों की शैक्षिण-सामाजिक तथा आर्थिक-राजनीतिक में सुधार हेतु भी प्रयत्न किए गए।

यहाँ स्त्रियों की प्रमुख समस्याओं को संक्षेप में रखने का प्रयास किया जा रहा है –

1. शिक्षा का अभाव /और निरक्षरता
2. बाल विवाह
3. दहेज
4. घरेलू हिंसा
5. निर्णय लेने की क्षमता का अभाव
6. विविध अधिकारों से वंचित
7. आर्थिक निर्भरता
8. सार्वजनिक जीवन में न्यून सहभागिता
9. रूढ़िवादिता, अंधविश्वास के कारण स्त्रियों के प्रति हीनता का दृष्टिकोण
10. समाज का उनके प्रति दोयम मानदंड
11. बालिका शिशु हत्या व भ्रूण हत्या
12. घर व कार्यस्थलों पर यौन शोषण
13. देह व्यापार
14. संवैधानिक व कानूनी प्रावधानों के बारे में जानकारी का न होना

4.1.12 सारांश

इस इकाई में हिंदू सामाजिक व्यवस्था तथा उसके प्रमुख स्तंभों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया है। हिंदू संस्कृति सदैव से ही अत्यंत व्यापक रही है तथा यही कारण है कि अनेक संस्कृतियों का मिलन इस संस्कृति में समय समय पर हुआ। समय के साथ साथ और अनेक कारणों से हिंदू सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए हैं और इसका परंपरागत स्वरूप परिवर्तित हुआ है। इसके बावजूद यह संस्कृति अपनी निरंतरता पर कायम है और अपनी अनुपमता व विशिष्टता के लिए संसार में विख्यात है।

4.1.13 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर एक संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 2: परिवार क्या है? साथ ही इसकी विशेषताओं को विस्तार से समझाएं।

बोध प्रश्न 3: हिंदू विवाह के बारे में वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 5: ऐतिहासिक भारत में महिलाओं की स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 6: टिप्पणी कीजिए –

क) जाति व्यवस्था

ख) वर्ण व्यवस्था

ग) ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम

घ) वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम

4.1.14 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. शर्मा, के.एल. (2008). *इंडियन सोशल स्ट्रक्चर एण्ड चेंज*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
2. चन्द्र, स.श. (2002). *भारतीय सामाजिक संरचना*. नई दिल्ली: कनिष्का पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स.
3. देसाई, न. (1957). *वुमन इन माडर्न इंडिया*. बॉम्बे: वोरा एंड कंपनी.
4. पाण्डेय, ग. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा प्रकाशन.
5. पैट्रिसिया, यू. (1997). *फैमिली, किनशिप एंड मैरिज इन इंडिया*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस इंडिया.
6. कपाड़िया, के.एम. (1966). *मैरिज एंड फैमिली इन इंडिया*. ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. वेस्टरमार्क, ई. (1891). *द हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज*. न्यूयॉर्क: मैकमिलन.
8. रिवर्स, डबल्यू.एच.आर. (1968). *किनशिप एंड सोशल ऑर्गनाइज़ेशन*. लंदन: ब्लूम्सबरी एकेडमिक.
9. दूबे, एस.सी. (2005). *इंडियन सोसाइटी*. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट.

10. अल्टेकर, ए.एस. (1962). *द पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

11. देसाई, न. एवं कृष्णराज, म. (1987). *वुमन एंड सोसाइटी इन इंडिया*. दिल्ली: अजंता.

12. देसाई, न. एवं पटेल, व. (1985). *इंडियन वुमेन: चेंग एंड चेलेंज इन द इन्टरनेशनल डिकेड*. बॉम्बे: पोपुलर प्रकाशन.

13. देसाई, के. (2011). *इंडियन लॉ ऑफ मैरिज एंड डाइवोर्स*. लेक्सिस नेक्सिस इंडिया.

14. आहूजा, र. (1992). *राइट्स ऑफ वुमन: ए फेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

15. आहूजा, र. (1993). *इंडियन सोशल सिस्टम*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

16. मिश्र, स. (1996). *भारतीय स्त्रियों की प्रस्थिति*. दिल्ली: शारदा पब्लिशिंग हाउस.

17. आहूजा, र. (1995). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशन.

18. परमार, श. (2015). *नारीवादी सिद्धांत और व्यवहार*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड.

इकाई 2 मुस्लिम सामाजिक संगठन: अवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

4.2.1 उद्देश्य
4.2.2 प्रस्तावना
4.2.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन
4.2.4 मुस्लिम विवाह: अर्थ एवं परिभाषाएं
4.2.5 मुस्लिम विवाह के अनिवार्य तत्व तथा प्रकार
4.2.6 मुस्लिम विवाह-विच्छेद
4.2.7 मुस्लिम समाज में परिवार
4.2.8 मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति तथा समस्याएं
4.2.9 सारांश
4.2.10 बोध प्रश्न
4.2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.2.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

10. मुस्लिम सामाजिक संगठन के अर्थ और परिभाषाओं की विवेचना कर पाने में।
11. मुस्लिम विवाह और उसके प्रकारों को जान पाने में।
12. मुस्लिम विवाह-विच्छेद के बारे में समझ विकसित कर पाने में।
13. मुस्लिम समाज के संदर्भ से परिवार की संकल्पना को समझने में।
14. मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति तथा समस्याओं के बारे में जानकारी हासिल कर सकने में।

4.2.2 प्रस्तावना

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था इस्लाम धर्म पर आधारित है तथा इस्लाम धर्म, सनातनी अरबी धर्म का संशोधित रूप है। अतः आधुनिक मुस्लिम सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्राचीन अरबी व्यवस्थाओं की छाप स्पष्ट तौर पर परिलक्षित की जा सकती है।

4.2.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन

हिंदू सामाजिक व्यवस्था का संचालन, निर्धारण और निर्देशन विभिन्न स्मृतियों, वेदों, पुरानों, ग्रंथों आदि से होता है, जबकि मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था पूर्ण रूप से एक ही ग्रंथ पर आधारित है और वह ग्रंथ है कुरान। हालांकि भारतीय मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था पर हिंदू सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव को भी हम अवलोकित कर सकते हैं।

4.2.4 मुस्लिम विवाह: अर्थ एवं परिभाषाएं

मुस्लिम समाज में विवाह को 'निकाह' के नाम से जाना जाता है। यह एक प्रकार की शर्तहीन दीवानी समझौता होता है जो स्त्री-पुरुष के लैंगिक संबंधों पर आधारित होता है तथा इसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति और उत्पन्न संतान को वैधता प्रदान करना है। कुछ विद्वानों द्वारा परिभाषित मुस्लिम विवाह को परिभाषित किया गया है, जो अधोलिखित है –

- **डी.एफ़. मुल्ला** के शब्दों में,

  "निकाह एक विशिष्ट समझौता है, जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।"

- **के.एम. कपाड़िया** के अनुसार,

  "इस्लाम में विवाह एक संविदा है, जिसमें दो साक्षियों के हस्ताक्षर रहते हैं। इस संविदा का प्रतिफल 'मेहर' अर्थात् वधू को भेंट दी जाती है।"

- **अमीर अली** के अनुसार, *"मुस्लिम विवाह एक कानूनी समझौता है, जिसके लिए न तो किसी पुरोहित/मुल्ला की आवश्यकता है और न ही किसी कर्मकांड की।"*

- **हेडया** के शब्दों में,

"मुस्लिम विवाह एक समझौता है, जिसका उद्देश्य यौन-संबंधों और बच्चों के जन्म को कानूनी रूप देना है तथा समाज के हित में पति-पत्नी और उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकारों व कर्तव्यों को निर्धारित करके सामाजिक जीवन का नियमन करना है।"

उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि मुस्लिम विवाह, हिंदू विवाह की तरह कोई धार्मिक संस्कार नहीं है, अपितु यह एक समझौता है, जो पति-पत्नी के रूप में स्त्री-पुरुष को साथ रहने और वैध संतान उत्पन्न करने की स्वीकृति प्रदान करता है।

4.2.5 मुस्लिम विवाह के अनिवार्य तत्व तथा प्रकार

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि मुस्लिम विवाह एक विशिष्ट समझौता होता है; इस समझौते के लिए कुछ अनिवार्य तत्व भी निर्धारित किए गए हैं, जो निम्नलिखित हैं –

क) प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति

इसमें एक पक्ष से प्रस्ताव आता है तथा दूसरा पक्ष उस प्रस्ताव को स्वीकृति देता है। प्रस्ताव प्रेषित करने वाला पक्ष प्रायः वर पक्ष ही होता है तथा स्वीकृति देने वाला पक्ष वधू पक्ष होता है। यहाँ अनिवार्य शर्त यह है कि यह प्रस्ताव दो पुरुषों अथवा एक पुरुष तथा दो स्त्रियों की उपस्थिति में आना चाहिए तथा इस प्रस्ताव की स्वीकृति संबंधी सूचना शीघ्र ही दे दी जाए। स्वीकृति के दौरान ही निकाह के लिए निश्चित समय निर्धारित किया जाता है तथा यदि निर्धारित किए गए समय पर निकाह संपन्न न हो, तो वह निकाह अवैध हो जाता है। ए पुरुष और स्त्रियाँ इस बात की गवाह रहती हैं कि यह निकाह पूर्व की आवश्यक शर्तों के अनुरूप तय किया जा रहा है।

मुस्लिम विवाह एक समझौता होता है, परंतु यहाँ किसी लिखा-पढ़ी की आवश्यकता नहीं होता है। निकाह के लिए गवाह जरूरी होते हैं तथा यदि गवाह न हों तो वह विवाह अनियमित हो जाता है, अवैध नहीं। बाद में गवाहों की उपस्थिति में निकाह को नियमित बनाया जा सकता है। वहीं सिया कानून के अनुसार निकाह में किसी गवाह की आवश्यकता नहीं होती है।

ख) विवाह-संविदा करने की क्षमता

यहाँ क्षमता का तात्पर्य शारीरिक परिपक्वता से है। मुस्लिम विवाह तभी संपन्न हो सकता है जब वर तथा वधू दोनों बालिग हों। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि दोनों में से कोई भी मानसिक रूप से विकृत न हो। यह ध्यान देने वाली बात है कि यदि संरक्षक चाहे तो नाबालिग और विकृत मस्तिष्क वालों का निकाह अपनी निगरानी व स्वीकृति में करवा सकता है।

ग) बाधाओं का अभाव

यहाँ कुछ ऐसी बाधाओं के बारे में भी बताया गया है जो निकाह को अयोग्य बनाती हैं। मुस्लिम कानून के अनुसार इन्हें विवाह की शर्तों के रूप में प्रस्तुत गया है –

- एक मुस्लिम स्त्री, एक समय में, एक से अधिक पुरुषों से विवाह नहीं कर सकती अर्थात् बहुपति विवाह निषेध है।
- अत्यंत निकट रक्तसंबंधियों के साथ विवाह संबंध नहीं स्थापित किए जा सकते हैं। कोई व्यक्ति माता अथवा दादी, पुत्री अथवा नातिन, पिता की पत्नी अथवा पिता-पक्ष के बाबा की पत्नी, पुत्र की पत्नी, पुत्र के पुत्र की पत्नी के साथ वैवाहिक संबंध नहीं स्थापित कर सकता। चचेरी अथवा सौतेली बहन से विवाह किया जा सकता है।
- यदि कोई बच्चा उसकी माँ का दूध पीता है तो वह उस व्यक्ति का भाई अथवा बहन समझा जाता है और उनके साथ विवाह संबंध रखना वर्जित है।
- पुरुष के लिए पाँचवीं स्त्री से विवाह करना निषिद्ध माना गया है। अर्थात् एक मुस्लिम पुरुष एक समय में चार स्त्रियों के साथ वैवाहिक संबंध रख सकता है तथा पाँचवी स्त्री से विवाह करने के लिए उसे चार बीबियों में से किसी एक को तलाक देना होगा।

- शिया कानून के अनुसार विवाह के लिए दोनों पक्षों का मुस्लिम होना अनिवार्य है। यदि कोई एक पक्ष गैर-मुस्लिम समाज का है तो निकाह अवैध माना जाएगा। सुन्नी कानून में इस प्रकार के अवैध विवाह को वैध कराने के लिए भी प्रावधान है जो उस गैर-मुस्लिम समाज की स्त्री अथवा पुरुष को इस्लाम स्वीकार करने से पूर्ण होता है।
- इद्दत कर रही स्त्री के साथ होने वाले निकाह को अनियमित निकाह माना जाता है। इद्दत की अवधि तीन मासिक धर्मों तक की होती है तथा प्रत्येक मासिक धर्म पर तलाक देने की बात कहने से तीन मास के पश्चात तलाक पूर्ण हो जाता है। इन्हीं तीन मसिख धर्मों के समय को इद्दत कहा जाता है तथा इस दौरान पति-पत्नी सहवास क्रिया नहीं करते हैं।
- यदि वर पक्ष द्वारा वधू पक्ष को 'मेहर' न दिया जाए तो भी निकाह वैध नहीं माना जाता है।

उक्त रुकावटों के बिना होने वाले निकाह को वैध निकाह की श्रेणी में रखा जाता है। मुस्लिम कानून के अनुरूप होने वाले निकाह के प्रकार निम्नलिखित हैं –

a. वैध विवाह

यह विवाह पूरी तरह से मुस्लिम कानून के शर्तों तथा नियमों के अनुरूप संपन्न होता है तथा इसे मुस्लिम समाज में पूर्ण रूप से वैधानिक दर्जा दिया जाता है।

b. अवैध/बातिल विवाह

यह विवाह मुस्लिम कानून की आवश्यक शर्तों और नियमों के विरुद्ध होता है तथा यही कारण है कि इस प्रकार के विवाह को मुस्लिम समाज द्वारा स्वीकृत नहीं दी जाती है। यह विवाह संपन्न हो जाने के बाद भी प्रभावहीन ही रहता है।

c. फ़ासिद विवाह

ए वे अनियमित प्रकार के विवाह हैं जिन्हें बाद में मुस्लिम कानून की आवश्यक शर्तों को पूरा करके नियमित बनाया जाता है। इस प्रकार के विवाह का आधार तो कानून के अनुरूप ही होता है परंतु किसी औपचारिक विधि की पूर्णता न हो पाने से ए अनियमित हो जाते हैं। बाद में उन कमियों को दूर कर इस विवाह को नियमित बनाया जा सकता है।

मुसलमानों में उक्त वर्णित तीन विवाहों के अतिरिक्त 'मुताह विवाह' भी पाया जाता है। यह विवाह वास्तव में अस्थाई विवाह होता है।

4.2.6 मुस्लिम विवाह-विच्छेद

चूंकि मुस्लिम विवाह एक संविदा है अतः इसे तोड़ना अर्थात् तलाक को मुस्लिम समाज में न्याय-संगत माना गया है। हिंदुओं की तरह मुसलमानों में विवाह कोई जन्म-जन्मांतर का संबंध नहीं होता

है और ना ही यह कोई धार्मिक संस्कार होता है। मुस्लिमों में विवाह-विच्छेद को एक सरल घटना माना जाता है तथा यह प्रक्रिया संभवतः अन्य सभी समाजों की तुलना में अधिक छूट है। हालांकि व्यावहारिक जीवन में मुस्लिम विवाहों में भी काफी स्थिरता देखने को मिलती है। हालांकि यहाँ भी पुरुषों को महिलाओं की तुलना में अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त हैं। यदि पुरुष चाहे तो मात्र तलाक-तलाक के उच्चारण से भी स्त्री से तलाक ले सकता है, परंतु स्त्री को तलाक लेने के लिए पुरुष को दोषी साबित करवाना होगा।

मुस्लिम समाज में विवाह-विच्छेद का प्रथागत तरीका ही प्रचलित है, प्रमुख अधोलिखित हैं–

1- तलाक

मुस्लिम कानून के अनुसार कोई भी पुरुष, जो बालिग हो और मानसिक तौर पर स्वस्थ हो, अपनी पत्नी से जब चाहे बिका किसी कारण का जिक्र किए तलाक ले सकता है। तलाक लिखित अथवा अलिखित किसी भी रूप में हो सकता है। लिखित तलाक के लिए तलाकनामा की आवश्यकता पड़ती है, जबकि अलिखित तलाक के लिए तलाक का उच्चारण मात्र ही काफी है। यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है कि यदि तलाक-तलाक का उच्चारण नशे की हालत में किया जाता है तो भी तलाक वैध रहता है। यह उच्चारण पत्नी की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से प्रभावित नहीं होता है। इस स्थिति में काजी के पास जाकर तलाकनामा देना होता है और तलाक संपन्न हो जाता है। तलाक यदि पत्नी की अनुपस्थिति में लिया जाता है तो उसका नाम भी उच्चरित किया जाना आवश्यक होता है, अन्यथा नहीं। मुसलमानों में लिखित तथा अलिखित तलाक के कुल तीन प्रकारों के बारे में वर्णन किया गया है –

i) तलाक-ए-अहसन

तलाक के इस स्वरूप में पत्नी के 'तुहर' काल (मासिक धर्म के समय) के दौरान पति एक बार तलाक की घोषणा करता है तथा इद्दत की अवधि तक शारीरिक संबंध नहीं बनाता है। इसके बाद जैसे ही इद्दत की अवधि समाप्त होती है, उसकी समाप्ती के साथ ही विवाह संबंध भी समाप्त हो जाता है।

ii) तलाक-ए-हसन

इसमें पत्नी के तीन 'तुहर' काल तक पति एक बार तलाक की घोषणा दोहराता रहता है तथा तीन तुहरों की अवधि तक शारीरिक संबंध नहीं बनाता है। इसके बाद तीसरे तुहर पर पति पुनः तलाक की घोषणा को दोहराता है तथा इसके बाद यह तलाक पूर्ण हो जाता है।

iii) तलाक-उल-बिद्दत

यह तलाक का सबसे आसान तरीका है। इसमें पति को तुहर के समय केवल एक बार स्पष्ट तौर पर तलाक की घोषणा करनी होती है और तलाक को मान लिया जाता है। घोषणा करने के दौरान किसी भी गवाह की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से कोई फर्क नहीं पड़ता है। कभी-कभी एक ही तुहर में पति द्वारा तीन बार तलाक की घोषणा कुछ समय के अंतर कर कर देने से भी तलाक पूर्ण हो जाता है।

2- इला

इसमें पति कसम खाकर चार महीने तक पत्नी के साथ शारीरिक संबंध नहीं रखने की प्रतिज्ञा करता है, तो अवधि पूर्ण होने के पश्चात तलाक पूर्ण मान लिया जाता है। वहीं इसके विपरीत यदि पति इस अवधि के दौरान पत्नी के साथ शारीरिक संबंध बना लेता है, तो यह इला टूट जाती है तथा विवाह संबंध बना रहता है।

3- जिहर

यह तलाक अदालत द्वारा कराया जाता है। 'जिहर' शब्द का अर्थ होता है 'गैर कानूनी तुलना द्वारा तलाक'। यदि पति अपनी पत्नी की तुलना किसी ऐसे संबंधी से करता है जिससे वैवाहिक संबंध रखना निषिद्ध है, तो यह तुलना कुरान शरीफ द्वारा ठीक नहीं समझी जाती है और इसके बाद पत्नी अपने पति से प्रायश्चित करने को कहती है। प्रायश्चित न करने पर पत्नी अदालत से तलाक की मांग कर सकती है।

4- खुला

तलाक के इस स्वरूप में पत्नी द्वारा पति से तलाक की मांग की जाती है तथा उसे इस तलाक के एवज में पति को कुछ 'प्रतिफल' देना पड़ता है। इस प्रतिफल में वह 'मेहर' की रकम वापस कर सकती है अथवा किसी अन्य रूप में क्षतिपूर्ति पेश कर सकती है। पति को प्रतिफल देने के पश्चात पत्नी विवाह बंधन से मुक्त हो जाती है।

5- मुबारत

यह पति और पत्नी दोनों की आपसी सहमति से किया जाता है। तलाक के इस प्रकार में किसी प्रकार के प्रतिफल की संकल्पना नहीं है।

6- लियान

इसमें पति अपनी पत्नी पर व्यभिचार और चरित्रहीन होने का आरोप लगता है और पति द्वारा आरोप वापस न लेने की दशा में पत्नी चाहे तो अदालत में तलाक के लिए अर्जी दे सकती है तथा तलाक ले सकती है। ऐसी दशा में यदि पति द्वारा लगाया गया आरोप वापस ले लिया जाता है तो मुकदमा समाप्त हो जाता है।

7- तलाक-ए-तफ़वीज

इसमें तलाक की मांग पत्नी द्वारा की जाती है तथा यह मांग पत्नी द्वारा विवाह के समय प्राप्त अधिकारों के आधार पर की जाती है।

4.2.7 मुस्लिम समाज में परिवार

मुस्लिम समाजों में भी हमेशा से परिवार संस्था महत्वपूर्ण रही है। मुस्लिम परिवार धर्म से प्रभावित और निर्देशित होने वाली संस्था है उनके सभी नियम, यथा – परिवार का संगठन, विवाह-पद्धति, उत्तराधिकार का नियम, पारिवारिक सदस्यों में आपसी संबंध, पारस्परिक सहायता के नियम, विधवा तथा अपंग जनों की सुरक्षा आदि, कुरान में लिखी गई आयतों के ही अनुरूप हैं। मुस्लिम परिवार की प्रमुख विशेषताओं के बारे में यहाँ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

क) संयुक्त परिवार व्यवस्था

मुस्लिम धर्मग्रंथ कुरान में संयुक्त परिवार को उत्तम कोटि का परिवार माना गया है। इसी कारण मुसलमान समाजों में संयुक्त परिवारों की संख्या प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इस्लाम धर्म के अनुसार प्रत्येक मुसलमान पुरुष को चार पत्नियाँ रखने का अधिकार है और ऐसी स्थिति में संतानों की संख्या में स्वतः ही अधिकता हो जाती है। संयुक्त परिवार व्यवस्था होने के कारण परिवार में पिता-माता, पुत्र, उसका पुत्र और उनसे संबंधित स्त्रियाँ तथा अन्य रिश्तेदार शामिल रहते हैं। परिवार के वृद्ध व्यक्ति को विशिष्ट सम्मान दिया जाता है और परिवार का मुखिया भी वही रहता है तथा परिवार के अन्य सभी सदस्य मुखिया के आदेशों का पालन पूरी निष्ठा के साथ करते हैं। सभी के निवास स्थान एक होते हैं और भोजन के लिए रसोई भी एक ही प्रयोग में लाई जाती है।

हालांकि परिवर्तन की चपेट में मुस्लिम संयुक्त परिवार भी आए हैं और नगरीकरण, औद्योगीकरण आदि कारकों के कारण मुसलमानों में भी एकाकी परिवारों का प्रचलन धीरे धीरे बढ़ ही रहा है।

ख) पितृसत्तात्मक व्यवस्था

मुसलमानों के परिवार भी हिंदुओं की तरह ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था से संचालित रहते हैं। परिवार का मुखिया एक पुरुष ही होता है तथा उसके आदेशानुसार परिवार के अन्य सदस्य कार्य करते हैं। सदस्यों की सुरक्षा तथा संरक्षण संबंधी सभी निर्णय पुरुष मुखिया द्वारा ही लिए जाते हैं। तलाक संबंधी अधिकार भी स्त्रियों की तुलना में पुरुषों को अधिक प्राप्त हैं। परिवार में बच्चों को प्राप्त होने वाली शिक्षा तथा सुविधाओं के लिए पुरुष सदस्य ही नीति-निर्माण का कार्य करते हैं तथा किसी भी निर्णय अथवा नियोजन में पुरुषों की भूमिका सर्वोपरि रहती है। विवाह के उपरांत स्त्री अपने पति के निवास स्थान पर रहने को जाती है और वंश का नाम भी पिता से पुत्र की ओर चलता है।

ग) बहु-पत्नी विवाह

मुसलमानों की यह प्रथा हिंदुओं से अलग है। जहां हिंदुओं में एक विवाह को मान्यता दी जाती है, वहीं मुसलमानों को एक साथ चार पत्नियाँ रखने के अधिकार प्राप्त हैं। कई संपन्न परिवारों के लिए एक से अधिक स्त्रियाँ रखना प्रतिष्ठा का सूचक रहता है। यहाँ इस बात का आवश्यक ध्यान देना चाहिए कि चार पत्नियों को एक साथ रखने पर पुरुष पर एक नियंत्रण की बात की गई है और वह नियंत्रण सभी पत्नियों के साथ समान व्यवहार करने के रूप में है। सभी पत्नियों को समान स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

हालांकि शिक्षा और अन्य परिवर्तनों के कारण एक से अधिक पत्नियाँ रखना आज के समय में अधिक प्रासंगिक नहीं रह गया है। इसके अलावा बहू-पत्नी विवाह को गैर-कानूनी भी माना गया है। अतः वर्तमान समय में एक पत्नी विवाह का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है।

घ) सदस्यों की पारिवारिक स्थिति में असमानता

मुस्लिम समाज में पाई जाने वाली परिवार व्यवस्था में सभी सदस्यों को समान रूप से प्रस्थिति प्राप्त नहीं रहती है। आयु की दृष्टि से ही परिवार के सदस्यों को प्रस्थिति प्राप्त होती है। अधिक आयु के लोगों को उच्च परिवारिक स्थिति तथा कम आयु वाले को निम्न पारिवारिक स्थिति प्राप्त होती है। आयु

के कारण ही पिता को मुखिया का स्थान मिलता है और परिवार में सबसे उच्च पारिवारिक प्रस्थिति प्राप्त होती है। हालांकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था होने के कारण माता का स्थान पारिवारिक प्रस्थिति की दृष्टि से गौंण होता है। यही कारण है कि पारिवारिक निर्णयों में पुरुषों की राय को महत्वपूर्ण समझा जाता है और स्त्रियों की राय नहीं ली जाती है। पारिवारिक स्थिति में पुरुष सदैव स्त्रियों से उच्च रहते हैं।

ङ) स्त्री-पुरुष में पृथकता

मुस्लिम परिवारों में पर्दा प्रथा का प्रचलन है और परिवार की स्त्रियाँ अपने बड़ों से, विभिन्न रिश्तेदारों से तथा बाहर के लोगों से पर्दा करती हैं। घर से बाहर निकालने पर स्त्रियों को बुर्के का प्रयोग करना पड़ता है, ताकि महिलाओं का कोई भी अंग दिखाई नहीं देना चाहिए। मुसलमानों में स्त्री और पुरुष के रहने के स्थान भी अलग अलग होते हैं; स्त्रियों के रहने वाले स्थान को जनानाखाना और पुरुषों के रहने वाले स्थान को मर्दानाखाना कहा जाता है। इसका उल्लंघन केवल आर्थिक तंगी की दशा में ही किया जाता है। मुस्लिम परिवारों में घर के दरवाजों पर पर्दे लगे रहते हैं। पूर्वजों द्वारा अनुपालित की जाने वाली परंपराओं के प्रति मुसलमानों में काफी आस्था देखने को मिलती है तथा वे उन व्यवहारों के पालन में अपनी विशिष्ट रुचि दिखाते हैं। वे अपने रीति-रिवाज, भाषा, व्यवहार के तरीके और जीवन-पद्धति को निरंतर बनाए रखने में अपना गौरव समझते हैं। यह निरंतरता पिता से पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र को सांस्कृतिक विरासत के तौर पर पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। इस प्रकार से मुस्लिम परिवार की संस्कृति और उसके प्रतिमान निरंतर बने हुए हैं।

च) परिवार की संरचना में धर्म की प्रधानता

मुस्लिम परिवार पर धर्म का प्रभाव स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होता है। धर्म के आधार पर ही परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों को पूरी निष्ठा के साथ निभाता है तथा परिवार में सद्भावना बनाए रखता है। समस्त पारिवारिक सदस्यों के मार्गदर्शन का कार्य कुरान शरीफ करता है। इसी वजह से सभी धार्मिक क्रियाकलाप संपन्न करते हैं, यथा – दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना, रमजान के महीने में व्रत रखना, गरीब और अपंगों की सहायता व दान आदि देना, हज पर जाना आदि। कुरान में लिखा गया है कि जो लोग अल्लाह के बताए गए रास्ते पर नहीं चलते हैं, उन्हें जन्नत नसीब नहीं होती, वे दंड के भागी होते हैं और जो लोग अल्लाह के बताए गए रास्ते पर चलकर पारिवारिक कर्तव्यों को पूरी निष्ठा के साथ निभाते हैं, वे अल्लाह के प्यारे होते हैं तथा उन्हें जन्नत नसीब होती है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों में धर्म के प्रभाव और विश्वास ने पारिवारिक व्यवस्था को संरचनात्मक दृढ़ता प्रदान किया है।

4.2.8 मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति तथा समस्याएं

हिंदू सामाजिक व्यवस्था की तरह ही मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था भी काफी उतार-चढ़ाव से गुजरी है। एक ओर उसमें हम अरबी सभ्यता की छाप स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं, तो वहीं दूसरी ओर मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था में हिंदू सभ्यता के तत्व भी कमोबेश रूप में दिखाई देते हैं। इस इकाई में मुस्लिम समाज पर प्रस्तुत की गई व्याख्या से यह तो स्पष्ट है कि मुस्लिम स्त्रियों को स्वतंत्रता तथा अधिकारों से प्रायः वंचित ही रखा गया है।

समान्यतः सैद्धांति और व्यावहारिक धरातल में काफी अंतर देखने को मिलता है, तो मुस्लिम महिलाओं की व्यावहारिक स्थिति जानने के लिए उनके समक्ष उत्पन्न होने वाली गंभीर समस्याओं को जानना आवश्यक है। इस प्रकार से उनकी समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए हम मुस्लिम स्त्रियों की दशा के बारे में और भी संज्ञान प्राप्त कर सकेंगे –

1. तलाक संबंधी अधिकार

तलाक और उससे संबंधी अधिकार मुस्लिम स्त्रियों के लिए एक गंभीर समस्या बना हुआ है। इस मामले में स्त्रियों को ना ही समान अधिकार प्राप्त हैं और ना ही स्वतंत्रता। मुस्लिम पुरुष जब चाहे तब स्त्री से तलाक ले सकता है, भले ही इस बारे में स्त्री को पता हो अथवा न हो। इन मामलों में स्त्री अपने आपको परिवार में असहाय के रूप में पाती है।

2. धार्मिक कट्टरता

मुस्लिम समाज की धार्मिक कट्टरता भी स्त्रियों की स्थिति को बेहतर बनाने के मार्ग में अवरोधक सिद्ध होती है। आज भी मुस्लिम क़ानूनों का आधार इस्लाम धर्म है और उन क़ानूनों में संशोधन करना धर्म के विरुद्ध जाना माना जाता है। इसके विपरीत हिंदुओं में समय-समय पर कानूनी तौर पर अनेक परिवर्तन किए गए और ए परिवर्तन स्त्रियों की स्थित को समाज में ऊंचा उठाने में सहायक भी साबित हुए हैं। जबकि मुसलमानों में इस प्रकार के परिवर्तनों का पुरजोर विरोध किया जाता है और इस प्रकार से स्त्रियों को मिलने वाले अधिकारों और स्वतंत्रता से उन्हें वंचित कर दिया जा रहा है।

3. बहु-पत्नी विवाह

मुस्लिम समाजों में उनका धर्म एक पुरुष को चार पत्नियाँ रखने का अधिकार देता है और साथ ही इस बात पर भी ज़ोर देता है कि सभी पत्नियों को समतापूर्ण अधिकार होने चाहिए। परंतु व्यावहारिक तौर पर ऐसा नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप स्त्रियों को पूर्ण रूप से पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता है। स्वयं और अपने बच्चों को उचित अधिकार दिलाने के लिए मुस्लिम स्त्रियों को कठिन संघर्ष करना पड़ता है।

4. पर्दा-प्रथा

मुस्लिम समाज में पर्दा प्रथा का पालन आजीवन करना पड़ता है। मुसलमानों में पर्दा प्रथा का स्वरूप इतना जटिल है कि वयो-वृद्ध महिला को भी बाहर जाने के लिए पर्दे में रहना अनिवार्य है। मुस्लिम समाज की स्त्रियों की स्थिति शिक्षा, राजनीति और धार्मिक क्रियाओं आदि में निम्न है। वर्तमान समय में शिक्षा को लेकर लोगों में जागरूकता बढ़ी है तथा कुछ प्रगतिशील मुसलमानों ने

महिला शिक्षा को लेकर प्रयास जरूर किए हैं। परंतु आज भी कुल जनसंख्या में उनका प्रतिशत नगण्य समान ही है।

5. सामाजिक अधिकारों की अव्यवहारिकता

ज्ञातव्य है कि मुस्लिम स्त्रियों को सामाजिक जीवन में अनेक अधिकार प्राप्त हैं, परंतु ए अधिकार सैद्धांतिक धरातल से व्यावहारिक जीवन में नहीं आ पाए। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि अधिकांश मुस्लिम स्त्रियों को उनके अधिकारों के बारे में जानकारी ही नहीं हो पाती है। मुस्लिम धर्म के अनुसार विधवा स्त्री को भी निम्न स्थिति पर रखा गया है तथा समान्यतः उन्हें पुनर्विवाह के अवसर नहबीन प्राप्त हो पाते हैं। आर्थिक क्षेत्रों में स्त्रियाँ पूरी तरह से पुरुषों पर निर्भर रहती हैं तथा यही कारण है कि वे स्वयं के शोषण के विरूद्ध आवाज नहीं उठा पाती। वर्तमान समय में निकाह के पूर्व स्वीकृति की रस्म निभाई जाती है तथा प्रायः यह स्वीकृति भी स्त्री के परिवारजनों/संरक्षकों द्वारा दे दी जाती है। अर्थात् उनके निकाह की स्वीकृति-अस्वीकृति संबंधी अधिकार भी उन्हें प्राप्त नहीं हैं। स्त्रियों को प्रदान की जाने वाली राशि 'मेहर' भी शायद ही कभी स्त्रियों को प्राप्त हो पति है। मुस्लिम स्त्रियाँ आज भी उन सभी प्रकार की अभावग्रस्तता से गुजराती हैं, जिनसे कभी हिंदू स्त्रियाँ मुखातिब हुआ करती थीं।

4.2.9 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया। मुस्लिम परिवार, विवाह तथा मुस्लिम स्त्रियों की दशा और समस्याओं के बारे में जानकारी प्रदान की गई। इस इकाई के पश्चात हम यह जानने में सफल हुए कि मुस्लिम समाजों के संचालन में भी हिंदुओं की ही भांति उनके धर्मग्रंथ मुख्य भूमिका में हैं तथा यही कारण है कि वे अपनी सामाजिक व्यवस्था की निरंतरता में पूरी निष्ठा से अपना योगदान प्रस्तुत करते हैं।

4.2.10 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: मुस्लिम परिवार के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 2: मुस्लिम विवाह और उसकी अनिवार्य शर्तों को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 3: मुस्लिम विवाह कितने प्रकार के होते हैं तथा वैध और अवैध विवाह में अंतर बताइए।

बोध प्रश्न 4: मुस्लिम समाजों में विवाह-विच्छेद के तरीकों पर प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 5: मुस्लिम स्त्रियों की प्रमुख समस्याओं की विवेचना प्रस्तुत कीजिए।

4.2.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. मकसूद, आर.डबल्यू. (1998). *मुस्लिम मैरिज गाइड*. दिल्ली: गुडवर्ड बुक्स.
2. अहमद, आई. (1977). *फैमिली, किनशिप एंड मैरिज अमंग मुस्लिम्स इन इंडिया*. नई दिल्ली: साउथ एशिया बुक्स.
3. अब्दुल्लाह, आर., चोपड़ा, आर. एवं पनवाड़ी, जे. (2009). *रिलीजन्स, मैरिज एमंग मुस्लिम*. नई दिल्ली: ग्लोबल मीडिया पब्लिकेशन.
4. नागोरी, एस.एल. एवं नागर, के. (1999). *विश्व के प्रमुख धर्म*. जयपुर: राज पब्लिशिंग हाउस.
5. बरी, एम. (2007). *मैरिज एंड फैमिली बिल्डिंग इन इस्लाम*. लंदन: टा-हा.
6. एस्पोसीटो, जे.एल. (2001). *वुमेन इन मुस्लिम फैमिली लॉ: कंटेम्पररी इसूज इन द मिडिल इस्ट* (द्वितीय संस्करण). साइरेकस: साइरेकस यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. इंजीनियर, ए.ए. (1995). *प्रोब्लंस ऑफ मुस्लिम वोमेंस इन इंडिया*. बॉम्बे: ओरिएंट लोंगमैन.
8. देसाई, के. (2011). *इंडियन लॉ ऑफ मैरिज एंड डाइवोर्स*. लेक्सिस नेक्सिस इंडिया.
9. अहमद, एल. (1993). *वुमेन एंड जेंडर इन इस्लाम: हिस्टोरिकल रूट्स ऑफ अ मॉडर्न डिबेट*. यूएस: एल यूनिवर्सिटी प्रेस.
10. अहमद, म. (2004). *वुमेन एंड इस्लाम*. नई दिल्ली: मार्कजी मकतबा पब्लिशर्स.
11. अहमद, अ. (1981). *मुस्लिम लॉ*. इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ एजेंसी.
12. फिलिप्स,ए.ए.बी. (2005). *पोलिगैमी इन इस्लाम*. सऊदी अरबिया: इन्टरनेशनल इस्लामिक पब्लिशिंग हाउस.
13. ग्रिलो,आर. (2015). *मुस्लिम फैमिलीज़ पॉलिटिक्स एंड लॉज*. लंदन: रूटलेज.
14. वुरहोव, एम. (2016). *फॅमिली को इन इस्लाम: डाइवोर्स, मैरिज एंड वुमेन इन द मुस्लिम वर्ल्ड*. लंदन: आई.बी. टौरिस.
15. पर्ल, एच.एच.जे.डी. एवं मेंस्की, डबल्यू. (1998). *मुस्लिम फैमिली लॉ*. लंदन: स्वीट एंड मैक्सवेल.

इकाई - 3 ईसाई सामाजिक संगठन: अवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

4.3.1 उद्देश्य
4.3.2 प्रस्तावना
4.3.3 ईसाई सामाजिक व्यवस्था
4.3.4 ईसाई सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं
4.3.5 ईसाई विवाह: परिचयात्मक विवरण
4.3.6 ईसाई विवाह के उद्देश्य और विवाह-पद्धति
4.3.7 विवाह-विच्छेद
4.3.8 ईसाई परिवार: परिचय तथा विशेषताएं
4.3.9 ईसाई स्त्रियों की स्थिति
4.3.10 सारांश
4.3.11 बोध प्रश्न
4.3.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.3.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

15. ईसाई सामाजिक व्यवस्था की संरचना और विशेषताओं को समझ पाने में।
16. ईसाई विवाह की विधि और उद्देश्यों को जान पाने में।
17. ईसाई विवाह-विच्छेद के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।
18. ईसाई परिवार की विशेषताओं के बारे में ज्ञान अर्जित कर पाने में।
19. ईसाई स्त्रियों की वास्तविक स्थिति के बारे में संज्ञान प्राप्त कर पाने में।

4.3.2 प्रस्तावना

भारत सदैव से अनेक धर्मों और संप्रदायों का मिश्रण रहा है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था और मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था के बाद यदि किसी सामाजिक व्यवस्था ने भारतीय समाज पर अपनी छाप छोड़ी है, तो वह है ईसाई सामाजिक व्यवस्था। जनसंख्यात्मक आंकड़ों के अनुसार भले ही ईसाईयों का प्रतिशत काफी कम है, परंतु फिर भी आधुनिकता, जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण तथा प्रगतिशील विचारों के कारण ईसाई सामाजिक व्यवस्था का स्थान भारतीय समाज में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

4.3.3 ईसाई सामाजिक व्यवस्था

ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूल रूप से ईसाई धर्म की ही देन है। ईसाई धर्म का आरंभ 'पैलेस्टाइन' नामक स्थान से माना जाता है तथा इसके संस्थापक/प्रवर्तक 'ईसा मसीह (जीसस क्राइट) हैं। यह धर्म पूर्ण रूप से ईसा मसीह द्वारा दिए गए उपदेशों, प्रवचनों, आदर्शों और उनके द्वारा प्रदान की गई शिक्षा का ही प्रतिरूप है। ईसा मसीह ने ईश्वर की एकता और उसकी निष्पक्षता को समाज के सामने रखा तथा प्रेम, त्याग, कल्याण, अहिंसा, मानव-सेवा, परोपकार का संदेश लोगों को दिया। उन्होने घोषणा की *"तुम गरीब धन्य हो, क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है। तुम रोने वाले हो धन्य हो, क्योंकि तुम ही तो हसोगे।"* ईसा मसीह ने दुखी और असहाय जनता को समझाया कि *"संपदा में विश्वास करने वाले लोगों का ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना दुष्कर है। जिस प्रकार से सुई के छेद में ऊंट प्रवेश नहीं कर सकता, उसी प्रकार ईश्वर के राज्य में धनी लोगों का प्रवेश नहीं कर सकता।"* वे आगे कहते हैं कि *"अपने दुश्मनों से प्रेम करो। जो तुमसे घृणा करते हैं, तुम उनसे साथ प्रेम-विनम्र व्यवहार करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं, तुम उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुम्हें गलियाँ देते हैं, तुम उनके लिए दुआएं करो... स्वयं को पहचानों, अपने शत्रुओं से भी प्यार करो और उनकी सहायता करो। कभी निराश न हो, तुम्हें उसका फल अवश्य मिलेगा।"* ईसा मसीह के अनुसार *"ईश्वर गरीब का है और वह उन्हें बहुत प्यार करता है। ईश्वर धन, संपत्ति और पद देखकर पक्षपात नहीं करता है। वह तो प्रेम का भूखा है। अतः सबसे प्रेम करो... सबके प्रति तुम्हारा यह प्रेम भाव ही ईश्वर प्रेम में परिवर्तित हो जाएगा और तुम ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाने के अधिकारी हो जाओगे।"*

उक्त प्रस्तुत ईसा मसीह के कथनों से यह स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म बंधुत्व की भावना, प्रेम, त्याग, समर्पण, मनवातावादी विचारों, ईश्वर की आस्था, तार्किक ज्ञान, वैयक्तिक स्वतंत्रता आदि प्रकार की विशेषताओं से युक्त है। वर्तमान समय में ईसाई धर्म दो गुटों में वर्गीकृत हो चुका है – कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट। हालांकि ए दोनों सांप्रदायिक समूह अपने मूल में अलौकिक, रहस्यवादी तथा दिव्य शक्ति में विश्वास रखते हैं तथा उनके अनुयायियों में भी अंतर कर पाना काफी मुश्किल है। दोनों प्रकार के अनुयायियों की जीवन-विधि, व्यवहार-प्रतिमान में काफी समानता देखने को मिलती है, अतः उनमें कोई विभाजक रेखा खींच पाना एक दुरूह कार्य है।

4.3.4 ईसाई सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि ईसाई धर्म ईसा मसीह के द्वारा दिए गए उपदेशों पर आधारित है और ए उपदेश ही इस धर्म की नियमावली है। ईसाई सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं –

1- धर्म प्रधान समाज

ईसाई समाज भी एक धर्म प्रधान समाज है तथा समाज की प्रत्येक नियमावली, परंपराओं का निर्धारण धर्म द्वारा ही होता है। इसाइयों में यह धारणा है कि ईश्वर ने पूरे संसार को प्रेम और सहयोग के मार्ग कि ओर ले जाने के लिए अपने दूत ईसा मसीह को धरती पर भेजा और इस प्रकार से ईसा मसीह को

ईश्वर द्वारा भेजा गया एक दूत माना जाता है न कि स्वयं ईश्वर। इसाइयों में निराकार ईश्वर की संकल्पना पाई जाती है। ईश्वर में विश्वास के साथ साथ वे आत्मा के अस्तित्व और उसकी पवित्रता में भी विश्वास रखते हैं। इसी वजह से उनमें त्रियकवाद (ट्रिनिटी) की संकल्पना भी पाई जाती है। त्रियकवाद अर्थात् ईश्वर, पवित्र आत्मा और ईसा मसीह का संयोजन। ए तीनों परस्पर विपरीत नहीं होते हैं, अपितु ए एक ही शक्ति के विभिन्न प्रतिरूप माने जाते हैं। इसाइयों में मानवता, भातृत्व और समानता को महत्वपूर्ण माना गया है।

इसाइयों में चर्च का बड़ा महत्व होता है तथा उनके सभी संस्थागत पक्षों को चर्च के माध्यम से ही वैधता प्रदान किया जाता है। इसाइयों की धार्मिक क्रियाओं के निष्पादन में चर्च की भूमिका मुख्य होती है। प्रत्येक ईसाई व्यक्ति को चर्च का सदस्य होना अनिवार्य रहता है। चर्च द्वारा व्यक्ति के लिए एक रस्म की जाती है 'बपतिस्मा'। बपतिस्मा से आशय व्यक्ति को पापों से मुक्त कर एक नया जीवन प्रदान करने से है।

2- मानवीय कल्याण को प्राथमिकता

संपूर्ण ईसाइयत मानवीय तथा सांसरिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। इसाइयों में यह मान्यता है कि संसार में कोई ऊंचा-नीचा अथवा छोटा-बड़ा नहीं होता है और यही कारण है कि वे न केवल अपने समुदाय की बेहतरी और विकास, कल्याण आदि के लिए तत्पर रहते हैं, अपितु पूरे संसार के कल्याणार्थ कार्यों में संलिप्त रहते हैं। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में वर्ग भेद का कोई स्थान नहीं होता है। इनमें कर्मकांड और अंधविश्वास नहीं पाए जाते हैं। भारतीय संदर्भ में दलितों, शोषितों और हाशिएकृत लोगों के उत्थान में ईसाई लोगों ने काफी कार्य किए हैं। शैक्षिक संस्थान, अस्पताल और अन्य लोक कल्याणकारी संस्थाएं आदि को स्थापित कर ईसाई लोगों ने अनेक बीमारों, अनाथों और जरूरतमन्द लोगों की सहायता की। इस प्रकार से संपूर्ण विश्व में इसाइयत अपने समानता, भाई-चारे और सहायतापूर्ण व्यवहार के लिए जानी जाती है।

3- विवाह की पवित्रता

ईसाई सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत विवाह को एक पवित्र बंधन के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। उत्तर भारत के संयुक्त चर्च के संविधान में लिखा गया है कि विवाह एक पवित्र व्यवस्था ही जो ईश्वर द्वारा स्थापित की गई है तथा यह कारण है कि यह व्यवस्था अपने प्राकृतिक क्रम में विद्यमान है। विवाह संबंध इस प्रकार से ईसा मसीह तथा चर्च के अलौकिक संबंधों के प्रतीक स्वरूप विद्यमान है। विवाह को इसाइयत में पवित्र संबंध मानने के साथ एक विवाह को ही विवाह का मान्य स्वरूप माना जाता है। विवाह प्रक्रिया पूरी पवित्रता और सादगी से चर्च के प्रतिनिधित्व में संपन्न होती है।

4- परिवार का महत्व

परिवार का स्थान ईसाई समाजों में महत्वपूर्ण माना जाता है। एम.पी. जॉन ने अपनी पुस्तक 'द फैमिली: ए थियोसोफ़िकल अप्रोच' में परिवार के चार उद्देश्यों का उल्लेख किया तथा बताया कि परिवार का मूल इन्हीं चार उद्देश्यों में छिपा हुआ है –

क) पुत्र की प्राप्ति

ख) व्यभिचार से बचाव

ग) पारस्परिक सहायता

घ) पारस्परिक आराम

उक्त वर्णित चारों उद्देश्यों से यह बात स्पष्ट होती है कि अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की ही भांति इसाइयों में भी परिवार के मूल में वही बातें हैं। इसाइयों की धार्मिक पुस्तक में लिखा गया है कि यह ईश्वर की इच्छा है कि संतानोत्पत्ति किया जाए तथा ईश्वर के भय में रहते हुए बच्चों का पालन-पोषण किया जाए।

5- स्त्रियों की उच्च सामाजिक स्थिति

अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं की तुलना में ईसाई सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति उच्च तथा सम्मानजनक है। इसाइयत में पुरुषों तथा स्त्रियों को समान रूप से महत्व और अधिकार दिए जाते हैं। स्त्रियों को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, धन-संपत्ति आदि में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। इसके अलावा शैक्षणिक और धार्मिक पक्षों में भी स्त्रियों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है।

4.3.5 ईसाई विवाह: परिचयात्मक विवरण

ईसाई सामाजिक व्यवस्था विवाह के परंपरागत प्रतिमानों और आधुनिक प्रतिमानों में पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। आधुनिक समय में विवाह को एक पवित्र संस्था के रूप में मान्यता प्रदान की गई है तथा इसे ईश्वरीय इच्छा के रूप में गृहस्थी बसाने, संतानोत्पत्ति और उनका पालन-पोषण, व्यभिचार से परे रहना, सहयोग और प्रेम की भावना को बनाए रखना आदि के लिए एक समझौते के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक ऐसा समझौता जो वैयक्तिक व सामाजिक कल्याण तथा कल्याण के लिए अपनी प्रतिबद्धता को प्रदर्शित करे।

उत्तरीओ भारत के संयुक्त चर्च के संविधान के अनुसार, *"विवाह समाज में एक पुरुष और एक स्त्री के मध्य एक ऐसा समझौता है जो सामान्य रुप से आजीवन चलता है तथा इसका संबंध यौन संबंध, पारस्परिक संसर्ग और परिवार की स्थापना से होता है।"*

परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि ईसाई विवाह एक प्रकार का समझौता है जो दो विपरीत लिंगियों के मध्य यौन संबंध तथा परिवार स्थापित करने की की स्वीकृति प्रदान करता है। यह समझौता जीवन भर चलता है तथा एक विवाह ही सर्वमान्य रूप माना जाता है। आजीवन संबंध होने के बावजूद यदि कोई समस्या अथवा असंतुष्टि की भावना आती है तो कोई भी पक्ष विवाह-विच्छेद करने के लिए स्वतंत्र होता है। अतः कुल मिलकर ईसाई विवाह एक स्थाई समझौता है जो एक स्त्री और एक पुरुष को यौन संबंध स्थापित करने, पारस्परिक सहयोग और परिवार बनाने की स्वीकृति प्रदान करता है।

भारतीय ईसाइयों में मुसलमानों की ही भांति विधवा पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान की गई है। ईसाई समाज में विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित भी किया जाता है। ईसाइयों में बाल विवाह और दहेज जैसी समस्याएं प्रायः नहीं पाई जाती हैं।

4.3.6 ईसाई विवाह के उद्देश्य और विवाह पद्धति

इसाइयों में विवाह मात्र यौन संबंध तथा परिवार के निर्माण तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह जीवन के कुछ पवित्र उत्तरदायित्वों के निर्वहन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण होता है। ईसाई समाज के अनुसार विवाह एक धार्मिक प्रक्रिया है। ईसाई विवाह के प्रमुख उद्देश्यों को हम निम्न बिंदुओं के आधार पर समझ सकते हैं –

1- पवित्र जीवन की प्राप्ति

पवित्र जीवन को प्राप्त करना ईसाई विवाह संस्था का एक मुख्य उद्देश्य है। उत्तर भारत के संयुक्त चर्च के संविधान में पवित्र व्यवस्था के रूप में विवाह संस्था को मान्यता प्रदान की गई है तथा यही कारण है कि यह प्राकृतिक क्रम के रूप में विद्यमान है। ईसाई समाज में विवाह संबंध को ईश्वर और चर्च के संयुक्त अलौकिक संबंधों का प्रतीक माना गया है। पवित्र जीवन का आरंभ विवाह संस्था के मार्ग से होकर ही आरंभ होता है।

2- धार्मिक उद्देश्य

इसाइयों में विवाह को धार्मिक संस्था माना जाता है तथा विवाह चर्च में धर्मगुरुओं द्वारा संपन्न किए जाते हैं। धर्मगुरु विवाह के उपरांत वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं तथा यह आशीर्वाद ईसाई विवाह के लिए वरदान माना जाता है। भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम में भी विवाह की इसी व्यवस्था को मान्यता प्रदान की गई है।

3- यौन संतुष्टि

यौन संतुष्टि, विवाह का सर्वमान्य उद्देश्य है तथा यह धारणा लगभग सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में समान रूप पाई जाती है। विवाह संस्था के द्वारा यौन संबंधों को सामाजिक वैधता प्रदान की जाती है तथा इसके पश्चात उत्पन्न संतान को भी सामाजिक रूप से वैध माना जाता है। विवाह के उपरांत यौन संतुष्टि और सामाजिक वैधता संबंधी मापदंड ईसाई समाजों में भी अन्य समाजों के समान ही पाए जाते हैं।

4- परिवार की स्थापना

विवाह के उपरांत परिवार की स्थापना कर ही उत्पन्न संतान को वैधता तथा उसके पालन-पोषण का दायित्व निभाया जा सकता है, अतः ईसाई सामाजिक व्यवस्था में भी परिवार की स्थापना को विवाह का अगला चरण माना गया है। इसमें पति-पत्नी प्रेम व सहयोग की भावना रखते हैं तथा संतान के प्रति आवश्यक दायित्यों का निर्वहन करते हैं। इसाइयों में यह माना जाता है कि पति-पत्नी संतानोत्पत्ति कर ईश्वर की रचनात्मक क्रिया में सहभागी बनते हैं और उनके संतान के पालन पोषण से वे ईश्वर की पालक शक्ति से अवगत होते हैं।

5- पारिवारिक सहयोग

विवाह के कारण स्त्री और पुरुष के मध्य घनिष्ठ संबंध स्थापित होते हैं। वे एक-दूसरे की इच्छाओं, जरूरतों, समस्याओं आदि के प्रति सहानुभूति रखते हैं। विवाह के उपरांत वे एक परिवार की तरह रहते हैं और आपस में प्रेम, सहयोग, त्याग आदि की भावना के साथ रहते हैं। ईसाई समाज में

परिवार न केवल वैयक्तिक सहयोग व कल्याण तक सीमित रहता है, अपितु वह सामाजिक सहयोग और कल्याण के लिए भी अपनी प्रतिबद्धता प्रकट करता है।

6- संबंधों की स्थापना

इसाइयों में विवाह संबंध दृढ़ होते हैं तथा साथ ही स्थाई संबंधों को महत्व दिया जाता है। पति-पत्नी के मध्य पर्ये जाने वाले प्रेम, त्याग और सहयोग के कारण उनके संबंध प्रगाढ़ हो जाते हैं। इसाइयों में विवाह को आजीवन बनी रहने वाली संस्था के रूप में माना गया है तथा धार्मिक रूप से विवाह-विच्छेद की अनुमति नहीं दी गई है।

इसाइयों में प्रचलित विवाह पद्धति के रूप में दो प्रमुख संस्कार होते हैं –

a. सगाई संस्कार

ईसाई समाज में जब स्त्री और पुरुष अथवा उनके संरक्षक विवाह संबंध के लिए सहमत हो जाते हैं या स्वीकृति दे देते हैं तो विवाह के पूर्व ही उनके लिए सगाई संस्कार किया जाता है। यह संस्कार इस बात की पुष्टि करता है कि इनका विवाह निश्चित हो चुका है। इसमें रिवाज यह है कि निर्धारित की गई तिथि वर-वधू के माता-पिता द्वारा चर्च के पादरी को दी जाती है और वह पादरी ही इस सूचना को संपूर्ण समाज तक पहुंचाने का काम करता है। सगाई संस्कार के अवसर पर वर-वधू के माता-पिता अपने सगे-संबंधियों और परिचितों को आमंत्रित करते हैं। समान्यतः वधू का घर ही सगाई का स्थान निर्धारित किया जाता है तथा यहीं दोनों पक्षों के लोग इकट्ठा होते हैं। वर पक्ष द्वारा मिठाई, अंगूठी, रुपए, नारियल, रुमाल आदि लाए जाते हैं तथा कई बार तो वधू द्वारा पहने जाने वाले कपड़े भी वर पक्ष द्वारा ही लाए जाते हैं। सगाई के दौरान वर-वधू को सभी के सम्मुख बैठाया जाता है और पादरी बाइबिल के कुछ अंश पढ़ता है तथा खुशी के गीत गए जाते हैं। संस्कार के अंत में वर-वधू द्वारा वौवाहिक बंधन की स्वीकृति ली जाती है तथा निशानी के तौर पर वर और वधू द्वारा एक दूसरे को अंगूठी, मिठाई, नारियल और बाइबिल की एक प्रति भेंट स्वरूप दी जाती है। दोनों एक दूसरे को अंगूठी पहनाते हैं तथा यह यह घोषणा की जाती है कि दोनों ने एक दूसरे के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने की स्वीकृति दे दी है। इसके पश्चात उपस्थित जनों को मिठाइयाँ अथवा अल्पाहार दिए जाते हैं और वर पक्ष वालों के लिए भोजन का प्रबंध वधू पक्ष के घर पर ही किया जाता है।

b. विवाह संस्कार

ईसाई समाज में सगाई के पश्चात ही विवाह संकर संपन्न होता है। विवाह के पूर्व ही स्त्री और पुरुष को तीन शर्तें पूरी करनी होती हैं –

- चर्च की सदस्यता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना
- चारित्रिक-प्रमाण पत्र प्राप्त करना
- विवाह के लिए निर्धारित की गई तिथि से तीन सप्ताह पूर्व विवाह हेतु आवेदन-पत्र देना

उक्त लिखित तीनों शर्तों के पूरा होने और विवाह संबंधी प्रार्थना-पत्र मिलने के पश्चात संबंधित चर्च द्वारा यह सूचना प्रसारित कर दी जाती है कि अमुक स्त्री और पुरुष का विवाह निश्चित हुआ है, यदि किसी को इस विवाह से आपत्ति है तो वह लिखित आपत्ति दे सकता है और विवाह रोकने हेतु हर्जाना जमा कर सकता है। तीन सप्ताह तक यदि कोई आपत्ति नहीं होती है तो विवाह संस्कार संपन्न हो जाता है।

समान्यतः विवाह के लिए उस चर्च को चुना जाता है जिसकी सदस्य लड़की रहती है। प्रातः काल में 6-7 बजे वर-वधू पक्ष तथा आमंत्रित जन चर्च में उपस्थित हो जाते हैं। चर्च में वधू के प्रवेश के दौरान उसका स्वागत किया जाता है और गीत गए जाते हैं। चर्च का घंटा बजता है और सभी अपने निर्धारित स्थान पर जाकर बैठ जाते है। इसके बाद सभी लोगों को संबोधित करते हुए पादरी कहता है *"अज़ीज़ों! खुदा के हुज़ूर और इन गवाहों के सामने हम उपस्थित हुए हैं कि इस मर्द और औरत को निकाह में बाँधें। हम तुमसे पूछते हैं कि इस निकाह से यदि किसी को आपत्ति हो, तो वह अपनी आपत्ति पेश करे।"* यदि कोई भी आपत्ति पेश नहीं होती है तो वह वर-वधू से उनकी पारस्परिक रजामंदी के बारे में स्वीकृति प्राप्त करता है। इसके बाद पादरी दोनों से वादा लेता है कि वर विवाह की पवित्र स्थिति में वधू के साथ जीवन बसर करे, सुख-दुख, तंगी, बीमारी, तंदरुस्ती तथा हर हाल में उसके प्रति वफादार रहे, उसे प्यार करे। यदि वादे पादरी वधू से भी लेता है। इसके बाद वर और वधू अंगूठिया बदलते हैं, गीत गए जाते हैं तथा वे पादरी से आशीर्वाद लेते हैं। जो लोग इस प्रकार से विवाह न करके कोर्ट में विवाह करते हैं, उन्हें भी विवाह के उपरांत चर्च में पादरी से आशीर्वाद लेने आना पड़ता है।

4.3.7 विवाह-विच्छेद

ईसाई धर्म में विवाह-विच्छेद की मान्यता नहीं दी गई है। उनके धर्म ग्रंथ बाइबिल में विवाह-विच्छेद के विरोध में कथन मिलते हैं। विवाह के दौरान चर्च का पादरी कहता है कि जिनको ईश्वर ने एक साथ जोड़ दिया, उन्हें कोई व्यक्ति अलग न करे। उसे अलग करना ईश्वर के आज्ञा की अवहेलना करना है। संत मेथ्यु ने ईसा के शब्दों का उल्लेख करते हुए बताया है कि जो व्यक्ति अपनी पत्नी को व्यभिचारिणी होने के किसी दूसरे मर्द के यहाँ छोड़ दे और स्वयं दूसरा विवाह कर ले वह भी व्यभिचारी है तथा वह व्यक्ति जो किसी छोड़ी हुई स्त्री से वैवाहिक संबंध स्थापित करता है वह भी व्यभिचार ही करता है। उक्त बातों से यह स्पष्ट है कि इसाइयों में धार्मिक तौर पर विवाह-विच्छेद को गलत माना गया है।

बहरहाल, भारतीय इसाइयों के लिए समय-समय पर कुछ अधिनियम पारित किए गए तथा उनमें संशोधन भी किए गए। इन अधिनियमों में भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 और भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम, 1872 प्रमुख हैं।

- **भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869**

यह अधिनियम भारतीय इसाइयों पर लागू होता है तथा इसके लिए यह आवश्यक है कि एक पक्ष अनिवार्य रूप से ईसाई धर्म से संबंधित हो। इस अधिनियम में कुल 14 भाग, 62 धाराएं और 14 अनुसूचियाँ हैं तथा इसमें विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण, सुरक्षा, वैवाहिक अधिकारों को पुनः लागू

करना आदि शामिल है। विवाह-विच्छेद के तौर पर यह अधिनियम उन कारणों से संबंधित है, जिनमें पति अथवा पत्नी विवाह-विच्छेद के लिए स्वयं प्रार्थना-पत्र देते हैं। पति यह प्रार्थना-पत्र तब देता है जब पत्नी व्यभिचारिणी होती है तथा पत्नी को प्रार्थना-पत्र देने के अन्य अधिकार भी प्रदान किए गए हैं, जैसे – पति व्यभिचारी हो, पति ने ईसाई धर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे धर्म को अपना लिया हो, पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो अथवा बहु-विवाह का दोषी हो, पति बलात्कारी हो, पति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो, पति व्यभिचार के साथ-साथ दो वर्ष से अधिक स्त्री-परित्याग का दोषी हो। यह प्रार्थना-पत्र जिला न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय में दिया जाता है।

अधिनियम के अनुसार कोई भी पति अथवा पत्नी अपने विवाह को अवैध घोषित कराने के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है। इसके लिए निम्न आधार प्रमुख हो सकते हैं –

i. प्रतिवादी विवाह अथवा मुकदमे के समय नपुंसक हो।
ii. दोनों (पति-पत्नी) में से कोई भी एक पक्ष विवाह के समय मूर्ख/पागल हो।
iii. पति-पत्नी दोनों ही आपस में निषेधात्मक रक्त/विवाह संबंधी हों।

उक्त प्रस्तुत बिंदुओं के अलावा यदि विवाह के समय किसी भी पक्ष का पूर्वा पति/पत्नी जीवित हो और वह वैध विवाह संबंधी हों, तो भी विवाह अवैध घोषित करने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है। विवाह-विच्छेद के मुकदमे के दौरान पति-पत्नी में न्यायिक पृथक्करण रखा जाता है।

- **भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम, 1872**

यह भारतीय ईसाइयों के विवाह से संबंधित पहला अधिनियम है तथा इसमें अनेक संशोधन भी हुए हैं। इसमें कुल 88 धाराएं तथा 5 अनुसूचियाँ शामिल हैं। ईसाइयों का विवाह पादरी तथा वे लोग करवा सकते हैं, जिन्हें सरकार द्वारा लाइसेंस प्रदान किया गया हो। केंद्र/राज्य सरकार द्वारा एक अथवा एक से अधिक ईसाई व्यक्ति को विवाह का रजिस्ट्रार नियुक्त किया जा सकता है। इन नियुक्त व्यक्तियों के अलावा जिले का मजिस्ट्रेट भी यह कार्य कर सकता है। विवाह का समय प्रातः काल 6 से 7 बजे तक का रखा जाता है और प्रायः विवाह का स्थान चर्च ही होता है। 5 मिल के आस-पास में चर्च न होने की दशा में किसी अन्य स्थान को विवाह हेतु चयनित किया जा सकता है।

विवाह कराने वाले पक्षों में से कोई एक पक्ष इसकी सूचना चर्च के पादरी को देता है और वह पादरी ही इस सूचना को संपूर्ण समाज तक पहुंचाने का काम करता है। यदि विवाह का स्थान चर्च के जगह पर कोई और है अथवा कोई पक्ष नाबालिग है तो दोनों ही दशाओं में इसकी सूचना मैरिज रजिस्ट्रार को दी जाती है। प्रत्येक विवाह का पंजीकरण होता है तथा मैरिज रजिस्ट्रार द्वारा कराए जाने वाले विवाह में दोनों पक्षों को यह सपथ लेनी होती है कि यह विवाह न कराए जाने की कोई वजह नहीं है। इसके पश्चात उन्हें एक प्रमाण पत्र प्रदान किया जाता है तथा उनकी शादी संपन्न हो जाती है।

4.3.8 ईसाई परिवार: परिचय और विशेषताएं

किसी भी समाज में व्यक्ति के जन्म, पालन-पोषण, विकास और उसके सामाजीकरण में परिवार की भूमिका प्रमुख होती है। समाज के अस्तित्व को बनाए रखने में परिवार सहायक के तौर पर कार्य करता है। ईसाई परिवार में उनके समाज की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि सभी ईसाई परिवारों की सामाजिक व्यवस्था में कुछ असमानताएं पाई जाती हैं। भारतीय ईसाई परिवारों के समाज और संस्कृति में पाई जाने वाली भिन्नता को डॉ. शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज एवं संस्कृति' में प्रस्तुत किया है –

1) यूरोप से आकर भारत में निवास करने वाले ईसाई परिवार

2) हिंदू अथवा मुसलमान से ईसाई के रूप में परिवर्तित हुए परिवार

3) उक्त दोनों श्रेणियों के मिश्रण से बने ईसाई परिवार

4) जनजातीय ईसाई परिवार

उपरोक्त प्रस्तुत वर्गीकरण के अलावा ईसाई परिवारों को धार्मिक आधार पर दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है – पहला, कैथोलिक और दूसरा, प्रोटेस्टेंट। उनमें भी अनेक उप-भाग पाए जाते हैं तथा साथ में इनकी सामाजिक व्यवस्था में भी भिन्नता देखने को मिलती है।

ईसाई परिवारों में भिन्नता तथा पृथक सामाजिक व्यवस्था के बावजूद कुछ सामान्य विशेषताओं को चिन्हित किया जा सकता है, जो संयुक्त रूप से ईसाई परिवार को अभिव्यक्त कर सकती हैं। ईसाई परिवार की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं –

क) पितृसत्तात्मक परिवार

ईसाई परिवार पितृसत्तात्मक प्रकृति के होते हैं अर्थात् उनमें सत्ता का हस्तांतरण पिता से पुत्र की ओर होता है। ए परिवार पितृसत्तात्मक होने के साथ-साथ पितृवंशीय भी होते हैं अर्थात् वंशनाम भी पिता से पुत्र की ओर बढ़ता है। परिवार में पिता का स्थान ही सर्वोपरि रहता है तथा वही परिवार का मुखिया भी माना जाता है। पारिवारिक निर्णयों में वह मुख्य भूमिका निभाता है। संपत्ति पर अधिकार भी पिता/पति का ही रहता है। ईसाई परिवारों के पितृसत्तात्मक स्वरूप के अपवाद के रूप में मालबार में कुछ ईसाई परिवार मातृसत्तात्मक प्रकृति के भी हैं। इनमें माता की सत्ता उसकी पुत्री को प्राप्त होती है। हालांकि इन मातृसत्तात्मक प्रकृति के ईसाई परिवारों की संख्या बहुत कम है।

ख) छोटा आकार

वैयक्तिक स्वतंत्रता के कारण ईसाई परिवारों में संयुक्त परिवारों का अभाव पाया जाता है। ईसाई समाज में परिवारों के आकार प्रायः छोटे होते हैं। इसके अलावा इसाइयों में पश्चिमी शिक्षा, और प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण बच्चों की संख्या भी सीमित रखी जाती है तथा इस कारण भी परिवार का आकार छोटा रहता है। जहां हिंदू और मुस्लिम परिवार विवाह के उपरांत भी अपने माता-पिता के परिवार में ही रहते हैं, वहीं इसाइयों में विवाह के पश्चात प्रायः नव दंपति पृथक रहने लगते हैं तथा एकाकी परिवारों को ही महत्व प्रदान करते हैं।

ग) संयुक्त संपत्ति और आय का अभाव

चूंकि ईसाई समाजों में एकाकी परिवार पाए जाते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर इन परिवारों में संयुक्त संपत्ति का अभाव पाया जाता है। यहाँ न ही कोई संयुक्त संपत्ति होती है और ना ही कोई संयुक्त कोष, जो सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग दे सके। यहाँ संयुक्त कोष का तात्पर्य उस धन-संपत्ति से है जैस्पर संयुक्त परिवार में प्रत्येक सदस्य का अधिकार रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर कोई भी उसका उपयोग कर सकता है।

घ) संतुलित अर्थव्यवस्था

ईसाई समाज संभवतः शिक्षित होता है तथा परिवार द्वारा किसी भी अनुष्ठान, कर्मकांड, रूढ़ियों आदि पर व्यय नहीं किया जाता है। उदाहरण के तौर पर, समान्यतः एक हिंदू परिवार एक विवाह में जितना धन खर्च कर देता है, उतने धन का आधा भी खर्च ईसाई परिवार द्वारा किए जाने वाले एक विवाह में नहीं किया जाता है। परिणामस्वरूप धन का प्रयोग अन्य मदों में व्यवस्थित तरीके से किया जाना सरल व संभव रहता है। इस प्रकार से ईसाई परिवारों में संतुलित अर्थव्यवस्था पाई जाती है। ईसाई परिवार अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा शिक्षा, मनोरंजन, वस्त्र आदि पर करते हैं।

ङ) समानता की भावना

ईसाई परिवार के सदस्यों में उच्च-निम्न की भावना नहीं पाई जाती तथा वे समानता का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। परिवार में स्त्रियों तथा पुरुषों के अधिकारों और स्वतंत्रता में भी समानता पाई जाती है। इसके अलावा परिवार में बड़े अथवा बुजुर्गों का निरंकुश शासन भी नहीं होता है तथा पिता-पुत्र के बीच पारस्परिक मित्रता-बोध का संबंध पाया जाता है। स्वतंत्र होकर घूमना, वार्तालाप करना, साथ भोजन करना, विचारों का आदान-प्रदान करना आदि विशेषताएं ईसाई परिवारों की समानता की भावना को अभिव्यक्त करती हैं।

च) अर्जित आधार

ईसाई समाज व्यक्तिवादी प्रकृति के होते हैं तथा परिवार में सदस्यों की स्थिति का कोई प्रदत्त संस्तरण नहीं होता है। ईसाई परिवार में सदस्य की स्थिति का निर्धारण उसकी योग्यता, पद, शिक्षा तथा कुशलता के आधार पर किया जाता है। इस व्यक्तिवादी धारणा के कारण ही परिवार में स्त्रियों की स्थिति भी उच्च हो सकती है।

छ) रूढ़ियों की अल्पता

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि ईसाई परिवारों में धार्मिक मान्यताओं को लेकर रुझान कम रहता है। शिक्षित और प्रगतिशील विचारों से संबंधित होने के कारण उनमें रूढ़ियों और अनुष्ठानों आदि का महत्व नहीं देखने को मिलता है। इन समाजों में 'बपतिस्मा' के अलावा किसी भी संस्कार को पर्याप्त महत्व नहीं दिया जाता। बपतिस्मा का तात्पर्य एक बालक को किशोर होने पर चर्च की सदस्यता लेकर शिक्षा ग्रहण करने से है। ईसाई समाजों में पर्दा प्रथा तथा बाल विवाह नहीं पाया जाता है और विलंब विवाह तथा विधवा पुनर्विवाह को स्वीकृति प्रदान की गई है।

ज) स्त्रियों की उच्च स्थिति

ईसाई समाजों में स्त्रियों की स्थिति अन्य समाजों की तुलना में उच्च होती है। ईसाई समाज में स्त्रियों की उच्च स्थिति का कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है। परिवार के प्रत्येक क्रिया-कलापों में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर महत्व दिया जाता है। व्यावहारिक रूप से भी परिवार के प्रत्येक कार्य में स्त्रियों की राय ली जाती है। ईसाई स्त्रियाँ कहीं भी आने-जाने और क्रियाकलापों में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होती हैं। यही कारण है कि वे सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से सहभागिता करती हैं।

4.3.9 ईसाई स्त्रियों की स्थिति

भारत में हिंदुओं तथा मुसलमानों की तुलना में स्त्रियों की स्थिति बेहतर है। धार्मिक दृष्टि से भी ईसाई स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। स्त्रियों की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु निम्न बिंदु उल्लेखनीय हैं –

a. व्यक्तित्व-विकास के समान अवसर

ईसाई समाज में स्त्रियों को व्यक्तित्व-विकास के लिए वे सभी अनुकूल अवसर प्रदान किए गए हैं, जो पुरुषों को प्रदान किए गए हैं। ईसाई समाज में स्त्रियों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यही कारण है कि भारतीय शिक्षित महिलाओं में ईसाई महिलाओं का शिक्षा का प्रतिशत अधिक रहता है। शिक्षित होने के कारण उन्हें अपने अधिकारों और अवसरों के बारे में पर्याप्त जानकारी रहती है तथा यही कारण है कि वे प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित रखती हैं। अन्य धर्म और समाजों की स्त्रियों को घर से बाहर निकालने और स्वतंत्र रहने का अधिकार प्रायः कम दिया जाता है, जबकि ईसाई स्त्रियों को इसकी पर्याप्त आजादी रहती है। ईसाई स्त्रियों ने विभिन्न कलाओं में अपना योगदान प्रस्तुत किया है, जैसे – संगीत, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला आदि।

b. वैवाहिक समानता

ईसाई समाज में विवाह की परंपरा तथा पद्धति स्त्रियों का पूरा सम्मान करती है। ईसाई समाज में कम आयु में विवाह नहीं किए जाते। इस प्रकार से स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने हेतु पर्याप्त समय मिल जाता है और साथ ही उनमें जीवन-साथ के चयन की सूझ-बुझ भी विकसित हो जाती है। ईसाई समाजों में संभवत वर का चयन लड़की द्वारा ही किया जाता है। विवाह हेतु स्त्री की सहमति अत्यंत आवश्यक रहती है। ईसाई समाज में स्त्री को विवाह करने हेतु भी कोई बाध्य नहीं करता, यदि कोई महिला आजीवन विवाह किए बिना रहना चाहती है तो उसे किसी को बाध्य करने का अधिकार नहीं प्राप्त है। जबकि अन्य समाजों में इस भावना का प्रायः अभाव पाया जाता है। समाज सेवा के क्षेत्र में आने अविवाहित ईसाई महिलाओं ने उत्कृष्ट कार्य किए हैं। विधवा पुनर्विवाह को न केवल मान्यता प्रदान की गई है, अपितु विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहित भी किया जाता है।

यदि कोई महिला अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं है, तो वह स्वेच्छा से विवाह-विच्छेद के लिए प्रस्ताव दे सकती है। विवाह-विच्छेद हेतु स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में अधिक अधिकार प्रदान किए गए

हैं। इसाइयों में यह व्यवस्था स्त्री को सम्मानपूर्ण स्थिति प्रदान करने तथा पुरुष को संतुलित व्यवहार करने की सीख देता है।

c. सम्मानपूर्ण पारिवारिक जीवन

ईसाई समाज में स्त्रियों को न केवल सैद्धांतिक तौर पर अपितु व्यावहारिक जीवन में भी सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है तथा साथ ही पुरुषों के तुल्य उन्हें सामाजिक और पारिवारिक अधिकार व स्वतंत्रताएं भी प्रदान की गई हैं। परिवार के महत्वपूर्ण निर्णयों में स्त्रियों की भूमिका प्रभावशाली रहती है। प्रत्येक स्त्री को विवाह पूर्व और विवाह पश्चात अपने जीवन संबंधी निर्णय लेने की स्वतंत्रता रहती है। परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा अपनी राय प्रस्तुत की जा सकती है, परंतु उन सुझावों पर अमल करने का अधिकार केवल स्त्री का होता है। वह परिवार के अन्य लोगों के साथ भोजन करती है तथा साथ ही पारिवारिक सदस्य उसके कार्यों में साथ देते हैं। इन मामलों में ईसाई समाज अन्य समाजों से पृथक है तथा स्त्री केवल घर के चूल्हे तक ही सीमित नहीं रहती है।

d. संपत्ति में अधिकार

ईसाई महिलाओं का संपत्ति पर उतना ही अधिकार रहता है, जितना कि पुरुष का। प्रत्येक विधवा स्त्री का उसके मृत पति की संपूर्ण संपत्ति पर अधिकार होता है। आर्थिक क्षेत्र में स्वयं को स्थापित करने की अनुकूल दशाएं ईसाई समाज द्वारा प्रदान की जाती है। वे न केवल सैद्धांतिक रूप से आर्थिक क्षेत्रों में सहभागिता करती हैं अपितु व्यावहारिक तौर पर भी स्त्रियों की आर्थिक उन्नति को अन्य सदस्यों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है। चर्च द्वारा भी स्त्रियों द्वारा की जाने वाली आर्थिक गतिविधियों का समर्थन किया जाता है। ईसाई स्त्रियों को विवाह के उपरांत कार्य करने से भी नहीं रोका जाता है। ईसाई स्त्रियाँ बहुतायत मात्रा में नर्स, डॉक्टर, अध्यापिका के तौर पर स्थापित हैं। विभिन्न विभागोंमें नौकरी और व्यवसाय आदि करने की वजह से धन-संपत्ति आदि पर उनका मालिकाना हक होता है।

e. समान राजनैतिक अधिकार

ईसाई समाज में स्त्रियों को स्वेच्छा से वोट देने, उम्मीदवार बनने, किसी राजनीतिक दल का सदस्य बनने, विचार प्रकट करने, भाषण देने, लेख लिखने आदि का पूर्ण अधिकार है। हालांकि ए सभी अधिकार भारतीय संविधान द्वारा प्रत्येक भारतीय को मौलिक अधिकार के रूप में प्रदान किए गए हैं, परंतु अन्य समाजों (हिंदू अथवा मुस्लिम समाजों में) में इन अधिकारों को प्राप्त कर पाना एक स्त्री के लिए दुष्कर होता है। अन्य समाजों की स्त्रियों को घर के अंदर रहने, कम बोलने, अपने परिवार की सेवा करने आदि के अधिकार ही प्राप्त रहते हैं।

f. धार्मिक सुविधाएं

धार्मिक सुविधाओं की दृष्टि से भी ईसाई स्त्रियों की स्थिति अन्य समाजों की तुलना में काफी बेहतर है। हिंदुओं के ही समान ईसाईयों में भी किसी धार्मिक कार्य में पुरुष के साथ स्त्री का सम्मिलित होना आवश्यक माना गया है। परंतु जहां हिंदू स्त्रियों को धार्मिक सुविधाएं सैद्धांतिक रूप से ही मिल पाती हैं, व्यावहारिक जीवन में वे इससे अछूती ही रह जाती हैं, उसके विपरीत ईसाई स्त्रियों को ए धार्मिक अधिकार सैद्धांति तथा व्यावहारिक दोनों जीवन में प्राप्त रहते हैं। वे धर्म ग्रंथों का अध्ययन कर सकती हैं,

प्रत्येक प्रार्थना में सहभागिता कर सकती हैं तथा ऐसा करने की उन्हें न केवल सुविधा है, बल्कि यह ईसाई स्त्रियों के लिए अनिवार्यता है। वे धर्म की शिक्षा ले सकती हैं तथा ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु पुरुषों की ही भांति पादरी भी बन सकती हैं।

g. सामाजिक स्थिति

ईसाई समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के ही समान है तथा उसे प्रायः वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो पुरुषों को प्राप्त हैं। वे कहीं भी आ जा सकती हैं, किसी से भी वार्तालाप कर सकती हैं, किसी भी कार्यक्रम में भाग ले सकती हैं। प्रायः कोई भी सार्वजनिक कार्यक्रम बिना ईसाई स्त्री की उपस्थिति के संपन्न नहीं होता है। अतः उन्हें सार्वजनिक कार्यक्रमों और समारोहों में जाने के पर्याप्त अवसर मिलते हैं। हिंदू स्त्रियों की भांति ईसाई स्त्रियों पर किसी प्रकार के निषेध नहीं लगाए गए हैं और ना ही उन्हें किसी बंधन में रखा जाता है।

4.3.10 सारांश

इस इकाई में वर्णित ईसाई सामाजिक व्यवस्था और उसके महत्वपूर्ण पक्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अनेक पक्षों पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था के तत्वों की छाप को स्पष्ट तौर पर अवलोकित किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि परंपरागत भारतीय समाज के स्वरूप को परिवर्तित करने में ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है, परंतु फिर भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मूल स्वरूप पूर्णरूपेण परिवर्तित नहीं हुआ है। वहीं हम इन बातों से भी इनकार नहीं कर सकते हैं कि ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने भारतीय समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों को दूर करने में भी कमोबेश रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4.3.11 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: ईसाई सामाजिक व्यवस्था और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 2: ईसाई विवाह पर एक निबंध लिखिए।

बोध प्रश्न 3: ईसाई परिवार पर टिप्पणी प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 4: भारतीय समाज में ईसाई स्त्रियों कि स्थिति के बारे में वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

4.3.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

i. दास, एम.एन. (1978). *द फैमिली इन एशिया*. वर्जीनिया: द यूनिवर्सिटी ऑफ वर्जीनिया.

ii. गुप्ता, एस.के. (1968). *मैरिज अमंग द एंग्लो-इंडियंस*. लखनऊ: एथनोग्राफिक एंड फोक कल्चर सोसाइटी.

iii. नागोरी, एस.एल. एवं नागर, के. (1999). *विश्व के प्रमुख धर्म*. जयपुर: राज पब्लिशिंग हाउस.

iv. देसाई, के. (2011). *इंडियन लॉ ऑफ मैरिज एंड डाइवोर्स*. लेक्सिस नेक्सिस इंडिया.

इकाई 4 बौद्ध एवं जैन सामाजिक संगठन: अवधारणा एवं विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

4.4.1. उद्देश्य
4.4.2 प्रस्तावना
4.4.3 बौद्ध सामाजिक व्यवस्था
4.4.4 बौद्ध धर्म के सिद्धांत और विलक्षणताएं
4.4.5 बौद्ध धर्म का प्रभाव
4.4.6 जैन सामाजिक व्यवस्था
4.4.7 जैन धर्म के सिद्धांत
4.4.8 जैन धर्म का प्रसार तथा योगदान
4.4.9 सारांश
4.4.10 बोध प्रश्न
4.4.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.4.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिंदुओं में सक्षम बनाना है –

20. बौद्ध तथा जैन सामाजिक व्यवस्था के बारे में परिचयात्मक विवरण प्राप्त कर पाने में।

21. बौद्ध तथा जैन धर्म के सिद्धांतों को जान पाने में।

22. जैन धर्म के प्रसार व सामाजिक योगदान के बारे में समझ विकसित कर पाने में।

4.4.2 प्रस्तावना

ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मध्य गंगा के मैदानों में अनेक धार्मिक संप्रदायों का जन्म हुआ तथा वे कुछ रूपों में समानता रखते हुए भी आसमान हैं। इन धार्मिक संप्रदायों का अस्तित्व उनकी विभिन्नता द्वारा ही परिभाषित होता है। तत्कालीन समय में कुल ज्ञात धार्मिक समूहों की संख्या लगभग 62 थी। इन ज्ञात समूहों में बौद्ध तथा जैन संप्रदाय उल्लेखनीय रूप से महत्वपूर्ण हैं। ए दोनों धार्मिक समूह सामाजिक सुधार के लिए भी आवश्यक रहे हैं तथा अनेक सुधार आंदोलनों की पृष्ठभूमि को तैयार करने की दिशा में इनकी भूमिका अनूठी रही है।

4.4.3 बौद्ध सामाजिक व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल में समाज में मुख्य रूप से चार विभाजन के आधार विद्यमान थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन चारों वर्णों के कार्य और कर्तव्य अलग-अलग निर्धारित किए गए थे। ए सभी वर्ण जन्म आधारों द्वारा निर्धारित किए जाते थे तथा इसमें कोई लचीले नियम नहीं पाए जाते थे। ब्राह्मण इस वर्ण व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान पर काबिज थे तथा उनके बाद का स्थान क्षत्रियों का आता है। इन दोनों वर्ण को विभिन्न प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण पठन-पाठन का कार्य करते थे, क्षत्रिय युद्ध तथा शासन करते थे, वैश्य का कार्य पशुपालन तथा व्यापार है और शूद्रों का कार्य ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा करना निश्चित किया गया था। स्त्रियों और शूद्रों को वेद आदि के अध्ययन से वंचित रखा गया।

ब्राह्मण को अनेक विशेषाधिकार होने तथा पठन-पाठन, नियमावली आदि पर आधिपत्य होने के कारण सदैव से ही वर्चस्वशाली रहे हैं। इनके बाद के स्थान पर क्षत्रिय थे तथा उन्हें भी अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे तथा यही कारण हैं कि इन दोनों वर्णों में यदा-कदा कुछ आपसी विसंगतियाँ आती रहीं। संभवतः यह भी अनेक कारणों में से एक सशक्त कारण रहा है जिसने इस चतुर्वणीय हिंदू व्यवस्था को चुनौती थी। इसके अलावा अन्य सामाजिक कुरीतियों और निषेधों ने अन्य धार्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

बौद्ध धर्म के आरंभ को गौतम बौद्ध के साथ ही माना जाता है। इनका जन्म 563 ईसा पूर्व में कपिलवस्तु के निकट नेपाल तराई में स्थित लुम्बिनी में शाक्य नामक क्षत्रिय कुल में हुआ था। कपिलवस्तु की पहचान बस्ती जिले पिपरहवा से की गई है। गौतम बुद्ध के पिता कपिलवस्तु के राजा और माता कोसल-राजवंश की कन्या थीं। बचपन से ही गौतम की रुचि आध्यात्मिक पक्षों को जानने और समझने में थी। शीघ्र ही उनका विवाह संपन्न कर दिया गया, परंतु दाम्पत्य-जीवन में उनका मन नहीं रमा। 29 वर्ष की अल्पायु में ही गौतम ने घर त्याग दिया तथा ज्ञान की तलाश में चल निकले। 35 वर्ष की आयु में उन्हें बोध गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई। तब से ही उन्हें बुद्ध कहा जाने लगा। यहाँ बुद्ध से आशय प्रज्ञावान से है। गौतम बुद्ध ने अपने ज्ञान का पहला प्रवचन वाराणसी के सारनाथ नामक स्थान पर दिया। इसके पश्चात उन्होने अनेक यात्राएं की तथा अपना धर्म-संदेश सुदूर क्षेत्रों तक तक फैलाया। उनके धर्म-प्रचार में ऊंच-नीच, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष के मध्य कोई भेदभाव की भावना नहीं थी। 80 वर्ष की आयु में गौतम बुद्ध का स्वर्गवास कुशीनगर नामक स्थान पर माना जाता है। इस स्थान की पहचान उत्तर-प्रदेश के देवरिया जिले के कसिया ग्राम के रूप में की जाती है।

4.4.4 बौद्ध धर्म के सिद्धांत और विलक्षणताएं

बुद्ध एक बड़े व्यावहारिक सुधारक के रूप में जाने जाते हैं तथा उनका ज्ञान और दर्शन वास्तविकता के अंचल पर आधारित था। बुद्ध उन निरर्थक वाद-विवादों में नहीं पड़े, जो तत्कालीन समय में आत्मा तथा परमात्मा के मेल आदि से संबंधित थे। उनकी वैचारिकी सांसारिक समस्याओं के प्रति आकृष्ट रही। उन्होने बताया कि यह संसार दुखमय है तथा इच्छाएं, लालसा, काम आदि ही दुख का

कारण होती हैं। यदि इन पर विजय प्राप्त कर लिया जाए तो निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। गौतम बुद्ध ने दुख से मुक्त होने के संबंध में अष्टांगिक मार्ग/अष्टविध साधन बताए हैं –

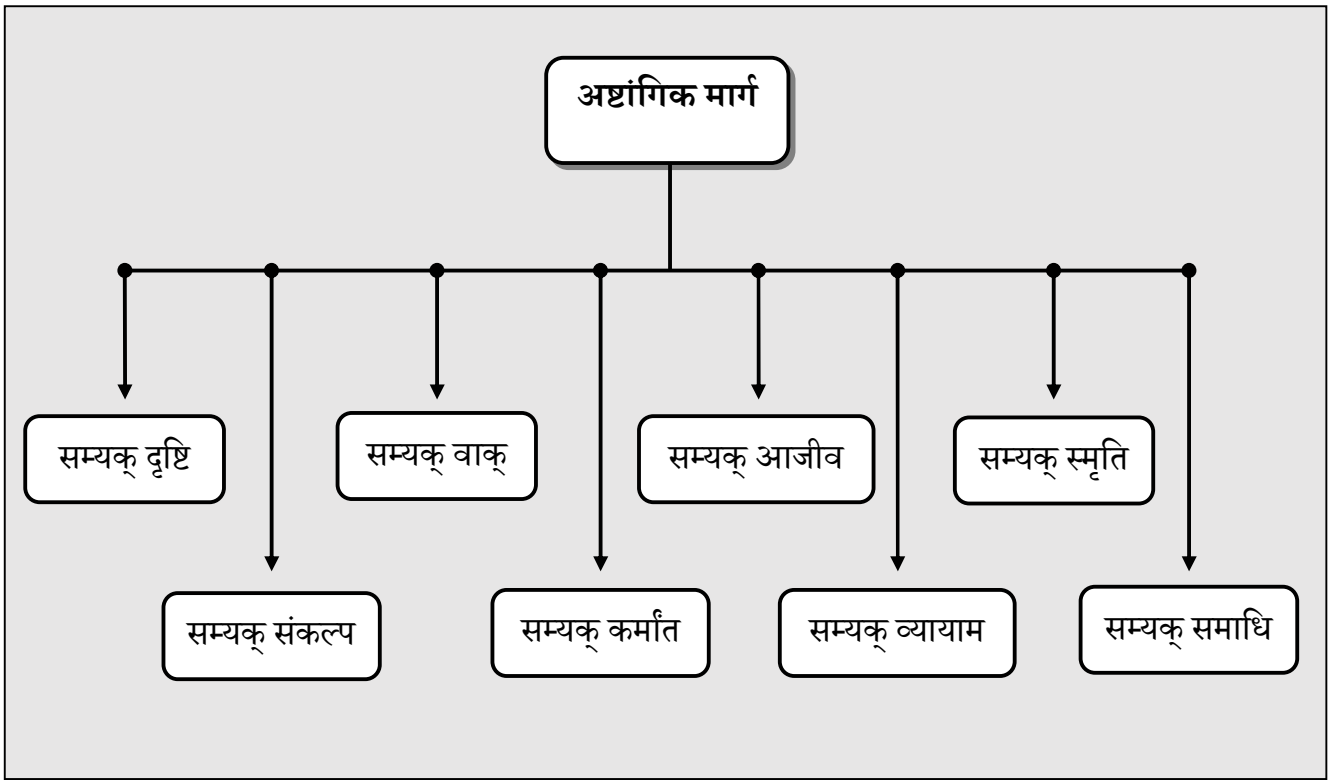

इन अष्टांगिक मार्गों के बारे में विवरण ईसा पूर्व तीसरी सदी के आस-पास के ग्रंथ में बताया जाता है। यदि कोई व्यक्ति पूरी निष्ठा से इन आठ मार्गों का अनुसरण अपने जीवन में करे तो वह बिना किसी बाधा और सहायता के अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। बुद्ध का मानना था कि हमें ना ही अधिक विलास पर ध्यान केंद्रित रखना चाहिए और ना ही अधिक संयम को बनाए रखना चाहिए। वे सदैव से ही मध्य के मार्ग को अपनाने पर ज़ोर देते रहे हैं। बुद्ध ने अपने अनुयायियों के लिए आचार संहिता निर्मित की है, जो उनके जीवन और व्यक्तित्व को समृद्ध करने में सहायक सिद्ध होते हैं। ए आचार-नियम इस प्रकार हैं –

a. व्यक्ति को पराए धन के प्रति लोभ की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।
b. व्यक्ति को हिंसा का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए।
c. व्यक्ति को नशे आदि से दूर रहना चाहिए।
d. व्यक्ति को कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए।
e. व्यक्ति को दुराचार से दूर रहना चाहिए।

समान्यतः सभी धर्मों में उक्त लिखित बिंदुओं के प्रति निषेध की भावना पाई जाती है। बौद्ध धर्म में ईश्वर और आत्मा की संकल्पना नहीं पाई जाती है तथा यह बात भारत के धर्म के इतिहास में किसी

क्रांति से कम नहीं है। अपने आरंभिक समय में बौद्ध धर्म किसी प्रकार के दार्शनिक वाद-विवादों में नहीं पड़ा और यही कारण है कि इसने सामान्य लोगों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त की। इसे ज्यादा मात्रा में निम्न वर्ण से संबंधित लोगों द्वारा स्वीकार किया गया, ऐसा इसलिए था क्योंकि इसमें वर्ण व्यवस्था का विरोध प्रत्यक्ष तौर पर दिखाई देता है। यहाँ सभी के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता और समानता देखने को मिलती है, चाहे वह किसी जाति से संबंधित हो। इसमें स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही अधिकार प्रदान किए गए हैं। बौद्ध धर्म को अपनाने वाले लोगों में वैदिक क्षेत्र से इतर के लोग अधिक मात्रा में हैं। इन लोगों ने बड़ी ही आसानी से इस धर्म का अनुसरण किया।

बुद्ध का व्यक्तित्व और धर्मोपदेश करने की प्रणाली दोनों ही बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में सहायक सिद्ध हुई। बुद्ध का मानना था कि भलाई के द्वारा ही बुराई को नष्ट किया जा सकता है तथा प्रेम की सहायता से ही घृणा को दूर किया जा सकता है। किसी की निंदा और कटु शब्दों से भी वे क्रोधित नहीं होते थे। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी वे शांत और सहज बने रहते थे तथा उन परिस्थितियों का सामना अपनी चतुरता और बौद्धिक कुशलता से करते थे।

गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए बौद्ध संघ की स्थापना की। इस संघ में कोई व्यक्ति बिना किसी जाति अथवा लिंग के भेदभाव के प्रवेश प्राप्त कर सकता था। अनुयायियों के लिए एकमात्र शर्त यह थी कि वह संघ के नियमों का पालन पूरी निष्ठा से करेगा। संघ के अधीन सुव्यवस्थित प्रचार व्यवस्था होने के कारण बौद्ध धर्म ने गौतम बुद्ध के जीवनकाल में ही तेजी पकड़ी। तत्कालीन समय में मगध, कोशल और कौशांबी के राजाओं तथा अनेक गणराज्यों व उनकी जनता ने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। वर्तमान समय में भी श्रीलंका, बर्मा, तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचलन है तथा चीन और जापान के कुछ भागों में बौद्ध धर्म अनुयाई रहते हैं।

4.4.5 बौद्ध धर्म का प्रभाव

बौद्ध धर्म ने भारतीय जनता के समक्ष आने वाली कई समस्याओं का निराकरण किया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पूर्वोत्तर भारत में कई समस्याएं और कुरीतियाँ व्याप्त थीं तथा इन समस्याओं और कुरीतियों का विरोध बौद्ध धर्म द्वारा किया गया। इस धर्म ने इस कहस्त्र में पर्याप्त जागरूकता का परिचय दिया तथा लोगों को इसके बारे में अवगत कराया। खेती के लिए लोहे के फाल वाले हल का प्रयोग, व्यापार व सिक्कों आदि के प्रचलन के कारण व्यक्ति को धन-संपत्ति आदि को संचित करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वाभाविक है, इस अवसर ने सामाजिक-आर्थिक स्तर पर असमानता को जन्म दिया। इस असमानता को दूर कर समानतापूर्ण व्यवस्था नियोजित करने के प्रयोजन से बौद्ध धर्म ने धन के संचय का विरोध किया और यह घोषणा की कि धन-संचय नहीं करना चाहिए। गौतम बुद्ध ने उपदेश दिया कि किसानों को बीज मुहैया कराना चाहिए, व्यापारियों को धन देना चाहिए तथा श्रमिकों को मजदूरी मिलनी चाहिए। इन प्रयासों के द्वारा ही दरिद्रता दूर किया जा सकता है। बौद्ध धर्म में घृणा, क्रूरता तथा हिंसा को जन्म देने वाली दशा के रूप में दरिद्रता को मान्यता दी गई है। यहाँ यह मान्यता है कि जो व्यक्ति किसी दरिद्र को भीख/दान देगा, वह अगले जन्म में धनवान होगा।

बौद्ध धर्म में भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियम भी निर्धारित किए गए हैं। इन नियमों में भोजन, वेश-भूषा और यौन आदि से संबंधित निषेध बताए गए हैं। वे सोना-चाँदी ना ही इस्तेमाल कर सकते थे और ना ही उन्हें दान में प्राप्त करने अथवा क्रय-विक्रय करने के अधिकार दिए गए थे। हालांकि बुद्ध की मृत्यु के उपरांत ए नियम शिथिल पड़ गए। बौद्ध धर्म में ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के दौरान भौतिक जीवन में विद्यमान बुराइयों का निराकरण करने का प्रयास किया गया और साथ ही लोगों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में आए उथल-पुथल तथा असमानता को दूर करने का प्रयास किया गया। इसके अलावा इन परिवर्तनों को स्थाई आधार प्रदान करने का प्रयत्न भी किया गया। बाद में बौद्ध संघ में कर्जदारों के प्रवेश को निषिद्ध कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धनवानों और महाजनों से कर्ज लेकर लोग संघ में शामिल नहीं हो सकने के कारण लेनदारों के शिकंजे से मुक्त नहीं हो सकते थे। इसी प्रकार दासों के प्रवेश को निषिद्ध कर संघ ने मालिकों के लिए लाभकर उपाय प्रस्तुत किया। इस प्रकार से सामाजिक व आर्थिक जीवन में आने वाले परिवर्तनों को स्थाई तौर पर व्यवस्था में शामिल करने का प्रयास किया गया।

सामान्यतः बौद्ध भिक्षुओं को संसार से विरक्त ही रहते थे और लोभी ब्राह्मणों के विरोध की भावना भी कभी-कभी उनमें देखने को मिलती थी। हालांकि इसके बावजूद कई मामलों में इनमें समानता देखने को मिलती है –

- बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण दोनों ही उत्पादन व्यवस्था में भागीदार नहीं रहते थे तथा भीख अथवा दान में प्राप्त वस्तुओं पर ही जीवन बसर करते थे।
- दोनों के मतों में भी समानता देखने को मिलती थी। उनका मानना था कि परिवार का पालन-पोषण करना, निजी संपत्ति की रक्षा करना और राजा की आज्ञा को मानना उचित होता है।
- दोनों ने वर्गमूलक समाज का समर्थन किया है।

बौद्ध भिक्षुओं तथा ब्राह्मणों में भेद इस बात का था कि बौद्ध भिक्षुओं का निर्धारण उनके गुण और कर्मों के आधार पर किया जाता था, जबकि ब्राह्मणों का निर्धारण उनके जन्म के आधार पर होता था।

यह सर्वविदित है कि बौद्ध धर्म का मूल लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना था। जिन लोगों को पुरानी सामाजिक व्यवस्था में पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाया, जो लोग शोषण का शिकार हुए तथा जिन्हें संपत्ति के द्वारा उत्पन्न सामाजिक असमानताओं के विरोधी थे; इन सभी लोगों को बौद्ध धर्म के रूप में एक बेहतर विकल्प मिला। हालांकि इन सभी समस्याओं से मुक्ति केवल बौद्ध भिक्षुओं को ही मिल सकती थी, अन्य सभी गृहस्थों को मौजूदा स्थिति में अनुकूलन कर सकने हेतु केवल उपदेश ही दिए जाते थे। बौद्ध धर्म यदि किसी के लिए अत्यंत लाभकर सिद्ध हुआ तो वह स्त्री और शूद्रों के लिए हुआ। बौद्ध धर्म में इनके लिए किसी प्रकार के निषेधों को नहीं लागू किया गया, उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जो अन्य लोगों को प्रदान किए गए थे। इसके अलावा बौद्ध धर्म ने

अहिंसा और प्रत्येक जीव के लिए प्रेम व दया की भावना को विकसित कर संसार के लिए नया मानदंड प्रस्तुत किया।

इतना ही नहीं बौद्ध धर्म ने बौद्धिक और साहित्यिक जगत में भी चेतना जागृत करने का काम किया। इसने बताया कि किसी भी वस्तु को ऐसे ही स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं करना चाहिए, पहले उस वस्तु के बारे में पर्याप्त जानकारी हासिल करनी चाहिए, उसके गुण-दोष आदि को भली प्रकार से समझ लेने के पश्चात ही उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिए। इस धारणा ने अंधविश्वास के स्थान पर बुद्धिवाद को पनपने के लिए स्थान प्रदान किया।

4.4.6 जैन सामाजिक व्यवस्था

जैन मतावलंबियों ने सबसे महान उपदेशकर्ता के रूप में वर्धमान महावीर को माना है, जो कि उनके 24वें तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके पूर्व 23 आचार्य इस धर्म से जुड़े हुए हैं और उन्हें भी तीर्थंकर के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। महावीर को जैन धर्म का अंतिम तीर्थंकर माना जाता है तथा इस आधार पर जैन धर्म का उद्भव काल ईसा पूर्व नौवीं सदी माना जा सकता है। परंतु कुछ विद्वानों के अनुसार जैन धर्म के आरंभिक तीर्थंकर, अर्थात् प्रारंभिक पंद्रह तीर्थंकरों तक, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से संबंधित हैं; यदि इस अनुमान को माना जाए तो उनकी एतिहासिकता को जान पाना दुष्कर है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मध्य तटीय गंगा का कोई भी भाग ईसा पूर्व छठवीं सदी के पूर्व तक ठीक से स्थापित नहीं हो पाया था। कुछ विद्वानों का मत है कि जैन धर्म की एतिहासिकता सिद्ध करने हेतु इन मिथक-कथाओं को तैयार कर लिया गया कि इन तीर्थंकरों ने बिहार में निर्वाण प्राप्त किया।

जैन धर्म के सैद्धांतिक उपदेष्टा पार्श्वनाथ माने जाते हैं, जो 23वें जैन तीर्थंकर हैं। इनका निवास स्थान वाराणसी, उत्तर प्रदेश माना जाता है। उन्होने सुखों का त्याग कर सन्यासी जीवन को अपना लिया तथा इस दौरान उन्होने कई उपदेश और कल्याण वचन दिए। हालांकि जैन धर्म की स्थापना का श्रेय उनके आध्यात्मिक शिष्य वर्धमान महावीर को दिया जाता है। महावीर और बुद्ध के जीवन काल में सटीक अंतर प्रस्तुत कर पाना मुश्किल है। महावीर का जन्म वैशाली के पास किसी गाँव में 540 ईसा पूर्व माना जाता है। यह स्थान उत्तर बिहार में माना जाता है। महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था तथा वे क्षत्रिय कुल के प्रधान थे। महावीर की माता का नाम त्रिशला था और वह बिंबिसार के स्वसुर लिच्छवि नरेश चेटक की बहन थीं। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका संबंध मगध के राजपरिवार से है। इस कारण उन्हें धर्म प्रसार में अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। राजाओं तथा राजसचिवों के साथ संपर्क होने के कारण वे अपनी बातों और उपदेशों को सरलता से प्रसारित कर सकते थे।

गौतम बुद्ध की तरह ही महावीर भी अपने आरंभिक जीवन में गृहस्थ जीवन में थे। 30 वर्ष की आयु में महावीर ने गृहस्थ जीवन का परित्याग किया तथा सन्यास जीवन को अंगीकृत कर वे सांसारिक जीवन से विरक्त हुए। 12 वर्षों तक वे यहाँ से वहाँ भ्रमण करते रहे। महावीर किसी भी गाँव में एक दिन से ज्यादा नहीं रुकते थे तथा किसी भी शहर में पाँच दिन से ज्यादा नहीं रहते थे। इन 12 वर्षों की यात्रा के दौरान महावीर ने कभी भी वस्त्र नहीं बदले। किंतु 42 वर्ष की आयु में कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करने के पश्चात

उन्होने वस्त्रों का त्याग कर दिया। कैवल्य द्वारा महावीर ने सुख-दुख पर विजय प्राप्त कर ली। इसी कारण वे महावीर की संज्ञा पाए तथा उनके अनुयाई जैन कहलाए। महावीर ने कोशल, मगध, चंपा, मिथिला आदि स्थानो पर 30 वर्षों तक प्रचार-प्रसार किया। उनका निर्वाण 72 वर्ष की आयु में हुआ। कुछ विद्वान इसका समय 468 ईसा पूर्व मानते हैं, तो कुछ इसका समय 527 ईसा पूर्व।

4.4.7 जैन धर्म में व्रत

जैन धर्म में पाँच व्रतों के बारे में विवरण मिलता है। हालांकि माना जाता है कि चार व्रत पहले से ही क्रियाशील थे, महावीर ने केवल पाँचवाँ व्रत जोड़ा है। ये व्रत इस प्रकार हैं –

1- हिंसा से परहेज अर्थात् अहिंसा

2- झूठ न बोलना अर्थात् अमृषा

3- चोरी-चकारी न करना अर्थात् अचौर्य

4- संपत्ति के अर्जन से दूर रहना अर्थात् अपरिग्रह

5- इंद्रियों पर संयम रखना अर्थात् ब्रह्मचर्य

उक्त लिखित सभी व्रतों में अहिंसा के व्रत को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि जैन धर्म में किसी भी प्राणी को दुख अथवा यातना देना अत्यंत ही निकृष्ट समझा जाता है। हालांकि इस व्रत के संदर्भ में कुछ विरोधाभाषी गतिविधियां भी देखने को मिलती है, जैसे कुछ जैन मतावलंबी राजा किसी पशु की हत्या करने की वजह से हत्यारे को फांसी पर चढ़ा देते थे। जैन धर्म में जीव पर हिंसा वर्जित होने के कारण युद्ध तथा कृषि दोनों पर ही प्रतिबंध लगाया गया है।

व्रत के अलावा तीर्थंकरों के विचारों में भी काफी मतभेद देखने को मिलते हैं। महावीर से पूर्व के जैन तीर्थंकर पार्श्व ने अनुयायियों निचले और ऊपरी अंगों को वस्त्र आदि से ढकने की अनुमति प्रदान की थी, जबकि महावीर ने किसी भी प्रकार के वस्त्रों को पहनने की स्वीकृति नहीं प्रदान की तथा वस्त्र के सर्वथा त्याग की बात की। संभवतः महावीर अपने अनुयायियों के जीवन को और भी अधिक संयमी बनाना चाहते थे। आगे चलकर जैन धर्म दो संप्रदायों में विभक्त हो गया – श्वेतांबर तथा दिगंबर। श्वेतांबर में वे जैन अनुयाई शामिल किए जाते हैं जो सफ़ेद वस्त्रों को धारण करते हैं, जबकि दिगंबर संप्रदाय के लोग वस्त्रों का त्याग कर नग्न अवस्था में ही रहते हैं।

जैन लोगों की आस्था ईश्वर के प्रति पाई जाती है अर्थात् इनमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। महावीर का मत है कि पिछले जन्म में किए गए पुण्य तथा पाप द्वारा ही अगले जन्म का निर्धारण होता है अर्थात् पिछले जन्म में किए गए कार्यों के आधार पर ही व्यक्ति का जन्म उच्च अथवा निम्न कुल में होता है। महावीर का मानना है कि चांडालों में भी मानवीय गुण पाए जाते हैं। साथ ही वह इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि शुद्ध और अच्छे आचरण द्वारा निम्न जाति का व्यक्ति भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जैन धर्म में सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने के लिए तीन मार्गों की व्यवस्था की गई है – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ध्यान और सम्यक् आचरण। इन तीनों को जैन धर्म में त्रिरत्न की संज्ञा प्रदान की गई है। बिना किसी कर्मकांडीय अनुष्ठान के इन तीनों उपायों को फलीभूत कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

4.4.7 जैन धर्म का प्रसार तथा योगदान

जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रयोजन से महावीर ने अनुयायियों का एक संघ बनाया। इस संघ में स्त्री-पुरुष को समान अधिकार और स्थान प्रदान किया गया। कुछ विद्वानों के अनुसार इन अनुयायियों की संख्या 14,000 अनुमानित की गई है। ब्राह्मणों से स्पष्ट पृथकना न होने के कारण जैन धर्म को फैलने में परेशानियाँ हुईं, परंतु इसका प्रसार दक्षिण और पश्चिम भारत के क्षेत्रों में हुआ। क्योंकि इन क्षेत्रों में ब्राह्मणीय धारणाएं अपेक्षाकृत कमजोर थीं। दक्षिण भारत में जैन धर्म के फैलने का एक और कारण अकाल रहा है। महावीर के निर्वाण के लगभग 200 वर्षों के पश्चात मगध में अकाल पड़ा। यह अकाल लगभग 12 वर्षों तक रहा। इस कारण बहुत से जैन प्रवास कर दक्षिण भारत की ओर चल दिए। प्रवासी जैनों ने दक्षिण क्षेत्रों में उपदेश दिए और जैन धर्म को प्रसारित किया।

अकाल के पश्चात जब प्रवासी जैन मगध वापस लौटे, तो स्थानीय जैनों से उनका मतभेद हुआ तथा उन्हें पृथक रखने का प्रयास किया गया। प्रवासी जैनों का मत था कि वे अकाल के दौरान भी जैन धर्म के मूल्यों और मान्यताओं का पालन करते रहे, जबकि मगध के स्थानीय जैनों ने इसकी अवहेलना की। इस मतभेद को दूर करने तथा जैन धर्म के मूल उपदेशों को अंकलित करने के प्रयोजन से पाटलीपुत्र, जो कि वर्तमान समय में पटना के नाम से जाना जाता है, में एक परिषद का नियोजन किया। प्रवासी जैनों द्वारा इस परिषद का भी बहिष्कार किया गया और इसके द्वारा निर्धारित किए गए निर्णयों को अस्वीकार कर दिया गया। यह भी एक कारण है कि जैन धर्म दो संप्रदायों में विभाजित हो गया। प्रवासी जैन, जो दक्षिण से आए थे, दिगंबर संप्रदाय से संबंधित हुए तथा मगध में रह गए जैन अनुयाई श्वेतांबर कहलाए।

कर्नाटक में ईसा कि तीसरी सदी के पूर्व जैन धर्म के होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं, हालांकि पाँचवीं सदी में कर्नाटक में अनेक जैन मठों की स्थापना हुई, इन्हें बसदि के नाम से जाना जाता था। इन मठों के भरण-पोषण आदि के लिए राजा ने भूमि दान में दी थी। कलिंग, जो वर्तमान में उड़ीसा के नाम से जाना जाता है, में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार ईसा पूर्व में चौथी सदी में माना जाता है। ईसा पूर्व दूसरी तथा पहली सदी में जैन धर्म का प्रसार तमिलनाडु के दक्षिणी भागों तक हो चुका था। बाद की सदियों में जैन धर्म का विकास गुजरात तथा राजस्थान के क्षेत्रों में हुआ।

यदि जैन धर्म के योगदान की बात करें, तो इस धर्म ने ही सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था तथा वैदिक कर्मकांडों को रोकने हेतु गंभीर कदम उठाए। शुरुआत में जैन धर्म के अनुयायियों ने संस्कृत भाषा का त्याग किया और धर्म के उपदेश हेतु स्थानीय भाषा को अंगीकृत किया। यही कारण है कि जैन धर्म में स्थानीय लोगों की पहुँच अधिक बन सकी। आम बोलचाल की भाषा को ही जैनों ने प्राकृत भाषा के रूप में स्थापित किया। उनकी धार्मिक पुस्तकें अधिकांशतः अर्धमागधी भाषा में लिखित हैं। जैनों ने मध्य काल के प्रारम्भ में संस्कृत भाषा का भी प्रयोग किया और अनेक जैन ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे। इसके

अलावा जैनों ने कन्नड भाषा के विकास में भी योगदान दिया तथा कन्नड में जैन धर्म के अनेक ग्रंथ लिखे गए।

बौद्ध अनुयायियों की तरह जैन भी पूर्व में मूर्तिपूजक नहीं थे, परंतु बाद में वे महावीर और अन्य तीर्थंकरों को पूजने लगे। इसी कारण उनकी विशाल प्रतिमाएं स्थापित की जाने लगीं। मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान और कर्नाटक में तीर्थंकरों की विशाल प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं।

4.4.9 सारांश

इस इकाई में बौद्ध तथा जैन धर्म से जुड़े अनेक संदर्भों और विवरणों के बारे में वर्णन प्रस्तुत किया गया। उनका संक्षिप्त इतिहास, उपदेशक और तत्कालीन समय की दशाओं को भी इस इकाई के मध्य से पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया गया है। बौद्ध तथा जैन धर्म के सिद्धांत और मान्यताओं के बारे में भी विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा ए विवरण उनकी सामाजिक व्यवस्था के बारे में समझ विकसित कर सकने में लाभकारी सिद्ध होंगे। इसके अलावा उनके द्वारा किए गए समाज सुधार तथा योगदानों को भी इस इकाई में वर्णित किया गया है।

4.4.10 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: बौद्ध धर्म के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिए तथा यह भी बताइए कि भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के क्या कारण थे।

बोध प्रश्न 2: बौद्ध धर्म के सिद्धांतों तथा योगदानों को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 3: जैन धर्म का परिचय दीजिए। इसके प्रसार की यात्रा को बतलाइए।

बोध प्रश्न 4: जैन धर्म के प्रमुख उपदेश क्या हैं। भारतीय समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।

4.4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची एवं कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. स्पैरो, एम.ई. (1982). *बुद्धिज़्म एंड सोसाइएटी: ए ग्रेट ट्रेडीशन एंड इट्स बर्मेस विकिसित्युड्स.* यूएसए: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस.
2. अंबेडकर, बी.आर. (2016). (द्वितीय संपा.). *द बुद्ध एंड हीज धर्मा.* दिल्ली: सम्यक प्रकाशन.
3. जॉन्सन, आर. (2017). *बुद्धिज़्म फॉर बिगनर्स: आल यू नीड टू स्टार्ट योअर जर्नी.* क्रिएट स्पेस इंडिपेंडेंट पब्लिशिंग.
4. शाह, एन.जे. एवं न्यायविजयजी, एम. (1998). *जैन फिलोसोफी एंड रिलीजन.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
5. डुंडस, पी. (2002). (द्वितीय संपा.) *द जैन्स: द लाइब्रेरी ऑफ रिलीजियस बिलिफ़्स एंड प्रेक्टिसेज.* लंदन: रूटलेज.
6. शाह, बी.एस. (2002). (द्वितीय संपा.) एन *ईन्ट्रोडक्शन टू जैनिज़्म.* यूएसए: सेतुबंध पब्लिकेशन्स.

7. ग्लासेनेप, एच.वी. एवं श्रोत्री, एस.बी. (1999). *जैनिज़्म: एन इंडियन रिलीजन ऑफ साल्वेशन*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.

8. लॉन्ग, जे.डी. (2009). *जैनिज़्म: एन ईन्ट्रोडक्शन*. लंदन: आई.बी. टौरिश पब्लिशर्स.

9. पनिकर, ए. (2017). *जैनिज़्म: हिस्ट्री, सोसाइटी, फिलोसोफी एंड प्रैक्टिस*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.

नोट – इस कृति का कोई भी अंश विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति लिए बिना पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। संयोगवश यदि इसमें कोई भी कमी या त्रुटि रह गई हो तो इसके लिए संपादक, संयोजक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। अवगत कराए जाने पर सुधार करने का प्रयास किया जाएगा।